ISSN 0975-5217
अंक 11
वर्ष 2015

भैरवी

संगीत शोध पत्रिका

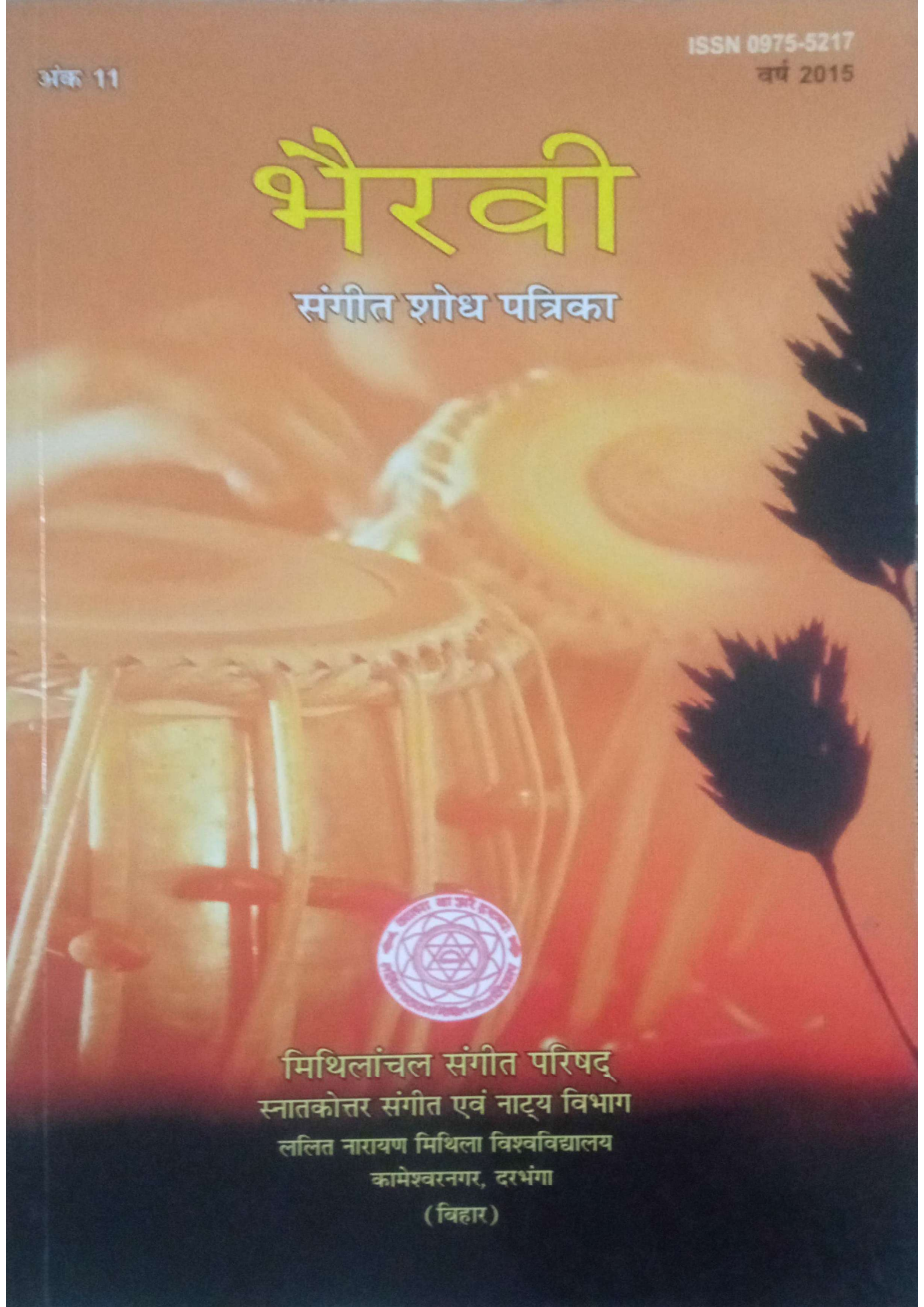

मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय
कामेश्वरनगर, दरभंगा
(बिहार)

भैरवी

(संगीत शोध-पत्रिका)

(वर्ष 2015 अंक 11)

मिथिलांचल संगीत परिषद्

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004

भैरवी (संगीत शोध-पत्रिका)

वर्ष-2015, अंक : 11

प्रधान सम्पादक
डॉ. पुष्पम नारायण

प्रकाशक : मिथिलांचल संगीत परिषद्
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846 004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

मूल्य
इस अंक का मूल्य : 200/- रुपये

व्यक्तियों के लिए :

वार्षिक : 400/- रुपये / त्रैवार्षिक 1200/- रुपये

पंचवार्षिक 2000/- रुपये / आजीवन : 10000/- रुपये

संस्थाओं के लिए :

वार्षिक : 450/- रुपये / त्रैवार्षिक 1400/- रुपये

पंचवार्षिक 2300/- रुपये / आजीवन : 12000/- रुपये

(केवल मनी आर्डर / चेक / बैक ड्राफ्ट से)
(दरभंगा से बाहर के चेक में 40 रुपये अधिक जोड़ें)

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित सामग्री के उपयोग हेतु लेखक, प्रकाशक की अनुमति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं के विचार से सम्पादक व प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं।
समस्त विवाद दरभंगा न्यायालय के अन्तर्गत विचारणीय।

प्रधान सम्पादक

डॉ. पुष्पम नारायण

एसोसिएट प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

सम्पादक मंडल

प्रो. चमनलाल वर्मा

अवकाश प्राप्त विभागाध्यक्ष, संगीत विभाग, हिमाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, शिमला

प्रो. साहित्य कुमार नाहर

पूर्व विभागाध्यक्ष, संगीत एवं मंचकला विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ. रवि कुमार पंडोले

प्रवक्ता, संगीत विभाग, राजकीय एम.एल.बी.जी. पी.जी. कॉलेज, भोपाल

डॉ. रामशंकर

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 संतोष दत्तात्रयराव परचुरे

प्रवक्ता, संगीत विभाग, एस.पी.एच. महिला महाविद्यालय, मालेगांव कैम्प, महाराष्ट्र

डॉ. अश्विनी कुमार सिंह

प्रवक्ता, संगीत एवं मंचकला विभाग, एम.एस. विश्वविद्यालय, बड़ौदा, गुजरात

डॉ. लावण्य कीर्ति सिंह 'काव्या'

एसोसिएट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

डॉ. वेद प्रकाश

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

शिवनारायण महतो

स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल.ना.मि.वि.वि., दरभंगा

जपात्कोटि गुणं ध्यानं ध्यानात् कोटि गुणं लय।
लयात्कोटि गुणं गानं गानात् परतरं नाहि।।

(जप से करोड़ों गुणा प्रभावी ध्यान है, ध्यान से करोड़ गुणा लयात्मकता प्रभावशाली है। लय प्रधान जप से करोड़ गुणा प्रभाव गान का है और साधना के लिए गान अर्थात् संगीत से उत्तम उपाय अन्य कोई नहीं।)

'Music is the bridge of peace and love'

'संगीत दो देशों के बीच शान्ति और प्रेम का सेतु हैं।'

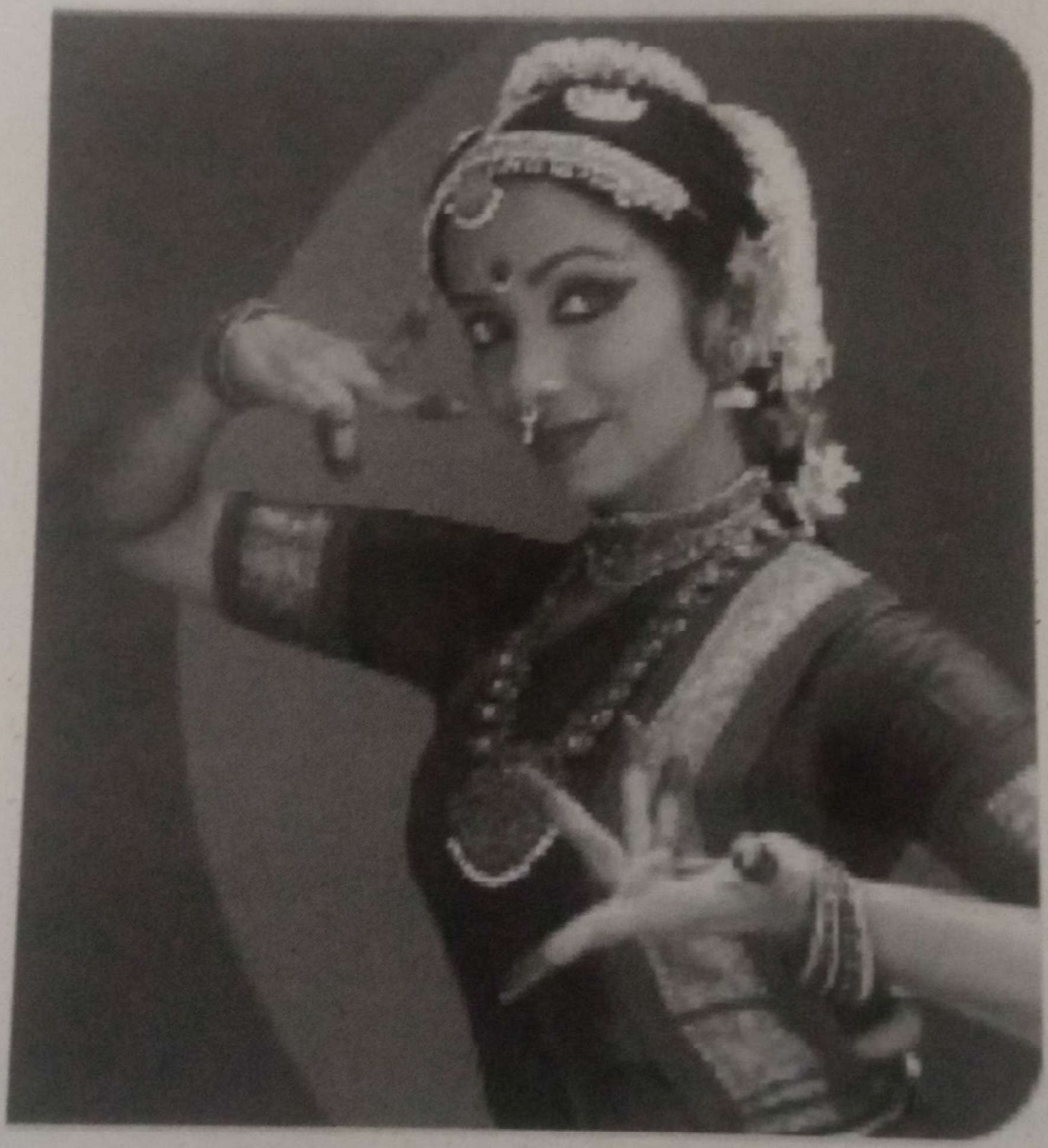

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा – 846004 (बिहार)

प्रो० सैयद मुमताजुद्दीन
प्रति–कुलपति

दूर०+फैक्स : 06272 - 222186 (O)
मो० : 9835443413
ई–मेल : mumtazuddin@rediffmail.com

पत्रांक ..... दिनांक .....

शुभकामना–संदेश

यह जानकर अतिशय हर्ष हो रहा है कि विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग अन्तर्गत गठित मिथिलांचल संगीत परिषद् के द्वारा "**भैरवी**" संगीत शोध पत्रिका अंक–11 का प्रकाशन होने जा रहा है। आशा है यह प्रकाशन शिक्षक, छात्र–छात्राओं एवं संगीत के प्रति रूचि रखने वालों के लिए प्रेरणादायी सिद्ध होगा। इस महत्वपूर्ण पत्रिका के प्रकाशन योजना की सफलता के लिए शतश: शुभकामनाएँ।

(प्रो० सैयद मुमताजुद्दीन)

ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय

कामेश्वरनगर, दरभंगा – 846004 (बिहार)

दिनांकः - 31.10.15

सेवा में

डॉ0 पुष्पम नारायण
विभागाध्यक्ष,
विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग,
ल0ना0मि0वि0वि, दरभंगा

महोदया,

शुभकामना संदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्यविभाग के द्वारा 'भैरवी' नामक संगीत-शोध-पत्रिका के प्रकाशन की कड़ी में पत्रिका का ग्यारहवाँ अंक प्रकाशित होने जा रहा है। मेरे लिए यह अत्यंत आह्लादक विषय होगा कि विभाग द्वारा पत्रिका-प्रकाशन के इस क्रम को स्थायी रूप से कायम रखा जाए। मुझे पूर्ण विश्वास है कि संगीत एवं नाट्य के छात्रों के लिए प्रकाशित अंक अधिक उपादेय सिद्ध होगा। मैं शोध-पत्रिका के सफल प्रकाशन की कामना करता हूँ।

पत्रिका के दीर्घायु होने हेतु अशेष शुभकामना के साथ।

भवदीय

(के0पी0 सिन्हा)
अध्यक्ष
छात्र कल्याण

संपादक की कलम से ...

भारतीय शास्त्रीय संगीत वैश्विकता के मौलिक सिद्धान्त दिव्यता की ओर संकेत करता है। भारतीय राग संगीत आज पूरे विश्व में जाना, समझा, सराहा और अनुभव किया जा रहा है। भारतीय राग वैश्विक भाव अभिव्यक्ति करता है।

In Indian Music, the raga is to take the listeners and the performers to a heightened state of mind beyond the world of senses. That is the universal state experienced by everyone through all kinds of music. Music per se may not be a universal language, but the consequences and effects of its are universally felt.

भारतीय संगीत की छाप अन्य देशों पर पड़ना भारतीय शास्त्रीय संगीत के अविचल निर्मल, निश्छल तत्व को प्रमाणित करता है। पाश्चात्य संगीतकार वायलिन-वादक यहूदी मैनूहिन ने सन् 1958 ई0 में यूरेस्को द्वारा पैरिस में आयोजित अन्तर्राष्ट्रीय संगीत समिति के तत्वाधान में पूर्व और पश्चिमी संगीत पद्धति पर सम्मेलन को 'संगीत की दुनिया और इसकी विभिन्न संस्कृतियां' विषय पर सम्बोधित करते हुए कहा था- आज के समय की मांग है कि हम एक दूसरे को अन्दर तक जानें, ताकि वैश्विक सच्चाई तक पहुंच सकें। संगीत किसी भी देश का क्यों न हो, एक ही सत्य पर आधारित है, उसे समझने की आवश्यकता है। हम उसी तरह के तत्व से जुड़े हुए हैं जिस तरह एक ही वृक्ष पर लगे हुए अनेक पत्ते। पत्तों पर एक अपना जीवन होता है लेकिन वो सभी वृक्ष से एक जैसा संबंध रखते हैं। वह आगे कहते हैं- परमात्मा के साथ आत्मा का संबंध स्थापित करने के लिए भारतीय दर्शन का यह तत्व कि सभी मनुष्यों और धर्मों के प्रति सहनशीलता होनी चाहिए, विभिन्न प्रकार के लोगों को उस दिव्य शक्ति को पाने के लिए अलग-अलग रास्ते बताए गए हैं। एक आधिभौतिक सत्य यह है कि हम उस एक सम्पूर्ण तत्व के हिस्से हैं। इस तत्व ने भारतीय कलाकारों को वैश्विक (Cosmic) दृष्टि दी है कि हम सम्पूर्णता का ही एक हिस्सा हैं।

भारतीय शास्त्रीय संगीत का विधान भारतीय संस्कृति के इस मूल से अभिप्रेरित है। विश्व-सभ्यता को भारतीय विचारधारा एक अमूल्य देन है। मानव की विविधताओं के बीच यह एक अवचेतन मन की चेतना है कि विश्व एक है। पं0 जवाहर लाल नेहरू के अनुसार -Despite all the apparent antipathies and political convulsions which seem to pull the world further apart, there is a sense of deep currents running and swelling towards unification and wholeness, carving new channels of profound cultural significance into the rigid structures of arts, social orders, economics and even into the divisive and blinkered theologies of institutionalised religions.

धर्म, संस्कृति, सभ्यता, कलाएं व्यक्ति को व्यष्टि से समष्टि का बोध कराती हैं। यह बोध पहले परिवारिक सीमाएँ, सामाजिक सीमाएँ, राज्यस्तरीय सीमाएँ, भौगोलिक सीमाएँ और फिर सांस्कृतिक सीमाओं से परे जाकर कला की संरचना करते हैं। यह संरचना ईश्वरीय संचरना के तुल्य होकर व्यक्ति

को समग्र सत्ता का बोध कराती हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत, साधना की सभी चेष्टाओं का अनुभव और एहसास विश्व स्तर पर हरेक प्राणी को करवाता है। शास्त्रीय संगीत के श्रोता उस अमरतत्व का अनुभव करते हैं, जो किसी और सांस्कृतिक संगीत में नहीं हैं। शास्त्रीय संगीत में अपनी विशिष्ट संस्कृति का ही बोध है।

आज पूरा विश्व छोटा हो रहा है। व्यक्ति की पहुंच सिर्फ उस समाज में नहीं, जिसमें वह रहता है, उस समाज में भी है जिसके बारे में वह सिर्फ जानता है, वह है वैज्ञानिक साधनों के माध्यम से। भारत में आधुनिकता से अर्थ पाश्चात्य संस्कृति के ओढ़न से भी लिया जाता है। जैसे भारत में भाषा, साहित्य, कला, धर्म, नैतिकता पर पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव। भारतीय सिनेमा में संगीत, नृत्य का प्रभाव। आधुनिक काल में आधुनिक कला पाश्चात्य आयात (Import) भी है। परन्तु इसी दृष्टि से दूसरी तरफ देखें तो मालूम होता है - आज विश्व के अनेक देश विज्ञान और तकनीकी साधनों की उपलब्धि से इतना एक दूसरे के करीब हैं कि निकट भविष्य में सम्भवतः किसी राष्ट्र की व्यक्तिगत संस्कृति, संगीत और कला को समझना असंभव हो जाए। आधुनिक युग में विज्ञान ने व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र में आधुनिक बना दिया है। राष्ट्र की पारम्परिक पूंजी भविष्य में बनी रहे, इस क्षेत्र में भारतीय संगीत की भूमिका अत्यंत महत्व की है। साथ-ही-साथ अन्य देश, जो कि हमारे शास्त्रीय संगीत से परिचित हैं, संस्कृति से भी अवगत हों, तभी वह उसके गहन रूप को समझ सकते हैं। संस्कृति का सम्मिलन आधुनिक युग की आवश्यकता बना गया है। जीवन के बारे में सम्पूर्णता को देखते हुए भौतिकता और आधुनिकता में कोई जबरदस्त विरोध नहीं है, दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। एक के बिना दूसरा अधूरा है। इन अर्थों में भौतिकताँवादी देशों में भारत के अध्यात्मवाद का भारतीय संगीत के माध्यम से जो प्रचार हो रहा है, वह विश्व के लिए शुभ है।

.Rudyard Kiplings rhyme:

East is East and West is West,
and never the twain will meet.

यह पक्तियां परम्परा के द्योतक समाज की महत्ता को बताती हैं। संगीत इसे बनाए रखने में सहायक है।

अपने संपादकीय विचार के उपरांत 'भैरवी' संगीत शोध पत्रिका के लिए कहना चाहूँगी की इसका ग्यारहवां अंक अब आपके हाथ में है। साधन और सीमाओं का सम्यक् उपयोग करते हुए मैंने शुद्धाशुद्धि एवं सजाने-संवारने की भरसक कोशिश की है, बावजूद इसके अगर कुछ त्रुटियां रह गयी हो तो मेरे क्षमा-याचना के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रह जाता। सुधीजन समाज 'क्षीर-ग्राही' होते हैं, अस्तु 'नीर' को मेरा प्रयास समझ कर भूल जाऐंगे।

—डॉ. पुष्पम नारायण
संपादक
स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग
ललित नारायण मिथिला विश्वविद्यालय,
कामेश्वरनगर, दरभंगा 846004
दूरभाष - 06272 248340
मो. - 09430063265
ईमेल - npushpamji@gmail.com

अनुक्रम

संपादक की कलम से ... 9

1. युगान्तकारी परिवर्तक-बाबा उस्ताद अलाउद्दीन खाँ —डॉ0 जितेन्द्र शुक्ला 13
2. राग निर्माण की विभिन्न प्रक्रियाएँ —डॉ. जितेन्द्र कौर 17
3. प्रायोगिक संगीत शिक्षा में सैद्धान्तिक पक्ष —डा0(श्रीमती) जयश्री मिश्रा 22
4. कंठ ध्वनि एवं कंठ संगीत —डॉ. हरजस कौर 24
5. रियाजः- आदर्श सांगीतिक जीवन की धरोहर —डॉ. अनया थत्ते 28
6. संगीतः अध्यात्मिकशांति का स्रोत —डा. सोनदीप मोंगा 31
7. मानव जीवन और लोक संगीत —डॉ0 अनिता रानी 34
8. श्री गुरू ग्रंथ साहिब की रागात्मक संरचना : विश्व एकीकरण के संदर्भ में — कुलविंदर सिंह 36
9. भारतीय संगीत की शिक्षण-प्रणाली एवं उसके बदलते आयाम —डॉ0 प्रियंका 40
10. कंठ ध्वनि, कंठ संगीत एवं कंठ साधना : एक वैज्ञानिक प्रक्रिया —श्रया श्रीवास्तव 43
11. गुरू शिष्य परम्परा और संस्थागत शिक्षण : सांगीतिक शिक्षण का बदलता प्रतिबिम्ब —ज्योति सिंह 46
12. कंठ संगीत विषय में पाठ्यक्रम संशोधन की परिकल्पना —डॉ0 नम्रता मिश्रा 49
13. लोकसंगीत में जीवन का स्पंदन होता मुखरित —प्रमोद कुमार तिवारी 52
14. कंठ संगीत हेतु स्वराभ्यास के विविध सोपान —आशीष कुमार जायसवाल 56
15. कृष्ण भक्ति काव्य में संगीत तत्व —सीमा कुमारी 58
16. जीवन का सम्पूर्ण विज्ञान-अध्यात्म और संगीत —डॉ0 ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय 62
17. वृन्दगान एक उत्कृष्ट रचना —डॉ0 पुनीता वर्मा 67
18. रागदारी संगीतः- विभिन्न घरानों के सन्दर्भ में —दिशा भटनागर 71
19. ख्याल गायन में भक्ति-परक बंदिशों का महत्व —स्मृति शुक्ला 74
20. संगीत और साहित्य का पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध —एकता मेहता 77
21. उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत —पल्लवी मिश्रा 81
22. तुलसी के काव्य में संगीत —माधुरी पोद्दार 83
23. संगीत में स्वर साधना और उसके लाभ —दिव्या मिश्रा 86
24. संगीत में स्वर साधना —रूचि श्रीवास्तव 89
25. तबले के विभिन्न घरानो की मौलिक बंदिशो की रचनाओं द्वारा तुलना—पूजा विश्वकर्मा 91
26. गुरू शिष्य परंपरा एवं संस्थागत संगीत शिक्षा का महत्व —श्वेता कुमारी 94
27. संगीत के संदर्भ में शिक्षा एवं शिक्षक की भूमिका एवं महत्त्व —गरिमा गुप्ता 96
28. घराने का उद्गम विकास तथा संगीत की प्रगति एवं संरक्षण में घराने का योगदान —आकाँक्षा शर्मा 98

29. रागांग-राग —भूपेन्द्र कुमार 100
30. संगीत शिक्षा में गुरू-शिष्य परम्परा का महत्व —मनु प्रकाश मौर्य 103
31. संगीत और भाषा का अन्तः सम्बन्ध —शालिनी 106
32. गुरू-शिष्य परम्परा एवं संस्थागत शिक्षण पद्धति —डॉ0 सरिता नेगी 108
33. रागांग राग की अवधारणा —डॉ0 ज्योति विश्वकर्मा 110
34. गुरु शिष्य परम्परा एवं संस्थागत संगीत शिक्षण पद्धति —रितु सिंह 114
35. रागांग पद्धति का क्रियात्मक पक्ष —शिवानी 118
36. संगीत चिकित्सा —डॉ. श्रुति होड़ा 122
37. शास्त्रीय संगीत का उद्देश्य तथा उससे लक्ष्य प्राप्ति —डॉ0 आनन्द कृष्ण ज्योतिषी 125
38. राग गायन में बंदिश की भूमिका —डॉ0 पुष्पम नारायण 127
39. कथक नृत्य में ठुमरी का प्रयोग —अंजना झा 131
40. ख्याल गायनशैली एवं तबला संगति का समन्वयात्मक स्वरूप —नीतू कुमारी 136
41. हिन्दुस्तानीशास्त्रीय संगीत में निर्वाहित होने वाली विभिन्न गायन विधाओं के वर्तमान स्वरूप —सोनल कौशिक 140
42. आज के संदर्भ में सूरदास के भक्ति पद —रंजना झा 147
43. कवि कोकिल विद्यापति के व्यक्तित्व, कृत्तित्व और उनके विभिन्न रूप —मृत्युंजय कुमार मिश्र 149
44. शास्त्रीय संगीत में हारमोनियम वादनः एक समीक्षा —राजीव कुमार मल्लिक 152
45. समाज एवं संगीत में महिलाओं की स्थिति —शिवानी सोनकर 155
46. सामवेद- गांधर्ववेद —अमृता कर्मकार 159
47. मानव स्वास्थ्य पर संगीत चिकित्सा का प्रभाव —डॉ0 वीना शर्मा 161
48. मिथिला के पेशेवर जातियों द्वारा गाये जाने वाले लोकगीतों का संगीत शास्त्रीय अध्ययन —डा0 ममता रानी ठाकुर 165
49. वस्त्र विन्यास का संगीत में योगदान —श्रुति शाश्वत उपाध्याय 171
50. आहार्य अभिनय : भरतनाट्यम् नृत्य के विशेष संदर्भ में —अतनु कुमार भौमिक 173
51. Importance of Voice Culture in the Practice of Hindustani Vocal Music —Anuradha Raturi 177
52. The Music = The Best Medicine for Mental Peace —Dr. Ashwinikumar Singh 180
53. Ragang System and its Importance in Raga Classification —Desh Gaurav Singh 183
54. Riyaz -The ultimate way to Success Gaveesh 186
55. Linage of Harikesanallur Muthaiah Bhagavatar —Dr. Shanti Mahesh 188
56. Existence of Inverse Raga Scales of Hindustani Systems of Indian Music: —P.K.Mittal 193
57. Abyaasagana in Karnatik Music (An Overview) —Seethalakshmi Ravi 195
58. स्वराभ्यास - महत्त्व एवं चुनौतियां —संजय कुमार 198
59. प्रज्ञा चक्षु वैदिक कवि कुलगुरू 'दीर्घतमा' —डॉ0 श्रीमती गुड्डी पाल 201
60. The Impact of Folk Art on Religion —Dr Sneh Lata Badhwar 203

युगान्तकारी परिवर्तक-बाबा उस्ताद अलाउद्दीन खाँ

डॉ0 जितेन्द्र शुक्ला

विश्व प्रसिद्ध गुरू बाबा उस्ताद अलाउद्दीन खाँ को भारतीय शास्त्रीय संगीत का युगान्तकारी परिवर्तक कहा जा सकता है। आपका जन्म सन् 1881 ई0 में त्रिपुरा जिले के शिवपुर नामक ग्राम के एक किसान परिवार में हुआ। उस्ताद की जन्मतिथि के बारे में मतभेद है। अधिकांश लोग, विशेषतया उनके परिवार के सदस्य उनकी जन्मतिथि 8 अक्टूबर सन् 1862ई0 मानते हैं और इसी दृष्टि से सन् 1962ई0 में मैहर में उनकी शताब्दी मनाई गई। आप 5 भाई तथा 2 बहिने थे। आपके पिता स्वभाव से ही अत्यंत विनम्र, शांत, महान शिव भक्त तथा संगीत प्रेमी थे।

आपके पिता श्री साधु खाँ को संगीत से अत्यंत प्रेम था, अतः आपको बाल्य-काल से ही संगीत सुनने में विशेष रूचि थी। रबाब के प्रसिद्ध बादक काजिम अली खाँ उन दिनों त्रिपुरा दरबार में रबाब बजाया करते थे। इनके पिता काजिम अली का रबाब सुनने के लिए विशेष उत्सुक रहते थे और काजिम अली खाँ का रबाब सुनने के लिए उनके मकान के पीछे घण्टों तक प्रतीक्षा में बैठे रहते। इस प्रकार छुप-छुप कर इनके पिता जी रबाब सुना करते। एक दिन काजिम अली खां के एक नौकर ने उन्हें मकान के पीछे देख लिया और पकड़कर उस्ताद के पास ले गया। उस्ताद ने पूछा-"तुम कौन हो"? उन्होंने उत्तर दिया कि मेरा नाम साधु खाँ है, मैं शिवपुर का एक किसान हूँ। संगीत कला की विशेष जानकारी न होते हुए भी मुझे इससे प्रेम है। इसीलिए मैं अपने घर से जब तब यहां आकर आपकी कला का आनंद लेता रहता हूँ। आपकी बड़ी कृपा हो, यदि मुझे भी आप रबाब सीखा दे। इसके उत्तर में खां साहब ने हँसकर कहा यह बाजा अपने खानदान के लड़के के अलावा हम और किसी को नहीं सिखा सकते। इसलिए रबाब तो नहीं सिखा सकता, अगर तेरी इच्छा हो तो सितार सीख सकता है। यह सुनकर साधु खाँ सितार सीखने के लिए जाने लगे और कभी कभी अपनी खेती की सब्जी तथा कुछ चावल इत्यादि उस्ताद के लिए जाया करते।

उस समय अलाउद्दीन खाँ की उम्र लगभग तीन-चार वर्ष की थी। इनके पिता साधु खाँ घर पर आकर जब सितार का रियाज करते तो आप भी उनके साथ-साथ गुनगुनाया करते थे। इनके बड़े भाई घर पर नित्य प्रति तबले का अभ्यास किया करते थे, अतः बालक अलाउद्दीन खाँ ने तबले के कई ठेके कण्ठस्थ कर लिये। इस प्रकार अल्पायु में ही स्वर तथा लय इनके अंदर प्रविष्ट हो चुके थे।

जब आपकी आयु 8 वर्ष की थी, आपको कलकत्ता जाने की धुन सवार हुई और किसी प्रकार कलकत्ता पहुँच ही गए। कलकत्ता में आपको अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, यहाँ तक कि पेट की ज्वाला को शांत करने के लिए नीमतल्ला घाट स्ट्रीट स्थित सदावर्त में भिखारियों के साथ समय भोजन तथा गंगा के पवित्र जल पर जीवनयापन करना पड़ा। उन दिनों कलकत्ता में स्वामी विवेकानंद के भाई हाबूदत्त वाद्य संगीत में अत्यंत प्रसिद्ध थे। अंग्रेजी आर्केस्ट्रा के अनुसार हिन्दुस्तानी वाद्य वृन्द को संगठित करने के प्रयत्न उन दिनों चल रहे थे। आप उनसे मिले और वाद्य सीखने की अपनी इच्छा

अतिथि प्राध्यापक, संगीत विभाग, शासकीय कन्या महाविद्यालय सतना, मध्य प्रदेश

प्रकट की। हाबूदत्त ने इनकी परीक्षा लेने के लिए फिडल बजाई। तत्काल ही अलाउद्दीन खाँ ने उसकी सरगम बना दी। इस पर वे बहुत प्रसन्न हुए और फिडल सिखाना शुरू कर दिया। पास का पैसा समाप्त हो चुका था, अतः गिरीश चन्द्र घोष की सहायता से ये एक नाटक कम्पनी में गए और लोबो नाम के एक बैंड मास्टर के पास इंगलिश नोटेशन सीखते हुए एक अन्य मास्टर सेशहनाई भी सीखने लगे। दिन में दो-तीन गुरूओं के पास सीखना, दो-तीन घण्टे प्रत्येक साज का अभ्यास करना, फिर रात को नाटक कम्पनी में आरक्रेस्ट्रा के साथ बजाया, यह सब तीन वर्ष तक चालू रहा। इस समय आपको इतना अभ्यास हो गया था कि स्टाफ नोटेशन पढ़कर इंगलिश बैण्ड में अपने साज बजा लेते थे। इस समय आपकी आयु लगभग 15 वर्ष की थी।

कुछ दिनों बाद आप मुक्तागाछा नामक ग्राम में पहुँचे। वहाँ एक जमीदार के यहां उत्सव था। उसमें अनेक गायक वादकों के साथ एक खाँ साहब सरोद बजाने वाले भी आए थे। उन्होंने अपना सरोद मिला कर आलाप प्रारंभ किया, तो उसे सुनकर अलाउद्दीन खाँ अपनी सुध-बुध भूल गए। ऐसा उत्तम सरोद वादन इन्होंने अभी तक नहीं सुना था। ये इतने प्रभावित हुए कि जलसे के बीच में ही इन्होंने सरोद नवाज खाँ साहब के पैर पकड़ लिए और कहा कि जब तक आप मुझे अपना शागिर्द बनाकर सरोद सिखाना स्वीकार नहीं कर लेंगे, तब तक मैं पैर नहीं छोडूगा। गांव के जमींदार साहब अलाउद्दीन खाँ को पहले से ही जानते थे, अतः उनकी सिफारिश पर उक्त खाँ साहब ने इन्हें सरोद सिखाने का वचन दे दिया। सरोद बजाने वाले इन खाँ साहब का नाम अहमद अली था। ये रामपुर के रहने वाले थे। इनको सरोद का गुरू बनाकर अलाउद्दीन खाँ ने गंडा बंधवा लिया और सरोद के ही द्वारा संगीत शिक्षा प्राप्त करने का संकल्प कर लिया।

उस्ताद अहमद अली खाँ के साथ अलाउद्दीन खाँ कलकत्ते में ही रहकर उनकी सेवा सुश्रुषा करने लगे। इनकी सेवा से उस्ताद प्रसन्न तो रहते थे, लेकिन सिखाने के नाम पर कुछ नहीं था। कभी-कभी विशेष आग्रह पर कोई गत बता देते थे। उनका सरोद सुन-सुन कर ही इनका अभ्यास बढ़ने लगा।

एक दिन जब खाँ साहब बाहर गए तो पीछे अलाउद्दीन खाँ सरोद पर उनके "जोड़ के काम" की नकल करने बैठ गए, किन्तु उन्होंने आकर इन्हें पकड़ लिया और सख्ती से आज्ञा दी कि "जब तक मैं न बताऊँ, जोड़ का काम नहीं बजाना। केवल गत-तोड़े का अभ्यास किए जाओ। उस दिन से खाँ साहब का व्यवहार इनके प्रति अच्छा नहीं रहा। उनको ऐसा लगा कि इसने मेरा जोड़ का काम चुरा लिया है। फलतः इनकी शिक्षा बंद हो गई।

अलाउद्दीन खाँ फिर गुरू की खोज में निकल पड़े। उन दिनों रामपुर में उस्ताद वजीर खाँ संगीत के विशेष गुणी थे। रामपुर के नवाब साहब भी इनके शिष्य थे। ये चार पाँच माह तक रोजाना वजीर खाँ के घर के सामने इस आशा से घण्टों खड़े रहते कि कभी उस्ताद से भेंट हो जाए, लेकिन उनकी दृष्टि इन पर नहीं पहुँचती थी क्योंकि सिपाहियों का पहरा रहता था। ये अत्यंत निराश हो गए और दो रूपये की अफीम लाकर आत्महत्या करने की सोची। मस्जिद में शाम की नवाज पढ़ने गए तो इनका उदास चेहरा देखकर एक मौलवी साहब ने दुःख का कारण पूछा। तब इन्होंने अपनी व्यथा कह सुनाई और अफीम की पुड़िया भी उन्हें दिखा दी। मौलवी साहब ने कहा कि आत्महत्या महापाप है, मैं तुझे एक चिट्ठी लिखकर देता हूँ, उसे नवाब साहब को किसी तरह दे देना, वे तेरी संगीत शिक्षा का प्रबंध कर देंगे।

उन दिनों बंगाल में स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। अंग्रेजी अधिकारियों पर बम फेंके जाते थे। एक दिन नवाब साहब की मोटर आ रही थी, ये मोटर के सामने जा खड़े हुए मोटर रूक गई। पुलिस दौड़ी आई, इनको दो थप्पड़ लगाकर नवाब साहब के सामने पेश किया गया तो इन्होंने मौलवी साहब वाली चिट्ठी नवाब साहब की ओर पेश कि ओर फेंक दी। नवाब साहब ने चिट्ठी पढ़कर मुस्कुराते हुए पूछा- अफीम कहां है? इन्होंने अफीम की पुड़िया निकालकर उन्हें दिखा दी। नवाब साहब इनको अपने साथ मोटर में बिठाकर अपने यहां ले गए, वहां जाकर पूछा- "तुम कौन-कौन से साज

बजाना जानते हो? बजाकर दिखाओ। "अलाउद्दीन खाँ ने उनके सामने क्लैरोनट, कारनेट इसराज तथा शहनाई इत्यादि साज बजाकर दिखाए, तो नवाब साहब बहुत प्रसन्न हुए। अलाउद्दीन खाँ ने उनसे प्रार्थना की कि मुझे उस्ताद वजीर खाँ का शागिर्द बनवा दीजिए। उसी समय नवाब साहब ने अपनी मोटर भेजकर वजीर खाँ को बुलवाया और एक हजार रूपये तथा वस्त्र आदि देकर अलांउद्दीन खाँ के गंडा बंधवा दिया। उस्ताद वजीर खाँ के यहां रहकर और उनकी सेवा करते करते इन्हें ढ़ाई वर्ष व्यतीत हो गया, किन्तु उन्होंने भी इन्हें कुछ नहीं सिखाया।

इन्हीं दिनों रामपुर के नवाब साहब विलायत से शिक्षा प्राप्त कर लौटे थे। उन्होंने रामपुर में एक विशाल वाद्य वृंद तैयार कराया और उसमें बड़े-बड़े संगीतज्ञ रखे, जिनमें लखनऊ के रजा हुसैन नामक प्रसिद्ध ध्रुपदिये भी थे। इस वाद्य वृंद में एक दिन अलाउद्दीन खाँ को बेला बजाने का मौका मिल गया। इनकी बजायी हुई गतें सबको बहुत पसंद आई, जिससे वाद्य-वृन्द में काम करने वाले गुणी लोग बहुत प्रभावित हुए और इनको कुछ बताने भी लगे। बाद में उस्ताद वजीर खाँ जो इन्हें पहले कुछ नहीं सिखाते थे, इनकी ओर आकर्षित होने लगे। उन्होंने इन्हें संगीत शिक्षा देना शुरू कर दी। वजीर खाँ के पुत्रों के द्वारा भी इन्हें संगीत शिक्षा प्राप्त होने लगी। जब ये संगीत कला में अच्छी उन्नति कर चुके, तो एक दिन वजीर खाँ ने बड़े प्रेम से इनके कंधे पर हाथ रखकर कहा कि अलाउद्दीन। अब तेरी-तालीम पूरी हो गई है, तेरी इच्छा हो तो भ्रमण करके संगीत की महफिलों में भाग ले सकते हो।

अपनी विद्वता, प्रतिभा और अनुभव के द्वारा उन्होंने तंत्र वाद्यों की शैली को बहु आयामी विस्तार दिया। अलाउद्दीन खाँ साहब को संगीत की दुनिया में गौरवशाली स्थान प्राप्त था। वे बिरले कला साधक और अनूठे शिक्षक थे। तत्समय प्रचलित तंत्र वाद्यों यथा वीणा, रबाब, सुरसिंगार, सितार, सरोद आदि वाद्यों की अपनी शैलीगत विशेषताएँ थी, पर गायन-वादन के सभी अंगो, यानि आलाप, जोड़-आलाप, गत, ताने, झाला इत्यादि इन सभी पर नहीं बजाये जाते थे। दूसरी ओर रागदारी में उनके वादन-विस्तार के क्षेत्र भी सीमित थे। सौभाग्य से बाबा उस्ताद अलाउद्दीन खां साहब का तत्कालीन लगभग सभी वाद्यों पर प्रभुत्व था, अतः विभिन्न वाद्यों की ध्वनिगत एवं वादन की विशेषताओं का अध्ययन, मनन, संप्रेषण एवं परिशीलन कर उन्होंने ऐसी क्रमबद्ध एवं मौलिक व्यवस्था निर्मित की जिसका अनुकरण एवं अनुसरण करके उनके योग्यतम शिष्यों ने सितार और सरोद जैसे वाद्यों की सीमाओं का अपरिमित विस्तार कर उन्हें नयी ऊँचाईयां दी और विश्व भर में इन वाद्यों की लोकप्रियता के मार्ग प्रशस्त किए। संगीत बाबा के लिए पूजा, आराधना और भक्ति का माध्यम था। संगीत में उन्हें ईश्वर के दर्शन होते थे।

बाबा उस्ताद अलाउद्दीन खाँ साहब को संगीत का ज्ञान सहजता से प्राप्त नहीं हुआ था, बल्कि दर-दर की ठोकरें और बूंद-बूंद से सबक हासिल करते हुए उन्होंने अपने ज्ञान का खजाना समृद्ध किया था। अपने दीर्घ अनुभवों के आधार पर उन्होंने संगीत की शिक्षा देने के लिए एक विशिष्ट पद्धति बनाई थी। वे इस बात पर बल देते थे कि अनेक वाद्यों को साधने के बजाय एक ही वाद्य पर मेहनत की जानी चाहिए। बाबा राग प्रस्तुति में राग के मर्म तक पहुँचने की कला में निष्णात् थे। वे राग रहस्य के उस्ताद थे।

बाबा ने संगीत में जो सबक सीखा उसकी कीमत उन्हें चुकानी पड़ी थी, इसी कारण उनके शिष्य समुदाय को बाबा से संगीत का सबक सीखने के लिए कड़े अनुशासन का पालन करना पड़ता था। संगीत के लिए बाबा का दिल और दिमाग दोनों खुले हुए थे। उनका कहना था कि अच्छा सबक जहां से भी मिले, ले लो। अपने शिष्यों से भी उनकी यही अपेक्षा थी। वाद्य-वादन की तकनीक और सौंदर्य शास्त्र ही नहीं उसकी आत्मा को भी बाबा ने परिश्रम पूर्वक आत्मसात किया था। उनका हृदय इतना विशाल था कि अपने कष्ट पूर्वक अर्जित ज्ञान को बांटने में उन्हें कोई संकोच नहीं था, शर्ते बस यही थी कि उस ज्ञान को उतनी ही ईमानदारी, निष्ठा और परिश्रम के साथ ग्रहण किया जाए। बाबा को अपने शिष्यों की प्रतिभा की भी उत्तम परख थी। अतः जैसा शिष्य उसकी वैसी

ही तालीम हुआ करती थी। बाबा की विशिष्ट पद्धति का अनुसरण कर उस्ताद अली अँकबर खाँ, विदुषी अन्नपूर्णा देवी पंडित रविशंकर, निखिल बैनर्जी, पन्नालाल घोष एवं शरण रानी जैसे प्रतिभावान शिष्य इस मौलिक वादन शैली में पारंगत हुए।

अनवरत साधना, कठोर परिश्रम अपने लक्ष्य के प्रति संपूर्ण समर्पण, अनुसंधान की ललक, तथा सृजनात्मक क्षमता के द्वारा बाबा ने सरोद में अनेक परिवर्तन किए। उन्होंने अनेक नए रागों की रचना भी की जिनमें राग मांड-खमाज, भुवनेशरी, धवलश्री, दुर्गेश्वरी, गांधी, प्रभाकली, सदन मंजरी, इत्यादि उल्लेखनीय है। बाबा संगीत की शास्त्रीय परम्परा और उसमें धर्मिता के समान पक्षधर थे। उन्होंने पंडित उदयशंकर के डांस ट्रूप में शामिल होकर यूरोप का भ्रमण किया और पाश्चात्य संगीत भी सीखा। उन्होंने फिल्मों में संगीत निर्देशन भी किया। बाबा मानवीय संवेदनओं से भी परिपूर्ण थे। बीसवीं शताब्दी के दूसरे दशक में महामारी में हजारों लोग अकाल मृत्यु की भेंट चढ़ गए थे। उनके बच्चे अनाथ हो गए थे। ऐसे कई बेसहारा बच्चों को सहारा देने के लिए बाबा ने उन्हें अपने मैहर बैंण्ड में शामिल कर उनके लिए रोजी-रोटी का इंतजाम किया था। मैहर के महाराजा ने उनके निवास के लिए भवन बना कर दिया था। जिसका नाम बाबा ने मदीना भवन रखा था। इसी भवन के प्रांगण में बाबा व विदुषी अन्नपूर्णा देवी, पंडित रविशंकर, निखिल बनर्जी, पन्नालाल घोष एवं शरणरानी जैसे अनेक प्रतिभावान शिष्यों ने बाबा से संगीत की शिक्षा ग्रहण की और मैहर घराने का नाम सारी दुनिया में रोशन किया। बाबा को अनगिनत अलंकारों एवं पुरस्कारों से नवाजा गया।

वर्ष 1954 में उन्हें संगीत नाट्य अकादमी का पुरस्कार तथा वर्ष 1971 में भारत सरकार द्वारा पद्म विभूषण अलंकार से नवाजा गया। जीवन में धन, वैभव, यश सब प्राप्त होने के बावजूद बाबा निरामिमानी थे। उन्होंने स्वयं को कभी दूसरों से बड़ा नहीं समझा। संगीत ही उनके जीवन का अंतिम लक्ष्य था और उसकी सेवा में वे आजीवन लगे रहे। संगीत की अखण्ड सेवा करते हुए दिनांक 6 सितम्बर 1972 को मैहर जिला सतना, मध्यप्रदेश में बाबा जन्नतशील हुए।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. डॉ0 जी0पी0मिश्रा- बाबा के शिष्य एवं सेवानिवृत प्राचार्य शास्त्रीय संगीत महाविद्यालय, मैहर के व्यक्तिगत साक्षात्कार के आधार पर प्राप्त विचार।
2. श्री विनोद सोनी- बाबा के शिष्य एवं सेवानिवृत शिक्षक बी0टी0आई सतना के व्यक्तिगत साक्षात्कार के आधार पर प्राप्त विचार।
3. श्री रमेश द्विवेदी- बाबा के शिष्य एवं सेवानिवृत सहकारी बैंक सतना के व्यक्तिगत साक्षात्कार के आधार पर प्राप्त विचार।
4. श्री विजय शर्मा- बाबा के शिष्य एवं मैहर वाद्य वृंद के कलाकार के व्यक्तिगत साक्षात्कार के आधार पर प्राप्त विचार।
5. श्री अशोक बड़ौलिया- बाबा के शिष्य एवं मैहर वाद्य वृंद के कलाकार से व्यक्तिगत साक्षात्कार के आधार पर प्राप्त विचार।

राग निर्माण की विभिन्न प्रक्रियाएँ

डॉ. जितेन्द्र कौर

संसार अथवा दृश्य जगत परिवर्तनशील है। इस परिवर्तन के मूल में विकास प्रक्रिया स्थित है। विकास अथवा पूर्णत्व की ओर होने वाली प्रगति को हम प्रायः विकास की संज्ञा भी देते है। हमारे भारतीय संगीत के सन्दर्भ में भी यह बात विचारणीय है कि साम गायन से जन्म ग्रहण करने वाली हमारी संगीत विद्या को वर्तमान स्थिति में तत्कालीन संगीत का विकृत रूप कहा जाए या विकसित रूप। इन सहस्त्रों वर्षों की अवधि में हमारा साम संगीत साम गायन, जाति गायन, राग गायन, ध्रुपद गायन, ख्याल गायन आदि आयामों से गुजरता हुआ अपनी विकास अवस्था में है या विकृत अवस्था में। इस विषय पर विद्वान् एक मत नहीं हैं। यानि सामवेदीय संगीत की दशा क्योंकर घटित हुई क्यों नहीं उसके पवित्र स्वरूप की रक्षा की गयी इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि लोक रूचि परिवर्तनशील है। मानव की नवीनता की खोज की प्रवृति चिर काल से चली आ रही है। जहां कहीं भी उसने थोड़ी सी नवीनता देखी और उस नवीनता में उसकी रागात्मक वृत्ति को स्मरण करने का अवसर मिला उसने उसे ग्रहण करने में देर नहीं की। अतः परिवर्तन शीलता से ही नवीनता का निर्माण होता है। प्रकारो की ओर देखने से परिवर्तन शीलता और नवीनता के आपसी सम्बन्ध के बारे में हमें विश्वास हो जाएगा।

हमारा वर्तमान संगीत राग गायन संगीत है। ध्रुपद हो या ख्याल हो अथवा उपशास्त्रीय संगीत ही क्यों ना हो सभी रागों पर आधारित है। राग हमारे संगीत की आत्मा है, प्राण है। राग में ही हमारे भारतीय संगीत के दीपक के समान गौरव के उच्चतम शिखर का दर्शन होता है, क्योंकि राग में असीम अनंत विकास का क्षेत्र निहित है, जो अपने मूल रूप में अपरिवर्तित होने पर भी नित्य नवनवायमान है। राग का ही प्रस्तार, श्रृंगार सजावट हमारे संगीत का प्रधान उद्देश्य है। चाहे वो विशुद्ध आलाप के रूप में हो या निबद्ध गीत प्रकारों के द्वारा हो। राग की सुन्दरता की अभिव्यक्ति ही भारतीय संगीत का प्रधान तत्व है। भारतीय दर्शन, साहित्य और संगीत में राग का एक विशिष्ट स्थान है। इस लिए हमारे लिए यह जानना अति आवश्यक है कि राग का यह स्वरूप कब अस्तित्व में आया या राग कब से प्रचार में है।

सर्वप्रथम आदि काल से सामसंगीत के अन्तर्गत साम गायन होता था। स्वर लय में गाए जाने वाले मंत्रों को साम गायन कहते हैं। उसके बाद जाति गायन प्रचार में आया। भरत ने इस जातिगायन के दस लक्षण बताए जो इस प्रकार हैं। ग्रह, अंश, न्यास, तार, मन्द्र, अपन्यास, संन्यास, विन्यास, बहुत्व, अल्पत्व। मतंग ने इसी जाति गायन को राग की संज्ञा दी। अतः हम कह सकते है कि राग की जननी जाति है। शास्त्रीय दृष्टि से थोड़ा सा भी अध्ययन करने से यह स्पष्ट रूप से समझ में आ जाएगा कि राग जाति का ही विकसित रूप है और जाति के ही मूल तत्वों पर आज भी टिका हुआ है। इसलिए भरतोक्त जाति लक्षणों को ही राग के लक्षणों में स्थान मिला। जो इस प्रकार हैं, थाट, जाति, वादी, सम्वादी, वर्जित, आरोह अवरोह, पकड़, अविर्भाव तिरोभाव, पूर्वांग उत्तरांग, न्यास स्वर।

एसोसिएट प्रोफेसर, गायन विभाग खालसा कॉलेज फॉर वूमेन, अमृतसर

नारदीय शिक्षा में रागों के स्वरूप का आरम्भिक उल्लेख है किन्तु राग की परिभाषा सर्वप्रथम मतंग के ग्रन्थ व वृहद्देशी में मिलती है और किसी भी वस्तु की परिभाषा तब बनती है जब वह पूरी तरह प्रचार में आ जाए अथवा अपना एक विशिष्ट रूप निर्धारित कर ले। अतः यह स्पष्ट है कि मतंग के समय राग अपनी विकसित अवस्था में था और मान्यता प्राप्त कर चुका था। मतंग ने राग की परिभाषा इस प्रकार दी है-योडय ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः।

रंजको जन चित्तानाम स रागः 'कथितो बुधैः।।

अर्थातः- ध्वनि की उस विशिष्ट रचना को जिसमें स्वर तथा वर्णो के कारण सौन्दर्य हो जो मनुष्य के चित्त का रंजन करे अर्थात जो श्रोताओं के मन को प्रसन्न करे बुद्धिमान लोग राग कहते है। राग के दस नियम निर्धारित किए गए हैं-

1. राग किसी थाट से उत्पन्न होना चाहिए।
2. उसमें स्वर तथा वर्ण हो।
3. ध्वनि की एक विशेष रचना हो।
4. रंजकता यानि सुन्दरता हो।
5. राग में कम से कम पांच स्वर अवश्य होने चाहिए।
6. राग में एक ही स्वर के दोनो रूप पास-पास लेने का शास्त्रकारों ने निषेध किया है।
7. राग में आरोह अवरोह का होना आवश्यक है क्योंकि इनके बिना राग का रूप पहचाना नहीं जा सकता।
8. किसी भी राग में षड़ज स्वर वर्जित नहीं होता।
9. मध्यम और पंचम ये दो स्वर एक साथ तथा एक ही समय कभी वर्जित नहीं होते।
10. राग में वादी सम्वादी अवश्य रहते हैं इन्ही स्वरों पर जोर रहता है।

अतएव राग की देह और आत्मा को सुरक्षित रखने के लिए इन नियमों का परिपालन आवश्यक है।

प्राचीन ग्रन्थकारों में राग के तीन भेद माने है। शुद्ध, छायालग, संकीर्ण। जिस राग में अन्य किसी राग के स्वर लगने पर भी उसकी छाया न पड़ने पाए उसे शुद्ध राग कहते है। दो रागों के मेल से अथवा किसी एक राग में अन्य किसी राग के स्वर आ जाने से दूसरे राग की जो छाया दिखाई दे जाती है ऐसे राग को छायालग राग कहते है। जिस राग में दो रागों से अधिक रागों का मिश्रण या मिलावट हो उसे संकीर्ण राग कहते हैं।

चूंकि मेरा विषय है राग निर्माण की विभिन्न प्रक्रियाएं। तो इसके अन्तर्गत यह जान लेना आवश्यक है कि प्रत्येक राग किसी न किसी मेल से ही उत्पन्न होता है या हर राग का वर्गीकरण किसी न किसी मेल के ही अन्तर्गत किया जाता है। मेल के लिए विद्वानों का कहना है कि जिसमें राग उत्पन्न करने की शक्ति हो या जिसके अन्तर्गत राग वर्गीकरण किया जाए उसे थाट या मेल कहते हैं। किसी भी मेल के स्वरों से राग तब तक उत्पन्न नहीं हो सकता जब तक उनमें परस्पर सम्वाद न हो अर्थात् उसके उत्तरांग पूर्वांग के स्वरों में परस्पर स्वर संवाद होना चाहिए इसी संवादित्व के आधार पर हमारे प्राचीन छः राग कायम हुए।

बिलावल, सा रे ग म प ध नि सां, सां नि ध प म ग रेसा

सिन्धुरा (काफी) सा रे ग म प ध नि सां

भैरवी सा रे ग म प ध नि सां

सम्पूर्ण कल्याण सा रे ग म प ध नि सां

खमाज सा ग म प ध नि सां सांनि ध प म ग रेसा

शुद्ध आसावरी सा रे मप धसां सां नि ध प म ग रेसा।

जिसे आजकल जौनपुरी कहते है।

इनमें सबके स्वरों में परस्पर सम्वाद है। इन रागों की उत्पत्ति मूर्च्छनाओं से हुई। धीरे-धीरे ग्राम मूर्च्छनाओं का लोप हो गया और उसका स्थान मेल पद्धति ने ले लिया। आज जिस मेल पद्धति का जोर है उसके दस थाटों के प्रचार का श्रेय पं. भातखण्डे जी को जाता है। भातखण्डे जी ने सभी रागों का वर्गीकरण इन्हीं दस थाटो के अन्तर्गत किया। इनके सभी थाटों के स्वरों में परस्पर सम्वाद है।

प्रमुख रूप से मेल पद्धति कर्नाटक संगीत का आधार है। इसके प्रवर्त्तक व्यंकटमखी थे जिन्होंने संस्कृत में चतुर्दण्डि प्रकाशिका नामक ग्रन्थ लिखा और इसी ग्रन्थ के आधार पर दक्षिण हैदराबाद के अप्पातुल शास्त्री जी ने एक ग्रन्थ लिखा। इसके अलावा उन्होंने दो अन्य ग्रन्थ लिखे।

जिन्हें उनके देहान्त के पश्चात पं. भातखण्डे जी ने प्रकाशित करवाया।

व्यंकटमुखी के 72 में से 32 मेल ऐसे हैं जो भारतीय संगीत के लिए उपयुक्त हैं। जिनके आधार पर नए-नए रागों का निर्माण हुआ है।

एक ही मेल से अनेक राग निर्माण हो सकते हैं। राग निर्माण स्वर सम्वादित्व के आधार पर होते हैं जैसे-सा का म या प से, रे का धा और प से, ग का ध और नि से म का नि और सा से। किन्हीं भी दो स्वरों का सम्वाद तब होगा जब उन दोनों स्वरों की आपसी दूरी नौ या तेरह श्रुति हो। अतः मैं आपका ध्यान अपने विषय की ओर ले जाती हुई यह बताने की कोशिश करूंगी कि राग निर्माण के तत्व क्या हैं या किन प्रक्रियाओं द्वारा राग निर्माण होते हैं। या राग के निर्माण में किन प्रक्रियाओं का योगदान रहा है।

1. वर्ज्यावर्ज्य की प्रक्रिया द्वारा

किसी भी मेल के एक या दो स्वरों को वर्जित करने की प्रक्रिया द्वारा राग बनते हैं। जैसे यमन मेल में से रे प को वर्जित करने से हमें राग हिन्डोल और म तीव्र, नि वर्जित करने से राग भूपाली की स्वरावली प्राप्त होती है। स्वरावली राग निर्माण का तत्व है। इसी स्वरावली के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार से लगाव ठहराव द्वारा राग निर्माण होते है। जैसे

हिन्डोल राग

सा, ग मे ध नि ध, सां, सां नि ध, मेग मे गसा
सा, ग, मे ध नि ध म ग, सा ध ग वादी सम्वादी, दिन का प्रथम प्रहर जाति औड़व औड़व।

अगर इन्हीं स्वरों में नि अधिक प्रयोग करे तो राग सोहनी बन जाएगा।

भूपाली

ग, रे, सा ध, सा रे ग, प ग, ध प ग, रे सा ध सा रे ग, ग, ध, वादी सम्वादी, रात्री का प्रथम प्रहर, औडव औड़व।

इसी प्रकार एक ही में से एक स्वर वर्जित करके षाडव षाडव जाति के राग भी बनते है जैसे-

बहार

सा, ग, म, प ग म नि ध नि सां, सां नि प
म प, गम रे सा, म प, ग म, नि ध नि सां।

काफी मेल में, सा वादी सम्वादी, मध्य रात्री। आरोह में रे अवरोह मे ध वर्जित इसी प्रकार एक मेल के स्वरो को वक्र रूप से प्रयोग करने से वक्र सम्पूर्ण जाति के राग बनते हैं। जैसे -

छायानट

सा, रे ग म प, नि धसां, सां नि ध प मप ध प
ग म रे सा, प रे ऽ ऽ रे ग ऽ ऽ ग म ऽ ऽ म प ग
म रे सा रे सा।

थाट कल्याण, दोनों मध्यम, रात्री का प्रथम प्रहर, प रे वादी सम्वादी।

गौड़ सारंग

सा, ग रे, म ग, प मे ध प नि ध सां,
सा ध नि प, ध मे प, ग रे म ग प रेसा।
सा, ग रे म ग प रेसा।

ग, ध वादी सम्वादी दोनों मध्यम, दिन का दूसरा प्रहर।

2. शुद्ध और विकृत स्वरों के मिश्रण और परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा

किसी भी राग के किसी एक या दो स्वरो को विकृत करके अर्थात् कोमल या तीव्र करने की क्रिया द्वारा भी राग निर्माण हो सकते है जैसे-

भीम पलासी

नि सा, ग म प, नि ध प, म प, ग म ग रे सा

औड़व सम्पूर्ण, ग, नि कोमल, प, सा वादी सम्वादी, थाट काफी।

अगर इसी के निषाद को शुद्ध कर दें तो राग पटदीप की स्वरावली मिलती है जो इस प्रकार है।

पटदीप

ग़ म प नि सां ध म प म प ग़ म ग़ रेसा। सा ग़ रेसा।

थाट काफी, ग कोमल, औड़व सम्पूर्ण, प और सा वादी सम्वादी, सांयकाल

इसी प्रकार मालकौंस के निषाद को शुद्ध करने से चन्द्रकौस की स्वरावली मिलती है जो इस प्रकार है।

चन्द्रकौस

सा ग़ म ध़ नि सां नि ध़ म ग़ म ग़ सा।

सा नि ध़ नि़ सा ग़ म ग़ सा।

3. रागांग के प्रयोग की प्रक्रिया द्वारा

किसी भी मेल या राग के स्वरों को किसी अन्य रागांग से गाया जाए तो वह दूसरा राग बन जाता है। जैसे भैरवी के स्वरों को अगर तोडी अंग से गाया जाए तो बिलासखानी तोडी बन जाएगा। जो इस प्रकार है।

बिलासखानी तोडी

सा रे ग़ रे़ सा रे़ ग़ प ध़ म ग र ग़ ऱ नि़ सा।

4. रागों के मिश्रण की प्रक्रिया द्वारा

दो रागो के मिश्रण से बन जाने वाले नए राग को जोड राग यह संज्ञा हम दे सकते हैं और दो से अधिक रागो के मिश्रण से बन जाने वाले राग को मिश्र राग। बिलावल, कल्याण, भैरव, कान्हड़ा, बहार, तोड़ी मल्हार नट, सारंग केदार ये राग इस दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। अन्य रागों के साथ इनका मिश्रण करते समय रागों की प्रकृति, उठाव, समान रूप, सादृश्य अंग, पंचम और मध्यम का प्रभुत्व आदि इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

हमारे शास्त्रीय संगीत में समय-समय पर दो या दो से अधिक रागों का मिश्रण करके राग बनते रहे-जैसे

पूरिया कल्याण

नि ऱ ग मे प, मे ध प, मे ग रे सा, रे मे ग रे सा।

मियां मल्हार

कान्हड़ा और मल्हार के संयोग से यह राग बनता है

सा रे प, पग म रे सा, मप नि़ ध नि सां

नि़ प, मप, ग म रेसा, नि़ निसा।

5. वादी सम्वादी की परिवर्तन की प्रक्रिया द्वारा

किसी एक राग के वादी सम्वादी को बदलकर अगर प्रयोग किया जाए तो वह दूसरा राग बन जाता है? जैसे भूपाली देशकार

भूपाली

ग, रे, सा ध़ सा रे ग, प ग, ध प ग रे सा ध़ सा रे ग

देशकार

सा रे ग प ध सां सां ध प ग प ध

प ग रे सा, ग प, ध प ध ।

सा ध, प ग प ध प ग रेसा।

थाट बिलावल, औड़व-औड़व, ध, ग वादी सम्वादी, म नि वर्जित दिन का दूसरा प्रहर।

इस प्रकार इन क्रियाओं या प्रक्रियों द्वारा राग निर्मित हुए अथवा हो रहे हैं परन्तु कई राग तथा प्रमुख रागों के कई भेद तुलनात्मक दृष्टि से एक होने के कारण अपने आप समाप्त हो गए है तथा अधिक गुण सम्पन्न राग जीवित रह गए हैं। किसी भी राग का नाम तभी सार्थक होता हैं जब वह बहुत काल तक जीवित रहकर अपनी एक परम्परा कायम कर लेता है। किसी भी नवीन राग या दक्षिण भारत से उधार लिए राग को स्वल्प समय में राग पद की प्राप्ति हो सम्भव नहीं है।

सर्वप्रथम यह बात ध्यान रखने योग्य है कि नवीन राग का निर्माण करना आसान बात नही है।

इसके लिए वाग्गेयकार होना जरूरी है। संगीत के दोनों पक्षों का ज्ञान होना जरूरी यह सब अनुभव, प्रतिभा और ज्ञान से ही हो सकता है।

राग में प्रयुक्त सभी स्वरों का षड्ज मध्यम भाव से या षड्ज पंचम भाव से संवाद सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक है। परन्तु हमारे कुछ कलाकारों ने ऐसे भी रागों की रचना की है जिनके स्वरों में परस्पर सम्वाद ही नहीं है परन्तु जैसा कि राग की परिभाषा में कहा गया है स्वर वर्ण से सजी वह विशिष्ट रचना जो मानव मन का रंजन करे राग कहलाती है। उस आधार पर वह राग आज भी जीवित हैं जैसे - मारवा, बैरागी। यह संवादहीन राग है परन्तु कर्ण प्रिय होने के कारण आज भी प्रचलित है। रंजकता का सामान्य अर्थ यानी सुख का आनन्द देना तो धुन में भी रहता है। लोक गीत की धुन प्रिय न लगती हो ऐसी बात नहीं किन्तु भावमय रंग प्रदान करने की क्षमता उसमें नहीं होती और वही राग की विशेषता है। यह बहुत महत्वपूर्ण बात है जो बहुधा राग की रंजकता की चर्चा में ध्यान में नही लाई जाती इसी विशेषता के कारण भारतीय संगीत का 'राग' जगत् भर के संगीत में अद्वितीय और अनुपम है और रहेगा।

प्रायोगिक संगीत शिक्षा में सैद्धान्तिक पक्ष

डा0(श्रीमती) जयश्री मिश्रा

हमारे भारतीय शास्त्रीय संगीत का बहुत प्राचीन इतिहास है। हमारी सांस्कृतिक धरोहर के रूप में इसका महत्वपूर्ण स्थान है। यह हमारे देश की संस्कृति का अभिन्न अंग है। हमारा संगीत मानव जीवन के सर्वांगीण विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। संगीत की उद्गम स्थली मन ही है, संगीत हमारे जीवन के मूल्य एवं महत्व का विशिष्ट निर्माण और सिंचन करता है।

सिद्धान्त से तात्पर्य है शास्त्रीय संगीत में हम उसके सिद्धान्त या नियम का पालन किये बिना राग -गायन नहीं कर सकतें। शास्त्रीय संगीत में दस थाट है उनके अन्तर्गत रागों का निर्माण होता है। थाट में विभिन्न प्रकार के विशेष लक्ष्य प्रयुक्त होते है जैसे - विशिष्ट आरोह -अवरोह ,राग की जाति ,वादी -संवादी, अलपत्व -बहुत्व आदि राग के दस लक्षण लागू होंगे , तभी थाट विभिन्न रागों के स्वरूप उसमें रागदारी, स्वरों का चलन इत्यादि निर्धारित होता है। भरत ने चतुःशाखा में ग्रामों को बताया है। भरत नाट्यशास्त्र में 22 श्रुतियों की सिद्धि की गयी है जिसमें 12 स्वरों में विभिन्न श्रुतियों का प्रयोग करके रागों के स्वरों को कितना ऊँचा या कितना नीचा लगाना है यह निश्चित होता है। हमारे शास्त्रीय राग का संवादात्मक 13,9,7 एवं 6 श्रुतियों का है। जब हम तानपूरा मिलाते है तब उसमें स्वयंभू गान्धार की उत्पत्ति स्वयं होती है यह सैद्धान्तिक पक्ष है। हारमोनियम में गान्धार एवं धैवत प्रायः एक श्रुति चढ़ा हुआ रहंता है। भारतीय संगीत स्वयं में एक विज्ञान है जिसके आधार पर ग्राम श्रुति एवं स्वर है जिसके अनुसार हमारा गायन वादन संचालित होता है। प्राचीन ग्रंथ भरत नाटयशास्त्र एवं संगीत रत्नाकर प्रमुख आधार है। हमारे स्वर प्राकृत रूप से उत्पन्न हैं। प्राचीन काल में त्रेता युग में भी संगीत का उत्कर्ष स्वरूप था। महर्षि वाल्मीकि ने लव-कुश को रामायण स्वर बद्ध करके सिखायी। भगवान श्री कृष्ण ने स्वयं बासुरी वादन कर संगीत का महत्व स्थापित किया है।

राग गायन में उनके नियमों को बताना आवश्यक है जब हमें किसी विद्यार्थी को राग सिखाना है या मंच प्रदर्शन करना है तो उस राग के सिद्धान्त के बिना वास्तविक प्रस्तुतिकरण नहीं कर सकते है। अलग-अलग राग गाने के लिए उनके अलग अलग नियमों या सिद्धान्तों का पालन करना पड़ेगा। सर्वप्रथम राग के स्वर, फिर उनमें कौन स्वर कोमल है कौन शुद्ध है किस जाति का राग है यह निश्चित करना होगा, अलग -अलग रागों के गायन समय निश्चित है, रागों का समय प्रातः कालीन ,दोपहर ,सायंकालीन एवं रात्रिकालीन है अतः उनके विभिन्न समय निश्चित किये गये है। विलम्बित ख्याल , छोटा ख्याल , ध्रुपद ,धमार , ठुमरी इन सभी गायन शैलियों में कौन सा ताल राग एवं लय उसकी प्रस्तुति किस प्रकार होगी उन नियमों का पालन किये बिना हम सही ढंग से गा या बजा नहीं सकते है।

अनेक एक समान स्वर बाले राग है, पर उनका स्वरूप अलग -अलग है। प्रत्येक राग का अपना एक नियम है जिसका पालन किये बिना हम गा नहीं सकते है। उदाहरण के लिए पूरिया, मारवा एवं सोहनी रागों के स्वर एक समान हैं। तीनों की जाति

प्रवक्ता, संगीत विभाग, बरेली कॉलेज, बरेली

पाइव है रे ध कोमल एवं म तीव्र हैं परन्तु स्वरों के लगाव से तीनो रागों का अलग स्वरूप प्राप्त होता है। पूरिया में ग एवं नि स्वर , मारवा में रे ध एवं सोहनी में तार सप्तक में ज्यादा चलन है प्रत्येक राग की रागवाची क्रिया या स्वरावली भिन्न है जब हम किसी राग को गाते या बजाते सुनते है तो हमें उस राग की जो रागवाची क्रिया होती है उससे पता चलता है यह फलांना राग है। इसी प्रकार सभी रागों के अलग-अलग रस एवं भाव होते है जिनमें प्रत्येक राग का अपना अलग-अलग व्यक्तिव एवं प्रकृति निर्धारित होती है। जैसे -राग भूपाली , देशकार एवं शुद्ध कल्याण इन रागों के एक समान स्वर होने के बाद भी सबका अपना अलग -अलग स्वरूप है तथा अलग-अलग प्रकृति रस एवं भाव है। राग तोड़ी में रे ग ध कोमल एवं म तीव्र है पर श्रुति अन्तर से तोड़ी का स्वरूप प्राप्त होता है। इसी प्रकार बिलास खानी तोड़ी के स्वर इस प्रकार है।

सा रे ग प ध सां रें नि ध मे ग रे ग रे सा रे ग म

-ग रे ग रे या रे नि सा रे ग रे ग रे सा ।

इस राग में भैरवी, भूपाल तोड़ी कोमल ऋषभ आसावरी के स्वरों से इस राग का निर्माण हुआ है। इनमें हमें कौन स्वर कहा कैसे लगाना है यह सब रागों के नियमों के अनुसार करना पड़ता है। राग की विशेष रागवाची क्रिया होती है। जिससे उस राग की पहचान होती है। हमारे भारतीय संगीत रागों पर आधारित विशेष समृद्ध संगीत है वैसा विश्व में कोई भी संगीत नहीं है राग गायन प्रायोगिक पक्ष है जिसे हम गुरू के द्वारा बताये बिना नहीं सीख सकते हैं। जब तक विशिष्ट गुरू हमें राग के स्वरूप और उसके स्वर, लय, ताल, बन्दिश को सुचारू रूप से नहीं बतायेगा तब तक हम शास्त्रीय ढंग से गा बजा नहीं सकते हैं। अतः यह कहना उचित होगा कि प्रायोगिक पक्ष एवं सैद्धान्तिक पक्ष दोनों ही साथ-साथ चलते हैं इसलिए तो हम कहते है कि यह शास्त्रीय (अर्थात सैद्धान्तिक) संगीत है।

कंठ ध्वनि एवं कंठ संगीत

डॉ. हरजस कौर

संगीत कला ईश्वर प्रदत्र प्रतिभा है लेकिन मनुष्य में परिमित है। संगीत कंठ गायन और वादित ध्वनियों के संगम से आनंदाभास करवाता है, जो मानव जीवन का अभिन्न अंग है। आनंद का माध्यम जितना सूक्ष्म होगा आनंद उतना अधिक और उच्च स्तरीय होगा। कंठ ध्वनियां भी संगीत कला का सूक्ष्म आनंद माध्यम है, जो तन और मन की कड़ी साधना से अपना स्वरूप आवाज के तौर पर निर्मित करती हैं। इसमें मानव कंठ से विभिन्न विधियों के द्वारा मनोएच्छित आवाज उत्पन्न की जाती है जो कंठ साधना भाव अभ्यास से संगीत कौशल में परिवर्त्तित हो जाती है।

मानव शरीर में ध्वनि उत्पति स्थान को स्वर यंत्र का नाम दिया गया है जो मस्तिष्क, कान, ध्वनियंत्र, कर्णयंत्र और फेफड़ों की सहायता से कार्यशील होता है। यह प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में भाग की तरह मौजूद तो रहते है लेकिन वाणी की गुणवत्ता इसे विशिष्ट गुण के रूप में अभिव्यक्ति करती है। यह साधारण रूप में तो केवल बोल-चाल तक ही सीमित रहती है लेकिन इन्हीं स्वरों को साधना के द्वारा प्रभावशाली बना कर संगीत गुण में विकसित किया जा सकता है। इसलिए व्यक्ति विशेष में यह प्राकृतिक गुण के रूप में पाया जाता है लेकिन स्वर साधना के द्वारा इसे अर्जित भी किया जा सकता है।

प्राकृतिक गुण के तौर पर कंठ स्थान को एक कोमल यंत्र से ध्वनि और प्रतिध्वनि पैदा करने वाला स्थान माना जाता है। कंठ के स्नायुओं द्वारा ध्वनि का निर्माण होता है। ध्वनि के लिए हमारी श्वासनलिका, फेफड़े तथा गले की खोखली सहायक होती है। अतः इन सबका कार्य सुचारू ढंग से चले इसके लिए शरीर के इन भागों का स्वस्थ होना आवश्यक है ताकि वह कंठ की आवाज पर नियंत्रण बना सकें जिससे कार्टिलेज श्वाँस नली ऊपर के भाग में स्थित होते हैं जो ऊँची आवाज़ के अनुसार सिकुड़ते और फैलते हैं। अमूमन यह विशेषता प्राकृतिक गुण की वजह से होती है। प्राकृतिक विशेषता के अनुसार यह फिर उच्च, मध्यम और धीमी में पाई जाती है जो कभी कभी व्यक्ति के स्वभाव पर भी आधरित होती हैं कि किसी का कंठ सुरीला है और किसी का कठोर बनता हैं। जैसे औरतों और पुरूषों की आवाज में अन्तर होता है। परन्तु संगीतकारों की दृष्टि में स्वर साधना के द्वारा सुरीले कंठ को और मधुर और आनंददायक बनाया जा सकता है स्वर साधना अर्जित की जा सकती है इसलिए उन्होंने कंठ स्थान को 'सरस्वती'[1] का स्थान दिया। जिसके लिए कंठ ध्वनि को आदरमय ढंग से आदेशनुसार साधना चाहिए। गायन समय कंठ, गर्दन, मुंह तथा होठों के स्नायु भी स्वतन्त्र रख छोड़ने चाहिए। अच्छी आवाज के लिए गले को सुयोग्य आकार साधकर कंठ स्थान से आवाज निकालनी चाहिए। यह सभी लगन और मेहनत के बल पर ही साधा जा सकता है। प्रत्येक अच्छे गायक का यही मानना है कि संगीत सीखने के लिए कंठ ध्वनि को साधना पड़ता है। एक ही राग को बार बार गाओ ताकि उसका स्वरोच्चार, सदाचार शुद्ध हो जाये और आवाज सही स्थान पर बैठ जाये तब अगले रागों का अभ्यास आसान हो जाता है।

एसोसिएट प्रोफेसर गायन विभाग गवर्नमेंट कॉलेज, रोपड़

कंठ साधना के समय मंद्र सप्तक के स्वरों का बार-बार उच्चारण किया जाता है। मध्य सप्तक के षड़ज स्वर पर कम से कम 10 बार आवाज लगाई जाती है। इस तरह मंद्र सप्तक के स्वरों पर आरोहावरोह रूप में आवाज पूर्ण श्वास से लगाई जाती है यहां गाने वाला स्वयं नियंत्रण करता है कि जहां कहीं बेसुरापन है उसे ठीक करना, जहां आवाज कांपती हो उसे ठीक करना और उच्चारण पद्धति पर ध्यानपूर्वक काम करना। सप्तक कंठ साधना में अलंकारों का अभ्यास भी आ जाता हे। कंठ साधना का एक ऐसा अभ्यास है जो पूर्ण श्वास पर निर्भर है। पूर्ण श्वास में गा कर ही आवाज की हरकत को सही स्थान पर लाया जा सकता है। कंठ संगीत में छह प्रकार की साधना की जाती है जिसमें वजन, माधुर्य, ध्वनि की गहराई, सुरीलापन और यहां तक कि स्वर मर्यादा और शिक्षक का मार्ग दर्शन भी आता है। जैसे इस संदर्भ में यह धारणा है कि गुरू की उपस्थिति में ऊँ शब्द के उच्चारण से कंठ सुरीला होता है जैसे

When you sing or hum, you use your voice as a musical instrument. Most people sing without any special training they sing with their natural voices and can bring out pleasant sounds without conscious efforts. Others may have good, resonant voices, but they are not able to use them so that they sound well. In either case training will probably improve the natural voices. The rich, beautiful voice may become more beautiful. The food voice may become better. A good voice teacher is important.[2]

ऐसा भी नहीं है कि किसी भी कंठ को साधा जा सकता है। प्राकृतिक तौर पर मिली आवाज़ कंठ साधना का आधार है। इसमें गुरू एवं शिक्षक की सक्रिय भूमिका महत्वपूर्ण है। वह अपने भव्य जादुमई ज्ञान से कंठ ध्वनि को स्वरदायक बना सकता है और बेसुरेपन को दूर कर सकता है। उसका अपना अनुभव इस कार्य में चमत्कार कर सकता है।

प्राचीन काल में कंठ संगीत प्राकृतिक गुण की वजह से खोजा गया। उस काल में धार्मिक मंत्र-उच्चारण के दौरान इसकी विधियां प्रयोग होती थी जो कि स्रोतागण को आनंद विभोर कर देती थी। वीणा मानकरण इसे स्पष्ट करते लिखते है, 'प्राचीन समय में स्वर साधना का विशेष नियम नहीं था, अपितु ऋग्वेद की ऋचाएँ और साम गायन के मंत्रों, लोकों का सही उच्चारण नियमित रूप से करना ही स्वर साधना थी। उस समय संगीत गायन संस्कृत काव्य में था। धीरे-धीरे जब ध्रुवपद, धमार शैलियां प्रचलित हुई तो इससे अच्छी आवाज बनी क्योंकि ये गायन आरम्भ में ही नारायण हरि और तुम ही अनन्त हरि आदि शब्दों का उच्चारण करते थे और यह शब्द ही आवाज का एक अभ्यास थे। आज इन शब्दों में नोम तोम आदि का रूप ग्रहण कर लिया है।[3] इसी काल में सामवेद ग्रन्थ जो सम्पूर्ण तौर पर संगीतमय रचना है उसमें अंकित मत्रों का गाने का प्रचलन तीन स्वरों उदात मंद्र, अनुदात्त तार और स्वरित के तौर पर हुआ। बाद में उदात मंद्र, अनुदात तार और स्वरित मध्य में इनका उच्चारण आरम्भ हुआ जो बाद में सामने आया। वैदिक संगीत में कंठित स्वरों के तौर पर वे सात स्वर प्रयोग किये जाते थे जैसे कृष्ण-मध्यम, प्रथमा-गांधर, द्वितीय-ऋषभ, तृतीया-षड़ज, चतुर्था-निषाद, मंद्र-धैवत, अतिस्वर-पंचम। वैदिक मंत्रों का सही और शुद्ध उच्चारण, नीचे-ऊपर ठहराव आदि को ध्यान में रखते हुए कई गायन शैलियां और लय के विभिन्न प्रकार उत्पन्न हुए। चन्द्र कान्ता खोसला के शब्दों में एक स्वर वाला 'आर्चिका', दो स्वरों वाली 'गीतिका' में परिवर्तित हुआ और बाद में तीन स्वरों पर आधरित 'सामिका' का सृजन हुआ। यह गति यहीं पर समाप्त नहीं हुई। चार स्वरों का स्वरान्तर पाँच स्वरों का 'औड़व' और छः स्वरों वाला षाड़व, इस तरह एक के बाद दूसरा नियम आता है। शिखर पर पहुंच कर सम्पूर्ण सात स्वरों का सप्तक संगीत को प्राप्त हुआ।[4] प्रो तारा सिंह के मत अनुसार मतंग कृत 'बृहदेशी' और 'नारदीय' शिक्षा के अध्ययन से

सिद्ध होता है कि वैदिक काल में चार प्रकार की गायन शैलियां ऋक, गाथा, सामगान, स्वरान्तर प्रचार में थे। ऋकः केवल एक ही स्वर में बंद उच्चारण की शैली को ऋक कहा जाता था। सामगान तीन स्वर समूह में जो लोक और मंत्र पढ़े जाते थे उस ढंग को 'सामगान' कहा जाता था। इन सब विभिन्न गायन शैलियों से गायकों के घरानों का जन्म हुआ जो मंत्र की अपनी-अपनी शैली में गाया करते थे। कन्तुव वंश जो की दृष्टि साम के पहले 50 सूक्त और आठवें मंण्डल का गायन करते थे। दूसरे मण्डल के गायन करने वाने ग्रतसमंद वंश के दृष्टि थे। तीसरा मण्डल विश्वामित्र, चौथा वामदेव और पांचवा अतृथ, छठा वृहस्पति और सातवां विशिष्ट वंश के घराने के गायको द्वारा गाया जाता था। नवें मण्डल को सारे ही घराने गाते थे।[5]

मध्यकालीन समय तक कंठ संगीत का यह वंश एवम घराना परम्परा राज दरबारों का श्रृगांर बनी जिससे कंठ संगीत में कई-नई गायन शैलियों का प्रयोग शुरू हुआ। जैसे कव्वाली, गजल, ख्याल, ठुमरी और समूह गान आदि।[6] कहा जाता है कि 'गोपाल और अमीर खुसरो दिल्ली दरबार में आया तो उस श्रेणी का गायन किया जिसे गीत कहते हैं। इस योग्य संगीतकार ने शक्तिशाली और मधुर कंठ की शैली के सौन्दर्य में बढ़ावा किया।[7] इस काल में कंठ संगीत विभिन्न धर्मों के अन्तर्गत प्रचार में आया।

घराना परम्परा में ख्याल गायकी ज्यादा प्रचलन में आई। पहले ग्वालियर घराने में प्रचलित हुई कंठ संगीत की यह पद्धति आकार में स्पष्ट आलाप की थी। उसके बाद इसे ख्याल गायकी के पटियाला, आगरा किराना, जयपुर घराने बने और इन सबने कंठ साधना के भिन्न-भिन्न ढंग अपनाये। ख्याल गीत संक्षिप्त होता है। इस गायकी में गायक की पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। अतः राग की गम्भीरता व शुद्धता में कमी आनी स्वाभाविक है। गीत गाने से पूर्व पहले थोड़ा सा आलाप किया जाता है। इसमें बराबर की तान, दुनी और चौगुनी ताने ली जाती है। इसके बाद में एक ख्याल लोक संगीत परम्परा कंठ संगीत में सामने आई जो ध्रुपद शैली से आगे का विकास है। कंठ संगीत की यह परम्पराएं मूल रूप में प्राकृतिक गुण विशेष के रूप में विकसित हुई। लेकिन वर्तमान युग में कंठ संगीत को प्रतिभा के तौर पर प्रतिपादित किया जाता है जो कि कला कौशल के साथ-साथ व्यवसायीकरण में सहायक होता है। कंठ संगीत शिक्षण पद्धति भी संस्थागत हो चुकी है। कंठ संगीत का परम्परागत दर्शन अब आधुनिक परिप्रेक्ष्य में पाठयक्रम विशेष बन कर रह गया है। डॉ0 गुरनाम सिंह भी इस बारे में ऐसा ही मत पेश करते है, 'वर्तमान काल में भी परम्परागत सिखलाई अधीन कंठ साधना पर विशेष ध्यान दिया जाता है। यूरोप में स्वर साधना महत्वपूर्ण और स्वतंत्र विषय है। यूरोप में कई ऐसे स्कूल हैं, जहां कंठ साधे जाते हैं। भारतीय परम्परा के अनुसार कंठ साधना विधि पूर्वक लागू होने वाला अनुशासन है।[8]

आरम्भ में प्राकृतिक गुण के रूप में ही बौधिकता के स्तर पर संगीत कला का रूप बना और सांगीतिक संभावना, उपयोगी बनी परन्तु अब कंठ संगीत की पृष्ठभूमि ही बदल गई। संगीत का आचरण उसका माधुर्य, उसका भाव, उसकी अनुभूति एवम् अभिव्यक्ति अब संस्थागत हो चुकी है।

संस्थागत प्रणाली में अधिक से अधिक विद्यार्थियों को कंठ संगीत की शिक्षा एक साथ दी जाती है। इस सम्बन्ध में सेमिनार, गोष्ठियां इत्यादि भी होती हैं। विज्ञान इस संदर्भ में खोज कार्य कर रहे हैं कि कैसे कंठ संगीत शिक्षण को और प्रतिभाशाली बनाया जाए। शिक्षण स्थलों पर शिष्य चुनाव की कसौटी भी द्रष्टव्य है ताकि प्रतिभा खोज में आसानी हो। इस प्रणाली में शिक्षक ने एक निश्चित पाठयक्रम के अन्तर्गत रियाज पक्ष को गौण कर दिया गया है। जिसमें प्रस्तुतीकरण पर जोर बढ़ गया है। यह पद्धति का प्रभाव व्याप्त तो हो गया है लेकिन यह खर्चीली और लम्बी पद्धति है। संगीतकारों का मानना है कि कंठ संगीत शिक्षण में गुरू-शिष्य परम्परागत पद्धति का प्रभाव पैना और गहरा है।

आज ग्लोबलाईजेशन के युग में साज और अन्य आवाजें इतनी प्रभावशाली हो गई है कि केवल कंठ संगीत की तरफ से लोगों का ध्यान हट सा गया है। इन्टरनेट और इलैक्ट्रोनिक मीडिया के दुष्प्रभाव पर सब इतने प्रभावित हैं कि संगीत अपना परम्परागत स्वरूप खो रहा है। कंठ साधना की कमी और विद्यार्थियों की अभिरूचि के कारण इसके शिक्षण और गुणवत्ता दोनों में कमी आई है। कहीं-कहीं लोक संगीत में यह परम्परागत स्वरूप के सहित बचा है। आज कंठ संगीत योग्यता की खोज दुर्लभ होती जा रही है। ऐसी दुर्गम परिस्थितियों में हमें कंठ संगीत के परम्परागत स्वरूप को कायम रखना पड़ेगा तभी कंठ ध्वनियों एवम कंठ संगीत को अनुपम कला के तौर पर कायम रखने का प्रयत्न सफल होगा।

सहायक स्रोतः-

1. पं0 दामोदर, Of knowledge, Grolier Incorported Danbury, Conn, 1980
2. मानकरण वीणा , संगीत सार, राज पब्लिशर्ज रजि0 जालन्धर, पृ0 89
3. खोसला चन्द्र कान्ता, भारतीय संगीत का इतिहास, पृ0 53
4. सिंह प्रो0 तारा, सुरजीत कौर, वादन कला, पृ0 233
5. सेन अरूण कुमार, भारतीय तालों का शास्त्रीय विवेचन मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1973 पृष्ठ 26
6. Capt. Willard, A Treasise on the Music of Hindustan, N-A Calcutta, 1834, Page 160
7. सिंह डॉ0 गुरनाम, संगीत निंबधावली, पब्लिकेशन ब्योरा, पंजाबी युनिवर्सिटी पटियाला, 1991, पृ0 16

रियाजः- आदर्श सांगीतिक जीवन की धरोहर

डॉ. अनया थत्ते

मनुष्य के लिए सुरीला आवाज यह एक नैसर्गिक वरदान है। हर कोई अपनी रूचि के अनुसार गाकर या गुनगुनाकर संगीत का आनंद लेता है। परंतु अपनी कला द्वारा दूसरों को आनंद देने के लिए उस आवाज को सांगीतिक तथा मधुर बनाने की आवश्यकता होती है। असांगीतिक आवाज को सांगीतिक बनाने के लिए तथा सांगीतिक आवाज का सौंदर्य बढाने के लिए शास्त्रोक्त पद्धति से किया गया रियाज उपयुक्त होता है। मनुष्य चाहे किसी भी प्रकार का संगीत सीखें, अगर उसकी आवाज को शास्त्रीय संगीत की तालीम हो, तो आवाज स्थिर होने में सहायकारी होता है। रियाज द्वारा स्वर, ताल, लय की तालीम पाने के उपरांत कोई भी संगीत प्रकार सीखना उसके लिए आसान बन जाता है।

एक कलाकार को उसकी प्रतिभा शक्ति जागृत रखने के लिए अपने मन और शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक होता है। अगर कलाकार शारीरिक अस्वास्थ्य का अनुभव कर रहा हो, अथवा उसका मन किसी तनावपूर्ण स्थिति में हो, तो उसका सीधा असर उसके महफिल के प्रस्तुतीकरण पर होता है। इसीलिए किसी भी विपरित परिस्थिति में खुद को शांत तथा संयमित रखने का सामर्थ्य विकसित करना उसके लिए आवश्यक बन जाता है। रियाज के माध्यम से यह संभव हो सकता है।

रियाज की प्रकिया में स्वर, लय, तथा ताल को अपने अधीन करना अपेक्षित है। स्वर की साधना में ऊँकार तथा अलंकारों का अभ्यास अत्यंत लाभदायक होता है। अंलकार साधना द्वारा रियाज हमारे भारतीय संगीत में परंपरा से चलता आ रहा है। ऊँकार की उपासना द्वारा शरीर तथा मन निरोगी रहता है। मन में एकाग्रता निर्माण होती है व्यक्ति का अंतर्मन कार्यान्वित होता है। इससे कलाकार में स्वरों के सूक्ष्म भेदों को अलग करने की क्षमता निर्माण होती है। ऊँकार आवाज को गूंज प्रदान करता है। इसके पूर्ण उच्चार द्वारा अंतः स्त्रावी ग्रंथियाँ, शरीर की सूक्ष्म पेशियाँ तथा अलग अलग संस्थाओं पर उसके स्वर कंपनों का सुयोग्य परिणाम होता है। स्मृति का संवर्धन तथा बौद्धिक विकास भी साध्य होता है।

केवल ऊँकार की साधना से रियाज पूर्ण नहीं होता है। गायन में दीर्घ तथा सहज श्वसन के लिए कलाकार को प्राणायाम करने की भी आवश्यकता है। प्राणायाम में श्वसन के अलग अलग प्रकारों द्वारा अभ्यासक अपनी श्वास नलिका को दोष रहित बनाने का प्रयास करता है। कला का प्रस्तुतीकरण बिना प्रयास तथा सहजता से होने के लिए रियाज के समय योग शास्त्र में बताऐ गए विविध आसनों का अभ्यास भी सहायकारी होगा। पद्मासन, स्वस्तिकासन, तथा समासन के अभ्यास से कलाकार को बैठक में आसानी होती है। तानपूरा हाथ में लेकर गानेवाले कलाकारों के लिए अर्धवज्रासन अधिक लाभदायी है, तथा तानक्रिया के उपरांत आवाज में निर्माण हुई खींच को मूलस्थिति में लाने

असिस्टेंट प्रोफेसर, संगीत विभाग, मुम्बई विश्वविद्यालय, मुम्बई

के लिए व्रजपद्मासन लाभदायी होता है। योग क्रिया से व्यक्ति की कार्यक्षमता भी बढती है।

संगीत के विद्यार्थियों तथा कलाकारों के लिए प्राथमिक रियाज, ओंकार साधना तथा खर्ज साधना के उपरांत उनके गुरूजनों की गायकी के अनुसार अलग अलग पद्धतियाँ बताई गयी है। प्रायः यह दिखाई देता है, की हर कलाकार अपनी गायकी के अनुसार आवश्यक रियाज की पद्धति का निर्धारण करता है। आवाज को दोष विरहित बनाना यही रियाज का प्रमुख उद्देश्य है। विकसित आवाज के लचीलापन, डिसप्तकी, दृढ़, पूर्ण, स्थिर, गूंजयुक्त, नैसर्गिक, खुला, फिरत प्रधान, जवारीदार आदि सभी लक्षण एक रियाजी आवाज में पाये जा सकते है। हमारे प्राचीन ग्रंथ नाट्यशास्त्र, संगीत रत्नाकर, नारदीय शिक्षा आदि में गायकों के गुण-दोषों की चर्चा की है, जिनको आज भी अभ्यास में लाया जाता है। एक अच्छे कलाकार को अपने रियाज द्वारा खुद को इन हर दोषों से दूर रखकर अच्छे गायक के लक्षणों को अपनाना चाहिये।

वर्णों का अभ्यास रियाज का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। हमारे शास्त्रकारों ने चार प्रकार के वर्ण बताए है। स्थायी, आरोही, अवरोही और संचारी। आज की भाषा में इन्हीं वर्णों को अलंकार या पलटे कहा जा सकता है। प्रथम षड्ज साधन, उसके उपरांत स्वरसाधन, वर्णाभ्यास तथा अंत में यही रियाज का क्रम होना चाहिये। रागाभ्यास में भी राग में नियुक्त स्वरों के लगाव पर ध्यान देना अधिक महत्त्वपूर्ण है। एक ही स्वर को अलग अलग रागों में अलग तरीके से लगाया जाता है। रियाज के समय रागानुसार उस स्वर के उच्चारण तथा लगाव पर ध्यान देकर रागवाचक संगतियों को दोहराना अपेक्षित है। राग प्रस्तुतीकरण के समय की गयी गलतियों को सुधारना यह भी रियाज का ही एक भाग है। राग के वर्ज्यावर्ज्य नियमों को ध्यान में रखकर छोटे छोटे स्वर समूहों को द्रुत लय में गाने से तान क्रिया में आसानी होती है। मींड, मुर्की, बहलावा आदि के अभ्यास से कलाकार में एक आत्म विश्वास निर्माण होता है। लय के अभ्यास में ताल के आवर्तन को बजते रखकर अलग अलग जगह से तथा वजन से मुखडा उठाने का अभ्यास भी सहायकारी होता है। बंदिश के प्रभावी प्रस्तुतीकरण के लिए रियाज के समय एक ही बंदिश का कई बार अध्ययन पूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

रियाज के समय अभ्यासक द्वारा केवल गाना ही आवश्यक नहीं है। अपने पूर्वमुद्रित प्रस्तुतीकरण को किसी दृक्श्राव्य माध्यम के आधार से बार बार देखकर तथा सुनकर उनकी त्रुटियों पर अभ्यास करना भी रियाज है। इससे अभ्यासक खुद को त्रायस्थ की दृष्टि से देखकर आत्मपरीक्षण कर सकता है।

शास्त्रीय संगीत से संबंधित प्रत्येक कार्यक्रम में तानपूरे की उपस्थिति अनिवार्य है। तानपूरे को अच्छी तरह से मिलाकर सुबह के शांतपूर्ण वातावरण में कुछ देर तक उसे छेडते हुए उससे निर्माण हुए सहायक नादों की अनुभूति करना भी रियाज है।

वैज्ञानिक प्रगति की देन मायक्रोफोन द्वारा संगीत जगत में एक क्रांति की लहर छा गयी। मायक्रोफोन के पहले आवाज की बुलंदी यह गायक का महत्त्वपूर्ण गुण समझा जाता था। रियाज के समय भी आवाज की बुलंदी बढाने के तरीके बताए जाते थे। परंतु मायक्रोफोन की खोज के उपरांत उस बुलंदी को भी संतुलित रखने के लिए रियाज की आवश्यकता होने लगी। महफिलों में तथा रेकॉडिंग में मायक्रोफोन अपरिहार्य बन गया। इसलिए विशेषज्ञों ने मायक्रोफोन पर गाने के तंत्र विकसित किए। इन तंत्रों को आत्मसात करनेके लिए उसी प्रकार का रियाज आवश्यक है, जिससे प्रस्तुतीकरण के समय मायक्रोफोन अधिकाधिक उपयोगी सिद्ध हो।

रियाज की संपूर्ण प्रक्रिया में गुरू महत्त्वपूर्ण भूमिका निभातें है। अपने शिष्य के नैसार्गिक आवाज को परखकर उसे रियाज द्वारा समृद्ध बनाने का काम करनेवाले गुरू एक जौहरी की तरह होते

है। संगीत साधना में गुरू को कई महत्त्वपूर्ण जिम्मेदारियाँ निभानी होती है।

- शिष्य की आवाज की जाति को पहचानना।
- उसकी आवाज के सौंदर्य बिंदुओं को पहचानकर उसे अधिक परिणाम कारक बनाने के लिए रियाज की उपयुक्त पद्धति बताना।
- अपने मार्गदर्शन द्वारा शिष्य को रियाज की संपूर्ण प्रकिया से अवगत कराना।
- शिष्य के कान की स्वर विभेदन शक्ति को जागृत करना।

इस प्रकार संगीत के अभ्यास में उत्तम गुरू का सान्निध्य तथा सामिप्य होना अत्यंत आवश्यक है।

कलाकार का मन सृजनशील होता है उस मन में नवनिर्मिति की प्रकिया निरंतर चलती रहती है। रियाज से कलाकार को अपनी मानसिक तथा शारीरिक उर्जा कायम रखने में मदद मिलती है। इसी उर्जा का उपयोग उसे अपने प्रस्तुतीकरण में करना होता है। अपनी अंतः प्रेरणा को निरंतर जागृत रखने के लिए अपने मन से निर्मित अमूर्त को मूर्त स्वरूप देने के लिए हर कलाकार की दिनचर्या का रियाज एक अपरिहार्य अंग है।

संगीतः आध्यात्मिकशांति का स्रोत

डॉ. सोनदीप मौंगा

मानव चेतना जिज्ञासा का अथाह सागर है जिसमें जीवन तरंगों का वेग अति अधिक है। इस वेग की शांति आध्यात्मिकता में निहित है। संगीत को इसका मूल स्रोत माना जाता है, यदि यह कहा जाए, कि संगीत की उत्पति ही आध्यात्मिक प्रकिया से होती है तो गलत नहीं होगा। बस इसे खोजना और अनुभव करना ही दुर्लभ है। आत्मा का आनन्दमय कोश संगीत से उजागर होता है और परमतत्व का साक्षात्कार सम्भव हो पाता है। इसका आधार निसंदेह अदम्य प्रेरणाओं के अभ्यंतर में छिपा है पर इसका विकास धर्म के कोड़ में होता है। भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में मानव जीवन का लक्ष्य आत्मलाभ है, और संगीत शांत मस्तिष्क के लिए अनुसंधान और परम मंगल का विधायक है। डॉ. शरच्चन्द्र परांजपे के अनुसार, 'संगीत का मधुर कलरव जब कर्ण कुहरों में पड़ता है, तब हृदय के अन्तस की चेतना प्रबुद्ध हो जाती है तथा अन्तस ऐसे अलौकिक आनन्द एवं दिव्यानुभूति का अनुभव करता है जो साधारण इन्द्रिजन्य से शतोगुण अधिक है।' [1] यह आनन्द श्रेष्ठतम होता है। नाद इसका स्वरूप है। नाद शब्द की व्युत्पति संस्कृत की नद् धातु से हुई है। जिसका अर्थ है नंदति इति नादः अर्थात् जो आवाज नंदन करे या मन को आनंद दे, वह नाद है। शंकर लाल मिश्रा नाद को परिभाषित करते हुए लिखते है, कि 'संसार में जितनी प्रकार की ध्वनियां उत्पन्न होती हैं उन्हें दो वर्गों में बांटा जा सकता है शोरगुल और नाद। जो ध्वनि सुनने में मधुर हो, जो कम समय तक स्थिर रहे और जिस ध्वनि की कंठ तथा किसी साज के साथ नकल की जा सके उसे नाद कहते हैं।[2]

संगीत कला में नाद को प्राण माना जाता है जिसकी अनुभूति रस है। आध्यात्मिकता के संदर्भ में इसे भक्ति रस से जोड़ा जाता है। जैसे ही भक्त भगवान का जाप करता है। वह अपना ध्यान संसार से हटा के अन्तःकरण में लगाता है। इस साधना-काल में उसे नाद की मधुर शक्ति परमात्मा के साथ इस प्रकार बाँध देती है कि वह स्वर्गिक आनंद का अनुभव करने लगता है। डॉ. श्रीमती महारानी शर्मा इस मनन प्रकिया में नाद को ही अमृत का स्रोत बयान कर रही हैं उनके अनुसार, 'आध्यात्मिक रूप से देखें तो एक भक्त संगीत की मधुर ध्वनियों के माध्यम से ही अपने हृदय को सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों को अपने भगवान को अर्पण करके तन्मयी स्थिति पर पहुँच जाता है और अपनी आत्मा को उस ईश्वर के साथ एकात्म करके ब्रह्मा के पूर्णानंद का अनुभव करने लगता है, फिर उसे संसार के दुःख-सुख का ज्ञान नहीं होता चूँकि संगीत-कला स्वतः विभिन्न नादों का संयोग-मात्र है। अतः संगीत से उत्पन्न आनंद ही ईश्वर का दूसरा सगुण रूप है। यही कारण है कि आदि काल से हमारे ऋषि-मुनियों ने नाद की उपासना ईश्वर रूप में की है और 'ओम् नाद ब्रह्मणे' इति मानकर नाद को ब्रह्म का रूप माना है। इसी नाद के ब्रह्मारूप अथवा प्रणव की साधना करते हुए वे 'आनंद-तत्व' में अपने को लीन कर लेते थे। अपनी सभी सुख-दुःख की भावनाओं से परे होकर पारबह्म परमात्मा के साथ

असिस्टेंट प्रोफेसर सरकारी कॉलेज, रोपड़

एकात्म हो जाते थे। अतएव जहाँ नाद है, वहीं अमृत का स्राव भी होता रहता है।[3]

आध्यात्मिक जगत में, साधना और प्रकिया से आगे संगीत का स्थान निश्चित किया गया है जो मूक और शून्य अवस्था में से निकली अभिव्यक्ति मानी जाती है। क्योंकि शांति से ही सभी कुछ प्रवाहित होता है। यही संगीत का भी मूल है या यूँ कहा जाए कि इसके मूल से ही संगीत है, जैसे शांति घोंसला हो और संगीत उसमें रहने वाला पंछी हो। जैसे पंछी सुबह को घोंसला छोड़ जाता है और शाम को वापिस आता है ऐसे ही भटकी हुई आत्मा फिर आध्यात्मिक संगीत के जरिए वापिस आत्मिक शांति में स्थापित होती है। यही आत्म विस्तार एकात्म है जिसकी विस्तार शक्ति संगीत तरंगे हैं, नाद है। नाद के दो रूप माने जाते हैं : एक अनाहत और दूसरा आहत नाद। अनाहत नाद का स्वरूप अव्यक्त है और उसकी अनुभूति एक पहुँचे हुए मननकर्ता के ही हृदय में होती है। आहत नाद वह है जो अव्यक्त नाद का व्यक्त रूप है।

इसलिए ही भारत में संगीत को मंदिरों में अधिक प्रयोग किया जाता रहा है। प्राचीन काल से ही जन-संगीत की धुनों को अध्यात्मिकता के लिये वैशिष्ट्य माना जाता था। ऋग्वेद की ऋचाओ को गाना देवता की प्रसन्नता कहा जाता था। सामवेद का गायन केवल गान कौशल तक ही सीमित न था, उदात्त भावनाएं उसकी पृष्ठ भूमि थी। योग शास्त्र के अनुसार भी नाद की उपासना ईश्वर की अराधना है। भारतीय देवालयों में पूजा-परिपाटी के अन्तर्गत गीत का प्रचलन प्राचीनकाल से आज तक ही प्रचलित है। वैष्णव, शैव, शाक्त आदि परम्पराओं ने संगीत को अति महत्वपूर्ण माना है। इसे धार्मिक उत्सवों का अभिन्न अंग बनाया। क्योंकि भारतीय दृष्टिकोण रहा है कि चंचल मनः प्रवृत्तियों का निराकरण कर मन की एकाग्रता से मानव मंगल किया जा सके । संगीत को भगवद्ध गुणों का गान मान कर जगत-कल्याण के लिए प्रयोग किया जाना चाहिए। बी, चेतन्य देव जी इसकी पुष्टि करते हुए लिखते हैं:

Vedic music which commenced as a recitation of three tones ended as a seven-toned chant. In the temples and maths (monasteries) music was and still is, a vital part of meditation and worship. Through these simple bhajan's, abhang-s and'keertan-s the most profound mystic truths and socially reformative ideas were conveyed to all the populace. Thus Indian life is filled with music at all strata and levels.' [4]

मंदिरों में गूंजने वाले इस संगीत को परमात्मा की भाषा भी कहा जाता है जिसे सीख कर ही आत्मा परमात्मा तक अपने भाव व्यक्त कर सकती है और इसी अभेदता की सूरत में नाद गूंजार संभव हो पाती है जैसे लिखा गया है :

If we can feel that
It is not our voice
Not our fingers
But some reality deep inside our heart
Which is expressing itself
Then we will'know that it is
The soul's music. [5]

इस तरह मनुष्य संगीत के संयोग से आध्यात्मिक शांति प्राप्त कर सकता है। लेकिन दुर्भाग्यवश आधुनिक समय में और वैज्ञानिक युग में इस तरह के प्रयोग लोप होते जा रहे हैं यही कारण है कि मनुष्य इतना व्यक्तिवादी और अशान्त है। कला भी जैसे आधुनिक महामानव से रूठती चली जा रही है। कोई अन्य व्यक्ति आपके लिए संगीत रच सकता है पर उसका अनुभव और आनन्द आप को खुद लेना सीखना पड़ेगा। कला का पैमाना भी इस बात पर निर्भर करता है, कि आप किस प्रकार की कला रच रहे हैं । संगीत के संदर्भ में भी कला का सही नियम काम करता है। अगर यह अंतःकरण की किसी सतह से हो कर निर्मित हुआ है तो ही यह मनन प्रकिया की गूंजार जैसा अनुभव दे सकता है। इसलिए संगीत को आध्यात्मिक ध्यान प्रकिया का प्रकार माना जाता रहा है जिसे मानव-भावों में संजो कर ऐसे रखा गया है :

O music of love
from you I learn
The secret of closeness
O music of will
from you I learn
The secret of Future creation
O music of silence
from you I learn
The secret of universal Oneness
O music of surrender
from you I learn
The secret of cosmic perfection [6]

निःसंदेह ही बदलते हुए सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में संगीत की नयी संभावनायें सामने आयी हैं। वैज्ञानिक उपकरणों, माईक्रोफोन रेकार्डिंग, वीडियो रिकार्डिंग आदि ने संगीत परम्पराओं को परिवर्तित करके रख दिया है परन्तु संगीत-आनन्द और मानव-साधना आज भी महत्वपूर्ण कड़ी से जुड़ी हुई है। जिसे सदी व काल तक अमर शक्ति परमात्मा कहा जाता है। संगीत के इन खोए हुए सुरों को जगाना आधुनिक युग में भी अनिवार्य है, नहीं तो संगीत नाद नहीं शोरगुल ही रह जाएगा और मनुष्य की कला-चेष्टा थम जाएगी, वह अपनी अंतर-वेदना का निवारण नहीं कर पाएगा। कहा जा सकता है, कि आधुनिक समय में केवल संगीत ही आध्यात्मिक अनुभूति का एक मात्र स्रोत है।

संदर्भ

1. परांजपे डॉ. शरच्चन्द्र, संगीत कला की अध्यात्मिक पृष्ठ भूमि, श्रीवास्तव प्रो. हरिश्चन्द्र (सम्पादक), संगीत सदन प्रकाशन , इलाहाबाद, 2006, पृ0 55
2. मिश्रा (डा.) शंकर लाल, संगीत शास्त्र विवेचन, पब्लिकेशन ब्यूरो पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला, 1994, पृ0 -1
3. शर्मा डॉ. श्रीमती महारानी, नाद की आध्यात्मिकता, श्रीवास्तव प्रो. हरिश्चन्द्र (सम्पादक), संगीत सदन प्रकाशन, इलाहाबाद, 2006, पृ0 182
4. B. Chaintanya Deva. Indian Music. Indian council for cultural Relations. 1974. New Delhi. Page-2
5. Source: Shri Chinmoy library
available on www.
srichinmoy.org
6. - Ibid-

मानव जीवन और लोक संगीत

डॉ० अनिता रानी

लोक संगीत मर्म को स्पर्श करता है और हृदय तन्त्री को झंकृत करता है। मनुष्य इनके प्रवाह में बह कर नाना प्रकार के रागात्मक एवं भावनात्मक जाल गूंथता रहता है और सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व को उनमें अभिव्यक्त करता है तथा इनमें उसे सृजनात्मक आनन्द की अनुभूति होती है वह अपने को दुःख में भी सुखी अनुभव करता है तथा भावालोक में अभिव्यंजित हो कर स्वयं को पूर्ण वैभवशाली अनुभव करने लगता है। उनकी भावनाएं व्यापक और समुन्नत होती हैं। आदि काल से आज तक धरती पर निरन्तर लोकगीत झूमते रहते हैं। कुछ माह तो ऐसे हैं जिनमें दिनरात गीतों की बहार रहती है जैसे- सावनभर कजरियाँ गाई जाती हैं और फागुन में गीत फाग, होली, होरी, धमार, झूमर आदि अनेक नामो से सम्बोधित किए जाते हैं। फाग काशुभारम्भ बसंत पंचमी के दिन से होता है किन्तु इसमें इतनी मादकता है कि जनमानस बसन्त पंचमी से पहले ही इसे गुनगुनाना प्रारम्भ कर देता है। ब्रज प्रदेश की होली तो सम्पूर्ण भारत में अपना विशेष महत्व रखती है-

आज बिरज में होली रे रसिया
होली रे रसिया, बरजोरी रे रसिया
बाजत ताल मृदंग झांझ ढप
और मजीरों की जोड़ी रे रसिया
आज बिरज में।

होली के यह बहुरंग जनमानस को अपने रंग में इतना सराबोर कर देते हैं मानों आनन्द की चरम सीमा आ गई हो।

होली खेलने वालों की टोलियां रंग खेलती हुई धमार गाती हैं इनकी संगति के लिये प्रधान वाद्य ढोल होता है।

कला का उदय सौन्दर्य मूलभूत प्रेरणा से हुआ है। सदैव प्रकृति के रमणीय दृश्य मानवमन को आनन्दित करते रहे हैं। सृजनशील कलाकार इन दृश्यों से अधिक प्रभावित होता है, उसका संवेदनशील मन आनन्द विभोर हो उठता है और उसे आन्तरिक प्रेरणा मिलती है कि इन अदभुत दृश्यों को वह स्वयं अपनी कला में पिरो दे। मनुष्य की इस स्वाभाविक रचनात्मक प्रवृत्ति के फलस्वरूप अनेक शिल्प और कौशलों का जन्म हुआ। इस दिव्य अनुभूति को कभी वह स्वर के माध्यम से, कभी शब्दों के माध्यम से तो कभी रंग रेखाओं के माध्यम से व्यक्त कर देता है।

लोक शब्द का प्रयोग ऋग्वेद और अथर्व में दिव्य तथा पार्थिव अर्थों में किया गया है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में लोक धर्म प्रवृति की चर्चा है। बुद्ध के बहुजन हिताय और बहुजन सुखाय में लोक की भावना निहित है। डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी की मान्यता है कि "लोक संस्कृति से जुड़े लोग नगर में परिष्कृत, सम्पन्न तथा सुसंकृत समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक सरल और अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रुचि वाले लोगों की समूची विलासिता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिए जो भी वस्तुएं आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं"। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल लोक को महासमुद्र की संज्ञा देते हुए

वरिष्ठ प्रवक्ता, संगीत (सितारविभाग), बी० डी० जैन गर्ल्स पी० जी० कॉलेज, आगरा

कहते हैं कि "लोक हमारे जीवन का महासमुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य और वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है। लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है। डॉ0 कुंज बिहारी दास ने लोक संगीत की परिभाषा में लोक शब्द पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "लोक संगीत उन लोगों के जीवन की अनायास प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति है जो सुसंकृत तथा सुसभ्य प्रभावों से बाहर रहकर या अधिक रूप में आदिम अवस्था में निवास करते हैं।"अर्थात वे लोग जो सुसंकृत एवं परिष्कृत रूचि वाले लोगों के प्रभाव से अलग रहकर अपनी आदिम स्थिति में जीवन यापन करते हैं, लोक शब्द से विभूषित किए जाते हैं। लोकशब्द का प्रयोग विविध संदर्भो में हुआ है जैसे लोक कला, लोक साहित्य, लोक संस्कृति, लोक गीत आदि। जब जनमानस की भावनाएं चेतन-अचेतन रूप में गीतबद्ध होकर अभिव्यक्त होती हैं तो उन्हें लोक गीत कहते हैं। इन गीतों में उनके जीवन के सुख-दुःख, हर्ष-विषाद, जीवन-मरण, आशा-निराशा, की अभिव्यंजना रहती है। यह गीत स्वतः जन्म लेते हैं। इनमें अलंकार नहीं होते वरन् रस होता है। भावों की सरल सहज एवं मधुर अभिव्यक्ति ही लोक संगीत का प्रयोजन है। इसका स्वरूप लोक रंजनकारी है।

कोई धुन जब प्रयोग में आते-आते इतनी रंजक, सुगेय और स्थायी बन जाती है कि जनमानस उसे सरलतापूर्वक अपने मानसिक आहार के रूप में अंगीकार कर सके तब तक वह लोक संगीत का रूप ले लेती है। लोक संगीत में स्वर, ताल और लय को खोजना नहीं पड़ता वरन् वे स्वतः भाव सज्जा के निर्मित उपस्थित हो जाते हैं। लय इन गीतों में इस प्रकार समाई रहती है कि जैसेशरीर में रक्त। जनजीवन के अनेक पहलू लोकगीतों के विषय हैं जैसे मोहर, बन्ने-बन्नी, मुण्डनगीत आदि। अर्थात लोकगीतों में जनजीवन के दर्शन होते हैं। डा0 चिन्तामणि उपाध्याय केशब्दों में -"लोकगीतों में मानव हृदय के भाव लोकजीवन के सामान्य धरातल पर उतर कर आशा-निराशा, आकर्षण-विकर्षण, प्रलय-कलह, आदि के रूप में व्यक्त हुए हैं। लोक गीतों की इस अभिव्यक्ति में हमें मानव जीवन की उस प्रारम्भिक स्थिति के दर्शन होते हैं, जहाँ साधारण मनुष्य अपनी लालसा, उमंग, उल्लास, प्रेम, एवं घृणा आदि भावों के प्रकट करने में समाज द्वारा मान्य शिष्टाचार के क्रमिक बंधनों को स्वीकार नहीं करता, स्वच्छन्द भावना और उसकी स्वछन्द अभिव्यक्ति लोकगीतों का प्रथम लक्षण है। इस प्रकार लोक संगीत का वातावरण उत्साह, उमंग, और तन्मयता से तल्लीन पाया जाता है। लोक संगीत के गायकों का भी लक्ष्य तल्लीनता और आनन्द की सृष्टि है।

सावन के ऋतु में लोकगीत अनायास ही मानव मन को उद्वेलित कर देते है। सावन की सरसता, नेत्रों को सुख पहुँचाने वाली मखमली हरियाली, रिमझिम फुहार इनका वास्तविक चित्र या तो साहित्य की विविध विधाओं में देखने को मिलता है या चित्रकार की विविध कृतियों में अथवा कजरी गीतों में वर्षा ऋतु के आगमन पर जिस नयी उमंग व उल्लास का संचार होता है उसकी अभिव्यक्ति रंगों और गीतों में बड़ी मनमोहक लगती है।

भारतीय ऋतुओं की इस रसमयी प्रकृति के यहाँ के साहित्य, संगीत और कलाओं को समान रूप से प्रभावित किया है यहाँ की काव्यकला, संगीतकला एवं चित्रकला में प्रायः सभी ऋतुओं पर रचनाएं देखने को मिलती हैं। इन ऋतुओं की रसीली प्रकृति किसी भी भावुक मन को सहज ही मुग्ध कर लेती है। साहित्यकार हो, चित्रकार हो या संगीतकार सभी इन ऋतुओं की श्रृंगारिक प्रकृति से प्रेरित होकर कलात्मक सृजन की ओर प्रवृत होते हैं।

अस्तु लोक संगीत वह है जो प्रादेशिक एवं राष्टीय संकीर्णताओं से परे अन्य ललित कलाओं की अपेक्षा अधिक व्यापकता लिए हुए हैं। स्वरों एवं सूक्ष्मता का ज्ञान न होते हुए भी एक साधारण रसिक मानव नाद की सम्मोहिनीशक्ति से आकृष्ट हो उसका रसास्वादन कर सकता है। अतः इस प्रकार हमें लोक संगीत में मानव जीवन का सार स्पष्ट झलकता है।

श्री गुरू ग्रंथ साहिब की रागात्मक संरचना : विश्व एकीकरण के संदर्भ में

- कुलविंदर सिंह

धर्म की शुद्ध आत्मा धर्म ग्रंथ और गुरू/पैगंबर के रूप में धरती पर प्रकट होती है। जिनमें धरती के किसी भी अधूरे पासार का दखल नहीं होता और वह अपने दैवी ज्ञानमयी प्रकाश से मानव जाति को सृष्टि में अंडज, जेरज, सेतज व उतभुज चार खामियों से उत्पन्न सभी प्राणियों व ब्रह्मंड के कण-कण में एक सर्वोपरि परमात्मा के व्याप्त होने का भाव प्रकट कर उनमें विश्व बन्धुत्व की भावना को उजागर करता है।

विश्व के सभी धार्मिक ग्रंथ जैसे जंद अवेसत (पारसी धर्म), बाईबल (ईसाई धर्म), तैरा, नवीम और कैथोबीम (यूहूदी धर्म), कुरआन शरीफ (मुसलिम धर्म), वेद, उपनिषद और श्रीमद् भागवत गीता (हिन्दु धर्म), त्रिपिक (बौद्ध धर्म) इत्यादि में मानव जाति के कल्याण हेतु उसे विश्व भाईचारक सत्ता को स्वीकृत करने और अपनी-अपनी मर्यादा के तहत आध्यात्मक उन्नति करने का पाठ पढ़ाया गया है। प्रस्तुत शोध पत्र में इसी कड़ी के अंतर्गत सिख धर्म के धार्मिक ग्रंथ 'श्री गुरू ग्रंथ साहिब' की बाणी सम्पादना के आधार पर विश्वव्यापी दैवी मर्यादा को दर्शाते विधि विधान पर सांगीतिक दृष्टि से विचार चर्चा की जाएगी।

श्री गुरु ग्रंथ साहिब सिख धर्म में जगत (Living) गुरु के रूप में विद्यमान हैं, जिनका प्रत्येक 'शब्द' व्यवहारिक तौर पर जीवन का मार्ग दर्शन करने के साथ-साथ अपने बाणी प्रबन्ध के तौर पर भी विश्व की सम्पूर्ण कार्य प्रणाली के समस्त रूपों को एक सूत्र में बांधकर विश्व रचना के एकीकरण पर प्रकाश डालता है। व्यवहारिक रूप में शब्द के माध्यम से मनुष्य को इस तथ्य से अवगत करवाया गया है कि संसार के प्रत्येक प्राणी की पांच भौतिक तत्वों के संयोग से रचना की गई है और उन सबका रचनहार भी एक ही है, इसी लिए शारीरिक बनतर के प्रथम सिद्धांत से ही मनुष्य को जाति, कुल, वर्ग, वर्ण इत्यादि के भेद-भाव जैसी कुरीतियों से निकलकर सभी को अपने भाई बहन समझ कर उनकी भौतिक और पराभौतिक जरूरतों की पूर्ति हेतु यथा शक्ति कार्य करना चाहिए। गुरुवाक्य है

- पांच तत् को तनु रचिउ, जानहु चतुर सुजान।।
  जिह ते उपजिउ नानका लीन ताहि मै मानु।।
  (अंग 1427)
- एकु पिता एकस के हम बारिकतू मेरा गुरु हाई।
  (अंग 611)
- अवलि अल्ह नूर उपाया कुदरति के सब बन्दे।।
  (अंग 1349)
- खावहि खरचहि रलि मिलि भाई।।
  तोटि न आवै बधदो जाई।। (अंग 186)
- धालि खाए किछु हथहु देए।।
  नानक राहु पछाणहि सेए।। (अंग 1245)

शब्द की व्यवहारिकता के साथ-साथ इसके बाणी प्रबन्ध पर ध्यान दें तो इसमें रचना, रचनाकार,

शोध छात्र, संगीत विभाग गुरूनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब

भाषा और संगीत के विविधात्मक पासार उपरोक्त आधारशिला को और सुदृढ़ करते हैं, जिनका विवरण इस प्रकार है:-

रचना:- श्री गुरु ग्रंथ साहिब में भारतीय सनातनी शास्त्रीय काव्य परम्परा के अर्न्तगत रचित काव्य प्रणाली को पिंगल व अरूज के नियमों से निकाला और जीवन में जन्म से लेकर मौत तक की व्यवहारिकता के विभिन्न पहलुओं के लोक काव्य के खुले मापदंडों को एक विशेष मर्यादा में बांधकर बाणी रचना की गई है। शास्त्रीय परम्परा के अन्तर्गत एक पदी, दुपदे, तिपदे, चौपदे, पंचपदे, अष्टपदी, पड़ताल के अलावा बंध युक्त बाणी रूप जैसे जपुजी, सिद्ध गोसटि, सुखमनी, आनन्दु, पट्टी, बावन अखरी, ओंकार इत्यादि बाणी की रचना मिलती हैं वहीं लोक जीवन के आधार पर अलाहुणी, घोडियाँ, वारां, सदु, लावां, पउड़ी, कुचज्जी, सुचज्जी, इत्यादि बाणी रचना के तहत शास्त्रीय व लोक काव्य रूपों को विशेष नियम के तहत एक धरातल पर एकत्रित किया गया है।

रचनाकार:- श्री गुरु ग्रंथ साहिब विश्व के एक मात्र ऐसा ग्रंथ हैं जिनमें गुरु, संत, भक्त और सिख के अकाली दैवी अनुभव को एक धरातल पर संकलित किया गया है। इसमें अलग-अलग धार्मिक मतों, जात, वर्ग, वर्ण से सम्बन्धित कुल 36 मुहापुरुषों की बाणी दर्ज है, जिनका विवरण इस प्रकार है:-

क्र.सं.	बाणीकार	धर्म/जाति	प्रांत	शब्द रचना
1.	गुरु नानक देव जी	क्षत्री	पंजाब	974
2.	गुरु अंगद देव जी	"	"	62
3.	गुरु अमरदास जी	"	"	907
4.	गुरु रामदास जी	"	"	679
5.	गुरु अर्जुन देव जी	"	"	2218
6.	गुरु तेग बहादुर जी	"	"	116
7.	भक्त कबीर जी	जुलाहा	यू.पी.	541
8.	नामदेव जी	छींबा	महाराट्र	60
9.	रविदास जी	चमार	यू.पी.	40
10.	फरीद जी	मुस्लमान	पंजाब	134
11.	त्रिलोचन जी	ब्राह्मण	महाराट्र	4
12.	वेणी जी	--	बिहार	3
13.	धन्ना जी	जट्ट	राजपुताना	4
14.	जैदेव जी	ब्राहमण	बंगाल	2
15.	भीखन जी	मुस्लमान	यू.पी.	2
16.	सैण जी	नाई	--	1
17.	पीपा जी	ब्राह्मण	गुजरात	1
18.	सधना जी	कसाई	सिंध	1
19.	रामानन्द जी	--	मदरास	1
20.	परमानन्द जी	ब्राह्मण	महाराट्र	1
21.	सूरदास जी	--	अवध	2
22.	सुंदर जी	क्षत्री	पंजाब	6
23.	मरदाना जी	मिरासी	"	3
24.	सता जी	डूम	"	3
25.	बलवंड जी	"	"	5
26.	कल सहार जी	राय भट्ट"		54
27.	जालप जी	"	"	5
28.	कीरत जी	"	"	8
29.	सल जी	"	"	3
30.	भल जी	"	"	1
31.	नल जी	"	"	16
32.	भिखा जी	"	"	2
33.	गयन्द जी	"	"	13
34.	बल जी	"	"	5
35.	हरबंस जी	"	"	2
36.	मथरा जी	"	"	14

भाषा:- श्री गुरु ग्रंथ साहिब में दर्ज बाणी की भाषा को भाषा विज्ञानियों ने 'साध भाषा' का नाम दिया है। भारत में भौगौलिक सीमाओं के अंतर्गत अनेकानेक संस्कृतिक धरोहरें सदियों से पलती और प्रफुल्लित होती चली आ रही हैं, जिनमें समय-समय पर सामाजिक, राजनीतिक व धार्मिक मर्यादाओं के बदलते परिप्रेक्षों में कई नए आयाम जुड़ते चले गए। श्री गुरु ग्रंथ साहिब में जहाँ विभिन्न भूगौलिक, धार्मिक व सामाजिक वर्गों से सम्बन्धित बाणीकारों की बाणी दर्ज की गई है वहीं उनकी बाणी से सम्बन्धित इलाके की सांस्कृतिक धरोहर की खुशबू को भाषा के माध्यम से संयोजित किया गया है। इसलिए इसमें संस्कृत भाषा के ततसम् व तदभव् शब्द, प्रकृत और अपभ्रंश के शब्द, अरबी, फारसी के ततसम् व तदभव् शब्द, बृज भाषा, अवधी, बंगाली, राजस्थानी, खड़ी बोली, पंजाबी की उपभाषाओं

के शब्द जैसे, लहिंदी, सिन्धी, पोठोहारी, बांगडू और माझी का प्रयोग किया गया मिलता है। परिणाम स्वरूप कुछ शब्द दिए जा रहे हैं:-

- संस्कृत भाषा के शब्दः- सबदं, नादं, जनमं, ससि, सैलं, बैसवह, कथन्ति, इत्यादि।
- फारसी भाषा के शब्दः- गज, गच, खुमारी, खोइ, जोर, तउ, मोरचा, इत्यादि
- अरबी भाषा के शब्दः- गनी, गसतम, खेमा, खैर, जुलम, तई, तसबी, इत्यादि।
- राजस्थानी भाषा के शब्दः- डीहर, महराजरैं, गहलढ़ै, गाथैं, फनैं इत्यादि।
- लहिंदी भाषा के शब्दः- मैंड़ा, तैंडा, हिक, डेखण, कू इत्यादि।
- बृज भाषा के शब्दः-हा, नीकी, काचा, कापर, गिरधारी, हाटे इत्यादि।
- अवधी भाषा के शब्दः- तवही, हम, जाके, माकै, पुनि, उन इत्यादि।

संगीतः- श्री गुरु ग्रंथ साहिब के बाणी प्रबन्ध पर ध्यान डालते ही हमें एक ऐसा सांगीतिक तत्व दृष्टिगत होता है जो भारतीय संगीत की न केवल आधारशिला ही है बल्कि उसके अभाव में शास्त्रीय संगीत की कल्पना करना बौद्धिक समरथा से बाहर की बात है, वह तत्व हैं 'राग'।

श्री गुरुग्रंथ साहिब की संपादना में इसकी विषय सूची बाणी के अंतरीव विभिन्न विषयों के अनुसार न होकर रागों के अधीन रखी गई है जिससे परमात्मा के ध्वनिआत्मक स्वरूप से उपजे राग के विशाल पासार और 'धुर की बाणी' 'खसम की बाणी' के महत्व को सहज भाव से आत्मसात करने में सहायता मिलती है। इस प्रकार 'राग' और 'बाणी' के सुमधुर समन्वय से अध्यात्मक मंडल के खोजी राग संसार की गहराई में जाकर बाणी के गूढ़ रहस्यों से एकाकांर कर परमपिता अकाल-पुरुष में अभेद होने का भागी बनता है।

'शब्द गुरु' की इस अकथ कथा की सम्पूर्ण संरचना को चार हिस्सों में वर्गीकृत करके देखा जा सकता है। पहले हिस्से में राग मुक्त बाणी को रखा गया है जिसके अंतर्गत 'जपु' बाणी पन्ना 1 से 8 तक अंकित है। दूसरे हिस्से में राग युक्त बाणी आती है जिस का प्रारंभ पन्ना 8 पर अंकित 'सोदुर' बाणी से हो जाता है, चाहे बाकायदा तौर पर रागों के सिर लेख पन्ना 14 पर अंकित 'सिरी' राग की बाणी से होते हैं परन्तु फिर भी पन्ना 8 से 13 तक सोदरु, और सोहिला की बाणी राग आधारित होने के कारण राग-युक्त बाणी का ही हिस्सा बनती है।

तीसरे हिस्से में फिर राग मुक्त बाणी आती है जो पन्ना 1353 से 1429 तक अंकित की गई है। इसमें सहसक तिलोक, गाथा, फुनहे, चउबोले, लोक कबीर जी, लोक फरीद जी, सवइये श्री मुखाक महल्ला 5, लोक वारां ते वधीक, लोक महल्ला 9, मंदावणी की बाणी दर्ज है। चौथा और आखिरी हिस्सा राग युक्त और राग मुक्त दोनों पक्षों की तर्जमानी करता है जिस का सिरलेख है 'रागमाला'। चूँकि इस रचना पर किसी भी राग का सिरलेख दर्ज नहीं है इसीलिए यह राग मुक्त बाणी का हिस्सा बनती है और इसमें राग परिवारों के रूप में दिया गया राग-विवरण इसको राग-युक्त रचना का हिस्सा बनाता है। इसलिए यह सिरलेख रूप में राग मुक्त होते हुए भी राग-युक्त के रूप में दृष्टिगत होती है। यद्यपि रागमाला में केवल रागों की जानकारी मात्र होने के कारण यह बाणी की विचारधारा का हिस्सा नहीं बनती किन्तु फिर भी श्री गुरु ग्रंथ साहिब जी का हिस्सा होने के कारण यह प्रायः सिख समुदाय में माननीय है और शब्द कीर्त्तन परम्परा में इनका प्रयोग प्रायः देखने को मिलता है।

श्री गुरु ग्रंथ साहिब में 31 मुख्य रागों के अधीन 31 और रागों का विवरण मिलता है जिससे इनकी गिनती 62 हो जाती है। इसी प्रकार रागमाला में 6 मुख्य राग, 30 रागनियाँ, और उनके 48 राग पुत्रों का विवरण दिया गया है, जिनकी कुल गिनती 84 है। इस प्रकार श्री गुरु ग्रंथ साहिब में कुल रागों की संख्या 6284 = 146 हो जाती है जिसका विवरण इस प्रकार है।

मुख्य रागः- श्री, माझ, गउडी, आसा, गुजरी, देवगंधारी, बिहागडा, वडहंस, सोरठी, धनाश्री, जैतसरी, टोडी, बैराड़ी, तिलंग, सूही, बिलावल, गोंड, रामकली, नट-नारायण, माली-गउडा, मारू, तुखारी, केदारा, भैरउ, बसंत, सारंग, मल्हार, कान्हडा, कल्याण, प्रभाती, जैजावन्ती।

रागभेदः- गउड़ी गुआरेरी, ग. दखिणी, ग. चेती, ग. बैरागणि, ग. पूर्वी, ग. दीपकी, ग. पूर्वी दीपकी, ग. माझ, ग. माला, ग. मालवा, ग. सोरठि, आसा काफी, आसावरी, आसावरी सुधंग, देवगंधार, वडहंस दखिणी, तिलंग काफी, सूही काफी, सूही ललित, बिलावल-दखिणी, बिलावल मंगल, बिलावल गोंड, रामकली-दखिणी, नट, मारू-काफी, मारू दखिणी, बसन्त-हिंडोल, कल्याण भूपाली, प्रभाती बिभास, प्रभाती-दखिणी, बिभास प्रभाती।

राग-माला में दर्ज राग-रागिणीयों का विवरणः-

क.सं. मुख्य राग स्त्रियाँ पुत्र

1. भैरव भैरवी, बिलावली, पुण्याकी, बंगली, असलेखी पंचम, हरख, दिसाख, बंगाल, मधु, माधव, ललित, बिलावल
2. मालकौंस गोंडकिरी, देवगंधारी, गंधारी, सीहुती, धनासरी मारू, मसतांग, मेवार, प्रबल, चंडकौस, खउखट, भउर, अनन्द।
3. हिन्डोल तेलंगी, देवकरी, बसन्ती, सिंधूरी, अहीरी सुरमानन्द, भासकर, चन्द्र बिंब, मंगल, सरसबान, बिनोद, बसन्त, कामोद।
4. दीपक कछेली, पट-मंजरी, टोडी, कामोदी, गूजरी कलंका, कुन्तल, राम, कमल, कुसम, चंपक, गौरा, कलाना।
5. सिरी बैरारी, करनाटी, गवरी, आसावरी, सिंधवी सालू, सारंग, सागरा, गोंड, गम्भीर, कुम्भ, हमीर।
6. मेघ सोरठी, गुंड, मलारी,आसा, सूहो बैराधार, गजधर, केदारा, जबलीधर, नट, जलधारा, अंकर, सियाम।

रागों के उपरोक्त विवरण में गुरु साहिब ने भारतीय राग परम्परा के अधीन शुद्ध, छायालग, संकीर्ण राग वर्गों के अलावा मौसम से सम्बन्धित राग, विभिन्न देशों, इलाकों से सम्बन्धित रागों का समन्वय कर संगीत की पद्धति के तौर पर विभिन्न संस्कृतियों को एक धरातल पर रचकर उनमें पाई जाती विभिन्नता को एक दूसरे के समीप लाने का सर्वप्रथम प्रयास किया है वहीं उनमें गायन शैलियों के रूप में रचित बाणी के अलग-अलग स्वरूप, भाषा के विभिन्न रूपों को एक जगह एकत्रित कर विश्व बन्धुत्व की नीवं को परिपक्व किया है जिसको अपनी चेतना का आधार बनाकर पूरा विश्व इस पूरी संयोजना से लाभ उठाकर विश्व भाईचारक सांझ को बढ़ाकर असल ग्लोबलाईजोन के आधार की सृजना कर सकता है, वहीं आत्मिक तौर पर तरक्की कर आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति भी कर सकता है। इसमें श्री गुरु गंथ साहिब अपनी विशेष भूमिका निभा सकतें है।

भारतीय संगीत की शिक्षण-प्रणाली एवं उसके बदलते आयाम

डॉ0 प्रियंका

''संगीत'' का नाम लेते ही सर्वसाधारण लोगों की यह भावना सामने आ जाती है कि संगीत एक मनोरंजन की बात है, फुर्सत के क्षण में समय व्यतीत करने के लिए दिल बहलाने का साधन है। यह बात एक तरह से सच भी है। रोटी कपड़ा और मकान जैसी जीवनावश्यक वस्तुओं में संगीत की गिनती नहीं की जा सकती। ऐसा होने के बावजूद अनादि काल से मनुष्य के जीवन में संगीत का साथ रहा है। 'संगीत' कहते ही हम इसका तात्पर्यशास्त्रीय संगीत, सुगम संगीत, नाट्य संगीत, तथा सिनेमा संगीत आदि से समझते है। आजकल लोक संगीत को भी हम महत्व देने लगें है, परन्तु संगीत इससे परे है, उसका हम अहसास पूर्ण ढ़ग से विचार नहीं करते क्योंकि यह संगीत में घुल मिल गया है। इस कारण उसका अलग अस्तित्व हमें महसूस नहीं होता। यदि इस संगीत की हम खोज नहीं करें और मनुष्य के जीवन में इसके महत्व पर प्रकाश डाले तो शिक्षा में भी उसका समावेश करना उचित होगा, यह स्पष्ट है।

प्रकृति में सुसंवाद होता है तो संपूर्ण वातावरण संगीतमय बन जाता है। यह संवाद दूषित हुआ कि प्राकृतिक आपदाए आकर सभी ओर हाहाकार मचा देती है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य केशरीर में मन में सुसंवाद रहा तो उसका स्वास्थ ठीक रहता है। उसके आचार-विचार में समरूपता रहती है और यदि वह विकृत हुआ तो मनुष्य की मनुष्यता भी खो जाती है। मानव जीवन के कण-कण में संगीत व्याप्त है। मन को एकाग्रचित करने कीशक्ति संगीत में है। इसलिए संगीत ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना गया है। संगीत से मोक्ष प्राप्ति की कल्पना उसी का प्रतीक है। संगीत के अपने विशिष्ट रूप के कारण सभी कलाओं में उसको उच्च स्थान प्राप्त हुआ है। वाल्टर पीटर की प्रसिद्ध उक्ति संगीत के असामान्य तत्व को एक अलग प्रकार से परिभाषित करती है।

" Arts aspire towards the condition of music in which from and matter are indistinguishable .

प्राचीन काल से लेकर अब तक संगीत गुरूमुखी विद्या मानी गयी है, जो गुरू के सामने बैठकर और सुनकर उनसे सीखी जाती थी, परन्तु आज की परिस्थिति कुछ अलग है। आज की शिक्षा नीति में संगीत को एक विषय के रूप में शामिल किया गया है। भारतीयशास्त्रीय संगीत शिक्षा के इतिहास का आरम्भ वैदिक काल से माना जाता है। यद्यपि भारतीय संगीत को अनादि माना गया है तथापि इसका विशिष्ट आकार वेदों में उपलब्ध होता है। वैदिक काल केशास्त्रीय संगीत को ''साम'' के रूप में जाना जाता है। ऋग्वेद की जिन गेयात्मक ऋचाओं को संग्रहीत किया गया वही 'साम संहिता' कहलाता, ''साम गान'' ऋषियों के गायन प्रतिभा को ही दर्शाता था, इसलिए 'निरूक्त' नामक ग्रन्थों में इन ऋषियों को साक्षात्कृत धर्मा कहा गया है-

''साक्षात्कृतधर्माण ऋषयों बभूवुः।।''

जहाँ तक संगीत-शिक्षा का प्रश्न है, वैदिक काल से मध्य-युग तक संगीत की शिक्षा गुरू-शिष्य परंपरा द्वारा दी जाती रही है। उस समय स्पष्ट, लय और तालों के द्वारा निःसृत स्वरों का अभ्यास गुरूकुल में कराया जाता था। मध्यकाल और

व्याख्याता संगीत विभाग, जे0 डी0 वीमेन्स कॉलेज, पटना

आधुनिक काल विदेशी आक्रमणों के कारण संगीत शिक्षा में कई उतार-चढ़ाव आये। इसी में घरानों की नींव पड़ी, जिसके अन्तर्गत विभिन्न कलाकारों एवं उस्तादों ने अपने संगीत ज्ञान को केवल अपने परिवार के सदस्यों तक ही सीमित रखने लगे और उस समय संगीत शिक्षा घरानों के नियम और शैलियों के अनुरूप ही दी जाने लगी। मुगलकाल में वास्तविक आचार्यों के अभाव के कारण दरबारी संगीत का निरंकुश प्राधान्य रहा और संप्रदायगत संगीत शिक्षा पद्धति का लोप हो गया। पेशेवर संगीत की कद्र बढ़ गई। कला की अपेक्षा कौशल ज्यादा महत्वपूर्ण हो गया। संगीत में प्रतियोगिता आ गई, जिससे संगीत शिक्षा सिर्फ कौशल-प्रदर्शन की वस्तु रह गई। मुगलकाल में एक ओर दरबारी संगीत था तो दूसरी ओर उत्तर भारत में धर्मचारी सूफी-संतो और भक्तों के संगीतमय धर्मोपदेश से भारतीय संगीत अपने उच्चतम् स्थिति को प्राप्त हो रहा था। 18वी शताब्दी में अंगेजी शासन काल में घरानों की रूप रेखा कुछ शिथिल होने लगी, क्योंकि पाश्चात्य संस्कृति के व्यवस्थापक कला की अपेक्षा वैज्ञानिक प्रगति को अधिक मान्यता देते थे, और अध्यात्मक की अपेक्षा इस संस्कृति में भौतिकवाद प्रबल था। ब्रिटिश राज्य के व्यवस्थापकों ने संगीत कला के प्रति भौतिकवादी दृष्टिकोण अपनाकर उसे अन्य विषयों के समान ही एक विषय के रूप में ही इसे स्वीकार किया, परन्तु उस युग में वैज्ञानिक प्रगति के प्रभावशीलता के कारण यह विषय अन्य पाठ्य विषयों से लगभग उपेक्षित ही रहा। संगीत के पुनरुत्थान की दृष्टि से इस समय घरानों की अन्तिम कड़ी के रूप पं0 भातखंडे एवं पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर यह दो ऐसे महान संगीतज्ञों ने जगह-जगह संगीत महाविद्यालयों की स्थापना की। जन साधारण के जीवन में संगीत के प्रति रूझान एवं प्रेम का संचार करना और विद्यार्थियों को ज्ञान देना ही इन महापुरूषों के जीवन का मुख्य उद्देश्य था। संगीत को व्यवस्थित बनाने के लिए विभिन्न स्तर के पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकें, स्वरलिपि आदि तैयार की गई और परीक्षा तथा उसके उपरान्त उपाधि देने का प्रावधान भी रखा गया, जिससे संगीत शिक्षा का एक निश्चित स्वरूप स्थापित हो सके। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात संगीत शिक्षण का तीव्र गति से विकास हुआ है। संगीत का अत्यन्त प्रचार-प्रसार भी हुआ है। संगीत के संस्थागत शिक्षण के साथ-साथ विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर व शोधात्मक स्तर पर संगीत शिक्षण, साथ ही आकाशवाणी एवं दूरदर्शन के साथ-साथ फिल्मी संगीत के माध्यम् से तो संगीत का विकास हुआ। अनेकानेक प्रशासकीय संस्थानों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सांस्कृतिक समूहों या वैयक्तिक रूप से संगीतज्ञों को अन्य देशों में भेजा जाना उन्हें पुरस्कृत किया जाना आदि पूर्णतः संगीत के शैक्षणिक एवं लोकप्रियता के पक्ष को सुदृढ़ करता है। संगीत के विशेषज्ञों ने अपने अथक प्रयासों से देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों के लिए उच्चस्तरीय संगीत-शिक्षण की विस्तृत योजना तैयार की। एम0 ए0, एम0 फिल, एवं पीएच0डी0 के लिए प्रयोगात्मक औरशास्त्रीय पक्ष दोनों की प्राथमिकता को ध्यान में रखते हुए पाठ्यक्रम तैयार किये गए। इनकी एक निश्चित अवधि तय की गई। शिक्षा पूर्ण होने के पश्चात विभिन्न स्तर की डिग्रियाँ देने का प्रावधान बनाया गया। संगीत शिक्षण का स्तर ऊँचा बनाए रखने के लिए पुस्तकालय स्थापित किये गये। संगीत संबंधित विचार गोष्ठियों एवं संगीत सम्मेलनों के आयोजन संगीत संबंधी प्राचीन पांडुलिपियों के मुद्रण तथा सांगीतिक रिकार्डों के निर्माण एवं संरक्षण जैसे उच्चस्तरीय कार्य संगीत नाट्य अकादमी द्वारा किये गये। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा संगीत विभागों को अनुदान राशि, छात्रों के लिए वित्तीय सहायता, संगीत गोष्ठियों और संगीत कार्यशालाओं के लिए अलग से धन राशि की व्यवस्था करके संगीत के उच्चस्तरीय शिक्षण की नीवं रखी गई।

वर्त्तमान में वैसे तो अन्य विषयों के साथ ही संगीत शिक्षा का स्तर भी गिरा है। स्नातक स्तर पर

संगीत शिक्षा लेने वाले अधिकांश छात्रा-छात्राओं को संगीत विषय का जरा सा भी ज्ञान न होना संगीत शिक्षा लेने वालो का भी चयन न होना, स्वर-परीक्षण न होना, अनियमित अभ्यास, पाठ्यकम का अधूरा ज्ञान रखकर परीक्षा की तैयारी आदि कारणों से संगीत शिक्षा की गुणवता में कमी आयी है। इसकी गुणवत्ता में सुधार क लिए अनेक प्रयास किये जा सकते है। संगीत कला से जुड़े किसी व्यवसाय को अपनाकर जिससे अर्थोपार्जन के साथ-साथ कार्य संतुष्टि भी प्राप्त हो और समाज में सम्मान भी। वर्तमान समय में जब संगीत उच्च शिक्षा को अन्य विषयों की भाँति मान्यता प्राप्त है तो यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता हैं की प्राचीन वैयक्तिक शिक्षण एवं आधुनिक सामूहिक शिक्षण दोनों युगों के श्रेष्ठ तत्वों को एकत्र कर समन्वित किये जाएं तो यह हमारी संगीत-परंपरा को निश्चित ही समृद्ध करेगा।

संदर्भ सूचीः-

1. सक्सेना डॉ0 मधुबाला, भारतीय संगीत की शिक्षण प्रणाली एवं उसका वर्तमान स्तर।
2. नारायण, डॉ0 पुष्पम, ''भैरवी'' संगीत पत्रिका अंक-6, पृष्ठ-52
3. नारायण, डॉ0 पुष्पम, ''भैरवी'' संगीत पत्रिका अंक-7, पृष्ठ-110

कंठ ध्वनि, कंठ संगीत एवं कंठ साधना : एक वैज्ञानिक प्रक्रिया

श्रेया श्रीवास्तव

मानव शरीर को 'गात्र वीणा' या 'शरीरी वीणा' कहा गया है। जब शरीर से कोई ध्वनि निकलती है तो उसकी प्रक्रिया वही होती है जो एक वाद्य के द्वारा सम्पन्न होती है। शरीर से निकलने वाली ध्वनि को 'शब्द' और वाद्य से निकलने वाली ध्वनि को 'स्वर' कहा जाता है। जब शरीर के द्वारा निकलने वाली ध्वनि को संगठित करके किसी निश्चित 'पिच' पर प्रसारित किया जाता है तो माधुर्य के कारण उसे भी 'स्वर' की संज्ञा प्राप्त हो जाती है।[1]

ध्वनि मानव-देह की प्राकृतिक प्रवृति है। फिर भी कृत्रिम बाह्य उपायों से ध्वनि को संस्कारित करने की आवश्यकता होती है। व्यक्ति में भिन्न-भिन्न ध्वनि प्रवृति होती है, इसलिए मूल ध्वनि की अपेक्षा संस्कारित ध्वनि की आवश्यकता अधिक होती है। इससे उद्गमित कंठ ध्वनि का प्राचीन काल से वर्तमान काल तक प्रयोग किया जा रहा है। प्राचीन काल में अध्यात्म मार्ग की प्रबलता थी। अध्यात्म मार्ग के कठोर बन्धन समाज-मानस पर जैसे-जैसे शिथिल होने लगेशास्त्रीय विधि से ध्वनि संस्कारित की जाने लगी। मन के आदेश का स्वर यंत्र द्वारा पालन करना एक अमूर्त संकल्पना थी। अतः ध्वनि संस्कारित करने की पद्धति सूत्रबद्ध बनी।[2]

मानवशरीर के दो अंगो-श्रवण यंत्र(कान) और ध्वनि यन्त्र (कंठ) का अध्ययन संगीत की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और आवश्यक रहा है। कंठ से ध्वनि कैसे उत्पन्न होती है और कान द्वारा इसको कैसे ग्रहण किया जाता है। इस विषय में प्राचीन काल से दर्शनशास्त्री संगीतकारों ने अपने विचार प्रकट किये हैं। संगीत रत्नाकर में कंठ और जिह्वा के विषय में इस प्रकार बताया गया है-

''कंठ में भारती(सरस्वती) का स्थान 16 दल वाला 'विशुद्ध' नामक चक्र है। प्रणव, उद्गीथ, हुंफड, विर्षड, स्वधा, नमः अमृत, सप्त स्वर और विषये 16 फल (विशुद्ध चक्र के) पूर्व आदि पत्रों(दलों) में स्थिति है।'' 'जिह्वा में 12 दल वाला 'ललना' नामक चक्र है। मद, मान, स्नेह,शोक, खेद, लोभ, अरति, सम्भ्रम, ऊर्मि, श्रद्धा, सन्तोष और दक्षता ये 'ललना' चक्र के पूर्व दलों में फल हैं।''[3]

दामोदर पण्डित ने मानवशरीर रचना और ध्वनि के विषय में लिखा है कि-

''हृदयेऽनाहतं चक्रं शिवस्य प्रणवाक तैः।
पूजा स्थानं तदिच्छन्ति युतं द्वादशभिर्दलैः।।''

अर्थात् हृदय में 'प्रणवाकृति' (ओंकार रूपी) शिव का पूजा स्थान, जिसकी सभी योगी इच्छा करते हैं, ऐसा बारह पंखुड़ियों से युक्त अनाहत नाद नामक चक्र है।

अहोबल ने मानवशरीर से मंद्र, मध्य और तार ध्वनियों के विषय में इस प्रकार लिखा है-

''कंठे विशुद्ध चक्रं स्यात् सहस्त्रारन्तु मूर्द्धनि।
मन्द्रमध्यमताराख्या भवयुस्तेशु तु क्रमात्।।''[4]

अर्थात् कंठ में विशुद्ध नामक चक्र होता है और मस्तक में सहस्त्रार नामक चक्र है। उनमें क्रमानुसार मन्द्र, मध्य, तार सप्तक होते हैं।

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मानवशरीर में ध्वनि उत्पादक स्थान को विज्ञान में (स्वरयन्त्र) का नाम दिया है। 'स्वरयन्त्र' कार्टिलेज का बना एक डिब्बा होता है, जो श्वास-नली के ठीक ऊपर स्थित होता है। इसमें तीन कार्टिलेज की ओर दो वोकल काड्र्स होते हैं। ये तीनों कार्टिलेज क्रमशः थाइराइड, कीकाइड और एरिटेनाइड हैं। एरिटेनाइड कार्टिलेज भी संख्या में दो होती हैं तथा वोकल कार्ड एक सिरे पर इनसे जुड़े रहते हैं। इसका दूसरा सिरा थाइराइड कार्टिलेज के साथ मजबूती से जुड़ा रहता है। इसको हम गले से छूकर महसूस कर सकते हैं। 'स्वरयन्त्र' थाइराइड कार्टिलेज के द्वारा पूरी तरह से ढका रहता है। इस कार्टिलेज के नीचे अंगूठी के आकार की कीकाइड कार्टिलेज स्थित है। सामने की ओर की को थाइराइड मांस पेशी द्वारा थाइराइड कार्टिलेज से जुड़ी रहती है तथा आवश्यकतानुसार इन्हीं मांसपेशियों की सहायता से थाइराइड कार्टिलज के पास पहुच जाती है। थाइराइड और कीकाइड कार्टिलेज के बने डिब्बेनुमा स्थान के भीतर पीछे की ओर दोनों एरिटेनाइड कार्टिलेज स्थित हैं। वोकल कार्ड इन्हीं के साथ जुड़े रहते हैं। एरिटेनाइड मांसपेशी के खिंचाव के कारण वोकल कार्ड खिंचते हैं और करीब आ जाते हैं। वोकल कार्ड के मध्य का भाग, जो 'ग्लोटिस' कहलाता है, इनके करीब आने पर बंद हो जाता है औरश्वास का अन्दर आना या बाहर जाना असम्भव हो जाता है। इस प्रकार जब हम गाते या बोलते हैं तो ग्लोटिस करीब-करीब बन्द हो जाता है और वोकल कार्ड कुछ ऐसे सन्तुलन में खिंचे रहते हैं कि स्वर-नियन्त्रण स्वतः ही हो जाता है।[6]

कहने का तात्पर्य यह है कि- स्वरयन्त्र ग्रीवा के मध्य में, वास नली के ऊपरी सिरे में, गले के पिछले अदृश्य भाग में स्थित है। इसके ऊपर एक उपास्थि (Cartilage) अर्थात् उपजिह्वा रहती है, जो स्वर यन्त्र के लिए कपाट का काम करती है।[7] उपजिह्वा मस्तिष्क द्वारा नियन्त्रित होती है। स्वर यन्त्र के भीतर स्वर तन्तु सुषिर वाद्य क्लेरिनेट (Clarinet) में रीड (Reed) या पत्ती का काम करते हैं। जैसे वादक द्वारा फूक मारने से लकड़ी या प्लास्टिक की बनी रीड आन्दोलित होती है, और एक मौलिक ध्वनि उत्पन्न करती है। जिसे यन्त्र में नलिकाओं और छिद्रों को नियन्त्रित कर स्वरों में परिणत किया जाता है। उसी प्रकार बोलने से स्व तन्तु आन्दोलित होते हैं और जो ध्वनि पैदा होती है उसे गला, तालु, नाक, होंठ और विभिन्न प्रका की मुद्राओं द्वाराशब्दों में अथवा स्वरों में परिवर्तित किया जाता है। जिसमें उदर से लेकर मस्तिष्क त हजारों मांसपेशिया अलग-अलग खिंचाव या ढीलापन देकर नियन्त्रित करती हैं। इस तरह से पूरीश्वा प्रणाली अपनी मांसपेशियों सहित उदर से नाक त ध्वनि पैदा करने में सहायता करती है। परन्तु इन स्वरयंत्र का महत्वपूर्ण अंश रहता है।

" The larynx is the body s voice
Box, containing the vocal chords,
Which vibrate to produce speech."[8]

फेफड़े से चली हवा ध्वनि यन्त्रों के आन्दोल के कारण आन्दोलित होकर निकलती है और बाह्य की वायु में अपने आन्दोलन के अनुसार एक विशिष्ट प्रकार के कम्पन से लहर पैदा कर देती है सुनने वाले के कान तक ये लहरे ही पहुचती हैं औ वहा (श्रवणेन्द्रिय में) कम्पन पैदा कर देती हैं। ज कान में ध्वनि की लहरें पहुचती हैं, तो बाह्य क की भीतरी झिल्ली (कान का पर्दा) पर कम्पन उत्पन्न करती है। इस कम्पन का प्रभाव मध्यवर्त कर्ण की अस्थियों द्वारा भीतरी कर्ण के द्रव पदार्थ प पड़ता है और उनसे लहरें उठती हैं। "जिसक सूचना श्रवणी शिरा के तन्तुओं द्वारा मस्तिष्क जाती है और हम सुन लेते हैं।"[9]

संगीत में स्वर और श्रुतियों के इतने सूक्ष्म स्थान है कि उनका ज्ञान पूर्ण श्रवणशक्ति वा मनुष्य भी सुगमता से नहीं कर पाता। बड़े-ब संगीतज्ञ स्वरों और श्रुतियों के सूक्ष्म स्थानों का बो एवं उनका ठीक-ठीक प्रयोग करने के लिए जीव पर्यन्त अभ्यास करते है।

जब मनुष्य को अपने भावों को व्यक्त क की आवश्यकता प्रतीत हुई तभी उसे ध्वनि क सहारा लेना पड़ा। अर्थात् भावाभिव्यक्ति की सहाय से संगीत का जन्म माना गया है। मनुष्य ने ज इंगित भाषा का निर्माण कर लिया तो उसने एक स्वरों की सहायता से लघु स्वर ध्वनियां संगीत बना ली, जिनको धुन की संज्ञा दी जा सकती है

इन्हीं शब्दों और संक्षिप्त धुनों ने संगीत का रूप पाया।[10]

श्री गोस्वामी जी का कथन है कि

A short silly text was set to a tune alternating between two notes which could be at any distance from each other and varying with the people and tribe but constant among usually also within all tunes of the same tribe. This was known as a logogenic or word-born music.[11]

अतः संगीत का जन्म मानव कण्ठ ध्वनि से हुआ, मानव ने कण्ठ ध्वनि को भिन्न-भिन्न रूप देकर उसको नियमित किया और आदान-प्रदान के लिए भावाभिव्यक्त किया। रही बात कंठ साधना की तो कंठ संस्कार या कंठ साधना को अंग्रेजी में 'वायस कल्चर' (Voice Culture) कहते हैं। परिभाषा के रूप में **'Properly trained voice which is useful for music** अर्थात् संगीतोपयोगी परिष्कृत आवाज। मनुष्य की आवाज कैसी भी मोटी, पतली, कर्कश या विशृंखल हो, उचित साधना और संयम के द्वारा उसे सुरीला और आकर्षक बनाया जा सकता है। वैदिक काल में छोटे बच्चे को जब वेद पाठ की शिक्षा दी जाती थी, तो उसी के माध्यम से उसका कंठ स्वतः संस्कारित हो जाता था। उदात्त (ऊंचा), अनुदात्त (नीचा) और स्वरित (सम) स्वरों के प्रयोग द्वारा उच्चारित किये जाने वाले मन्त्र तभी सार्थक होते थे, जब उन्हें निश्चित ध्वनियों पर, निश्चित परिणमों में और निश्चित वलय घातों द्वारा प्रयुक्त किया जाये।[12]

व्यक्ति की प्राकृतिक आवाज को वैज्ञानिक पद्धति से सुयोग्य आकार देकर संगीतोपयोगी बनाने केशास्त्र को कंठ साधना कहा जाता है। कंठ साधना एक प्रयोग सिद्धशास्त्र है जिसका लाभ पश्चिम के अनेक कलाकारों ने प्राप्त किया। भारत में भी आवाज तैयार करने के लिए एक विशेष विधि दीर्घ काल से चलती आ रही है जिसको षड़ज साधना कहते है। आज भी उसी विधि के अनुसार गायक अपनी आवाज संगीतोपयोगी बनाते है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि षड़ज सप्तक गायन से कई वर्षों के लगातार परिश्रम से आवाज में कुछ सुधार अवश्य होता है, किन्तु इसमें सबसे बड़ा खतरा यह भी है कि षड़ज साधना की अधिकता से आवाज मोटी, भारी तथा दबी हुई सी बन जाती है तथा उसका लचीलापन सदा के लिए खो जाता है।शास्त्र के द्वारा किसी आवाज को संगीत के लिए उपयुक्त बनायी जा सकती है। हर मनुष्य गायक बनेगा यह कहना निरर्थक है। जिसको संगीत से प्रेम है, संगीत सीखने की जिसे तीव्र इच्छा है और संगीत सीखने के लिए जिसके पास समय है वही व्यक्ति संगीत की शिक्षा प्राप्त कर एक अच्छा गायक बन सकता है। कंठ साधना केवल आवाज तैयार करता है गायकी नहीं सिखाता। आवाज तैयार होने के बाद किसी भी घरानें की गायकी सिद्ध की जा सकती है।[13]

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि शिष्य की षड़ज साधना गुरू की ही उपस्थिति में ही होनी चाहिए। प्रसिद्ध संगीतज्ञ प्रो० वी० आर० देवधर ने अमेरिका के एक प्रसिद्ध कंठ साधना शास्त्रज्ञ के पास दो वर्षों तक इस शास्त्र का अध्ययन किया। उसके बाद विभिन्न शहरों में इसका प्रचार-प्रसार किया। उन्होंने कई संगीत के विद्यार्थियों को कंठ साधना शास्त्र के अनुसार आवाज तैयार करने की शिक्षा भी दी है, कंठ साधना के विषय में महत्वपूर्ण बातों को व्यक्त किया जा सकता है। प्रत्येक विद्यार्थी की आवाज अलग-अलग होती है अतः प्रत्येक गायक को अपनी आवाज की सीमा जान कर ही अपना सुर निश्चित करना चाहिए। स्वर साधना के लिए गायन के प्रत्येक विद्यार्थियों को नियमित कंठ साधना करना आवश्यक है। तानपुरा अपने सुर में मिलाकर क्रमशः मन्द्र, मध्य व तार सप्तक के स्वर लगाने चाहिए। आवाज के साथ जबरदस्ती नहीं करना चाहिए इससे गले पर दोष पूर्ण असर पड़ेगा।

गुरू शिष्य परम्परा और संस्थागत शिक्षण : सांगीतिक शिक्षण का बदलता प्रतिबिम्ब

ज्योति सिं

भारत में प्राचीनकाल से ही किसी कला या विद्या का संरक्षण करने हेतु गुरू-शिष्य शिक्षण परम्परा प्रचलित रही है। इसमें गुरू, शिष्य को अपने सम्मुख बैठाकर शिक्षा देता था। किसी लिखित सामग्री का आधार न लेते हुए, पाठ्यान्तर द्वारा तथा प्रत्यक्ष शिक्षा द्वारा इस विद्या का आदान-प्रदान होता था। भारतीय शास्त्रीय संगीत एक कठिन एव साधनात्मक कला है, वर्षों तक एक योग्य गुरू के निर्देशन तथा कठोर परिश्रम के पश्चात ही साधक इसमें सफलता अर्जित कर सकता है। इस कारण संगीत कला को प्राप्त करने के लिए दो बातों का होना अत्यन्त आवश्यक है शिक्षा और साधना।

भारतीय शास्त्रीय संगीत में पहले आधुनिक सुविधा सम्पन्न विद्यालय या शिक्षण संस्थायें नहीं थी। अतः शिष्य को गुरू के पास बैठकर शिक्षा प्राप्त करनी पड़ती थी और गुरू के बनाये हुए मार्ग के अनुसार कठोर साधना करनी पड़ती थी। यह शिक्षा पद्धति प्राचीनकाल से लेकर विद्यालयीन सामूहिक शिक्षा के प्रारम्भ होने तक विशेष रूप से प्रचलित रही। घरानेदार संगीत शिक्षा भी इसी आधार पर चल रही थी। इस व्यक्तिगत शिक्षा को ही गुरू-शिष्य परम्परा कहते हैं।

डॉ0 रातनजनकर के अनुसार "गुणात्मक प्रतिभा की दृष्टि से कला विज्ञान अथवा साहित्य में वर्ग और सामूहिक शिक्षा की अपेक्षा व्यक्तिगत शिक्षा की श्रेष्ठता को कोई भी चुनौती नहीं दे सकता, परन्तु व्यक्तिगत शिक्षा तभी सम्भव है, जबकि बहुत धीमी किन्तु निश्चित अध्ययन, अभ्यास प्रणाली के लिए शिक्षक और विद्यार्थी दोनों में वैसे शक्ति और रसमय हो।"

प्रत्येक गुरू की शिक्षा देने की पद्धति भिन्न होती है, विशेष रूप से गुरू कलाकार हो तो उसके शिक्षा देने की विधि में अन्तर आ जाता है।

पं0 रामाश्रय झा के अनुसार "जो बहुत अच्छे कलाकार होते हैं और ऊँचे स्तर के शिक्षक होते है, उनके शिक्षा देने के तौर-तरीके में अन्तर होता है। जो सही मायने में ऊँचे स्तर के शिक्षक होते है, वे शिक्षा देते हैं, उनसे शिक्षा लेनी नहीं पड़ती है लेकिन जो अच्छे कलाकार है, उनसे शिक्षा लेनी पड़ती है।

अच्छा गुरू होना अत्यन्त दुर्लभ है। गुरू का विवेक औरशक्ति शिष्य पर केन्द्रित रहती है। अपने अलग-अलग शिष्यों की सामर्थ्य और सीमाओं का विश्लेषण करके उन्हें सही साधना पथ पर आगे बढ़ाना कोई छोटा काम नहीं है। इसके लिए गुरू को आकाश धर्मा बनना पड़ता है, ताकि खुले आकाश की तरह वह पौधे को अपनी क्षमता के अनुसार बढ़ने का अवकाश दे। इसके विपरीत शिलाधर्मी गुरू शिष्य को अपने सीमित ज्ञान और रूढ़िवादिता के आतंक से इस तरह दबा देता है, जैसे किसी पौधे को भारी-भरकम शिला निर्मम्ता से कुचल देता है।

संगीत कला का सम्पूर्ण क्रियात्मक होने के कारण तथा उसका माध्यम स्वर होने के कारण संगीत की शिक्षा में प्रत्यक्ष गुरू के द्वारा गायन-वादन और शिष्य के द्वारा उसका प्रत्यक्ष श्रवण कर पुन

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

उसका अनकरण करके गायन-वादन करना ही वास्तविक विद्या है। इसी गुरू-शिष्य परम्परा में कभी सामूहिक रूप से और कभी व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देने का प्रचलन था। हमारे इतिहास में ऐसी संगीतशालाओं का उल्लेख प्राप्त होता है, जहाँ सामूहिक शिक्षा दी जाती थी, परन्तु जब गायन में मत-मतान्तरों का उद्भव हुआ तब कलाकार इस बात का ध्यान रखने लगे कि उनकी विद्या सुपात्र शिष्य को ही दी जानी चाहिए, जिससे शिष्य योग्य कलाकार सिद्ध होकर उनका नाम उज्जवल करेगा और उनके द्वारा प्रवर्तित गायकी को आने वाले समय तथा आने वाली पीढ़ियों तक भी सुरक्षित रखे। इसी भावना से वे शिष्य को व्यक्तिगत रूप से शिक्षा देते थे। परिणाम स्वरूप आवाज का लगाव, गले की फिरत, राग की बढ़त, आलापचारी का ढंग आदि सभी बातों से गुरू की गायकी का प्रभाव स्वाभाविक रूप से शिष्य पर होता है। शिष्य जब तक निष्ठा और श्रद्धा से अपने गुरू की गायकी को आत्मसात् नहीं कर लेते तब तक गुरू अपने शिष्यों को बाहर के किसी अन्य कलाकार का गायन सुनने की अनुमति नहीं देते थे। इसी कारण सतत् रूप से एक ही प्रकार की गायकी सुनने सीखने और आत्मसात् करने से शिष्य, परिश्रमपूर्वक उस विशिष्ट घराने की गायकी गाने वाले गायक-कलाकार के रूप में समाज के सम्मुख उतरते थे।

रियासतों की समाप्ति के साथ कलाकारों की जीविका का स्वरूप बदल गया संगीत की बढ़ती लोकप्रियता के साथ संगीतज्ञों के लिए मात्र मंचकला प्रदर्शन के अतिरिक्त अनेक बहुमुखी आयाम सामने आये, जिसमें आकाशवाणी, दूरदर्शन और संस्थानों में अनेक श्रेष्ठ कलाकारों को उच्च पद प्राप्त हुए। संगीत विद्यालयों के अतिरिक्त संस्थागत शिक्षण पद्धति की बढ़ती लोकप्रियता के साथ विभिन्न परीक्षाओं के पाठ्यक्रमों को संगीत के नियमित विषय की मान्यता क्रमिक रूप से मिली। पहले केवल प्रारम्भिक कक्षाओं, फिर हाईस्कूल, इण्टर तक के पाठ्यक्रम में संगीत नियमित विषय के रूप में स्वीकृत किया गया। स्नातक स्तर में पर्याप्त समय तक संगीत के विषय के रूप में अध्ययन केवल छात्राओं के लिए निर्धारित था, संगीत कला केवल छात्राओं के लिए उपयोगी मानी जाती थी। आगे चलकर स्नातक, स्नातकोत्तर तक सभी के लिए संगीत नियमित विषय के रूप में स्वीकृत हो गया। मंचकला प्रदर्शन के अतिरिक्त संगीतज्ञों के लिए प्रारम्भिक से लेकरशोध स्तर तक के संगीत अध्ययन का विस्तृत क्षेत्र उपलब्ध हो गया। शास्त्रीय संगीत के विकास, प्रचार, प्रसार आदि में संगीत संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात अपने देश की संस्कृति को पुनरूज्जीवित करने के लिए सांगीतिक संस्थाओं को महत्व मिलना आवश्यक था। स्वतन्त्रोपरान्त अनेक संगीत संस्थाएँ, जैसे-इन्दिरा कला संगीत विद्यालय, 1956, रवीन्द्रभारती विश्वविद्यालय कलकत्ता'1962, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में ''श्रीकला भारती'' महाविद्यालय 1950, संगीत रिसर्च अकादमी, भारतीय कला केन्द्र दिल्ली, दिल्ली विश्वविद्यालय में संगीत विभाग की स्थापना हुई।

प्रारम्भ में उन संस्थाओं से प्रशिक्षित विद्यार्थियों ने यह अनुभव नहीं होने दिया कि संगीत संस्था में शिक्षा प्राप्त करने के कारण उनमें घरानों की गुरू शिष्य परम्परा में दीक्षित विद्यार्थियों की तुलना में किसी प्रकार की कमी है। वे सभी ख्याति प्राप्त कलाकार अथवा सुयोग्य शिक्षक, लेखक, समीक्षक या प्रशासन की भाँति स्थापित हुए। संगीत की उन संस्थाओं से ही पं0 नारायण राव व्यास, श्री विनायक राव पटवर्धन, पं0 ओंकारनाथ ठाकुर, श्री बी0आर0 देवधर, श्री कशालकर, श्रीमती सुमति मुटाटकर इत्यादि का निर्माण हुआ। परन्तु संगीत की संस्थाओं में प्रारम्भ में जिस समर्पित भाव से कार्य हुआ बाद के व्यक्तियों में वह नहीं दिखा। प्रारम्भ में संगीत के संस्थागत ढांचे में गुरू-शिष्य परम्परा के सभी उपयोगी तत्वों का समावेश किया गया था। प्रारम्भ में उन संस्थाओं में उन्हीं विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जाता था, जो सचमुच प्रतिभासम्पन्न होते थे और जो सम्पूर्ण जीवन, संगीत साधना का व्रत लेते थे।

स्व0 पं0 रातंजनकर जी अपनी स्नातकोत्तर कक्षा में उन्हीं विद्यार्थियों को सम्मिलित करते थे जो कम से कम 4-5 वर्ष टिक सकें। उनकी कक्षा की कोई समयावधि नहीं थी, और न यह था कि हर विद्यार्थी को वर्ष के अन्त में परीक्षा में बैठना ही है। उसे परीक्षा की अनुमति तभी मिलती थी जब पं0 रातंजनकर जी आश्वस्त हो जाते थे कि वह उस पाठ्यक्रम पर गुणात्मकता को महत्व देने लगी हैं। वे व्यवसायिक केन्द्र बन गई हैं, जहा अधिकाधिक विद्यार्थियों को प्रवेश देकर संख्या बढ़ाना औरशासन से अनुदान प्राप्त करना लक्ष्य बन गया है।

यह निर्विवाद सत्य है कि संस्थाओं से दो-चार साल में कोई भी छात्र उत्कृष्ट कलाकार नहीं बन सकता। दूसरी ओर एक श्रेष्ठ कलाकार के पास न तो इतना अवकाश है और न धैर्य ही कि स्वर, ज्ञान और राग परिचय से शिक्षा आरम्भ करें। अस्तु समीचीन यही होगा कि विद्यालयीय शिक्षा को प्रारम्भिक शिक्षा समझी जाय और उसके पश्चात् छात्रा सुयोग्य कलाकार कीशरण में जाये, और आज ITC , कलक, KK जैसे अनेक संस्थान हैं जो गुरू शिष्य परम्परा में संगीत की शिक्षा देते हैं, तथा आज के छात्रों से भविष्य में शास्त्रीय संगीत के संवर्धन की आशा की जा सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :-

1. भवानी डॉ0 रानी, शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगीतिक संस्थाओं का महत्व संजय प्रकाशन दिल्ली प्रथम संस्करण
2. राधिका डॉ0 शर्मा, भारतीय संगीत को संस्थान और मीडिया का योगदान संजय प्रकाशन, दिल्ली प्रथम संस्करण
3. ब्रदर्स कृष्णा, चौधरी, सुभद्रा, संगीत संचय अजमेर-1989

कंठ संगीत विषय में पाठ्यक्रम संशोधन की परिकल्पना

डॉ0 नम्रता मिश्रा

पाठ्यक्रम शिक्षा का एक अभिन्न अंग है। यह शिक्षा को बताता है कि उसे कक्षा-विशेष को क्या और कितना बढ़ाना है। यह जानकारी प्राप्त करके शिक्षक एवं छात्र उस विषय को पढ़ने एवं पढ़ाने की उचित तैयारी करते हैं। पाठ्यक्रम के अभाव में शिक्षण कार्य उद्देश्यविहीन एवं अव्यवस्थित हो जाती है।

पाठ्यक्रम के अर्थ के बारे में दो विचारधाराएँ प्रचलित हैं:-

1. प्राचीन एवं 2. आधुनिक

प्राचीन धारणा के अनुसार:- "पाठ्यक्रम विभिन्न प्रकार के ज्ञानों और कुशलताओं का संग्रह होता है जो बालक के दृष्टिकोण से नहीं, वरन् किसी शिक्षा विशेषज्ञ के दृष्टिकोण से होता है।

आधुनिक धारणा के अनुसार- पाठ्यक्रम अनुभवों, क्रियाओं या जीवन की वास्तविक परिस्थितियों का संचय है, जिसमें छात्र भाग लेता है और जिनका वह सामना करता है। अतः हम कह सकते हैं कि पाठ्यक्रम पाठ्य-पुस्तकों, विषय वस्तु और अध्ययन के कोर्स से अधिक विस्तृत होता है।

कण्ठ संगीत में पाठ्यक्रम का महत्वः- स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात जहाँ एक ओर विज्ञान एवं तकनीकी शिक्षा में प्रयोगों की बाढ़-सी रही वहीं दूसरी ओर दुर्भाग्य से संगीत शिक्षण के संस्थागत शिक्षण प्रणाली में बहुत अधिक सुधार नहीं किया जा सका है। संगीत का संस्थागत शिक्षण दो प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से होता है। एक तो केवल संगीत की शिक्षा देने वाली और दूसरी अन्य विषयों के साथ संगीत की शिक्षा देनेवाली संस्थाऐं। इनमें से प्रथम में संगीत विद्यालय और विश्वविद्यालय के संगीत विभाग आते हैं तथा दूसरे वर्ग में सामान्य विद्यालय एवं महाविद्यालय जिनमें दूसरे विषयों की भाँति संगीत की शिक्षा भी दी जाती है।

प्रस्तुत प्रपत्र की लेखिका विगत 12 वर्षों से मथुरा के एक महिला महाविद्यालय में संगीत गायन विषय की वरिष्ठ व्याख्याता के रूप में कार्यरत हैं अतः यह विवेचन मुख्यतः उस क्षेत्र विशेष के सन्दर्भ में कही गयी है।

संगीत विषय की प्रकृति अन्य विषयों से अत्यंत भिन्न होने के कारण इसमें पाठ्यक्रम निर्धारण का कार्य अधिक चुनौतीपूर्ण होता है। संगीत के प्रयोग एवं शास्त्र पक्ष के साथ मंच प्रदर्शन एवं रिकार्ड श्रवण को सही अनुपात में विभाजित करने का कार्य कठिन होता है।

वर्तमान समय में महाविद्यालय की शिक्षण प्रणाली अत्यंत चिन्तनीय हो गयी है। आज संगीत गायन विषय में ऐसे छात्रों को भी प्रवेश देना पड़ता है जिन्हें संगीत की प्राथमिक शिक्षा भी प्राप्त नहीं होती है। ऐसे छात्रों को भी उन छात्रों के साथ ही शिक्षा देनी पड़ती है जिन्हें स्वर लय का पूर्व से ही अच्छा ज्ञान होता है। अतः पाठ्यक्रम भी इस आधार पर ही निर्धारित किया जाना चाहिए जिसमें प्रयोग पक्ष के स्थान पर शास्त्र पक्ष को अधिक विस्तार दिया जाय, जिससे जिन छात्रों को प्रयोगात्मक मंच प्रदर्शन में कठिनाई हो वे अन्य विषयों की भाँति शास्त्र पक्ष को पढ़कर परीक्षा उत्तीर्ण कर सकें। साथ

वरिष्ठ प्रवक्ता, गायन विभाग, आर0 सी0 ए0 कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, मथुरा

ही संगीत गायन विषय में वादन का समय भी कम से कम एक घण्टा अवश्य होना चाहिए जिससे स्वराभ्यास करवाने के पश्चात राग विशेष का गायन प्रारम्भ किया जाये।

पाठ्यक्रम में विभिन्न गायन शैलियों का उचित समन्वयनः-

संगीत गायन में जितनी भी गायन शैलियाँ प्रचार में हैं उनका विस्तृत ज्ञान ना सही परन्तु उनकी मूल विशेषताओं का सैद्धान्तिक एवं प्रयोगात्मक ज्ञान छात्रों को स्नातक स्तर पर ही दिया जाना चाहिए तथा स्नातकोत्तर स्तर पर छात्रों को अपनी स्वेच्छा से किसी भी शैली में विशेष योग्यता प्रदान करने की व्यवस्था की जानी चाहिए। वर्तमान समय में डॉ0 भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, आगरा के कंठ संगीत विषय के पाठ्यक्रम में मात्र विलम्बित एवं द्रुत ख्याल को सम्मिलित किया गया है। इसके अतिरिक्त ध्रुपद, धमार, तराना, लक्षण गीत, सरगम गीत, गजल, भजन को पूर्ण रूप से हटा दिया गया हैं जिन छात्रों को किसी अन्य विश्वविद्यालय से स्नातक के उपरांत शिक्षा प्राप्त करनी हो उन्हें इस अतार्किक एवं विवेकहीन पाठ्यक्रम का परिणाम भुगतना पड़ता है एवं उन्हें भविष्य में किसी स्तरीय विश्वविद्यालय में प्रवेश से वंचित होना पड़ता है।

विभिन्न विश्वविद्यालयों में एकीकृत पाठ्यक्रम की आवश्यकताः-यथा सम्भव अधिक से अधिक विश्वविद्यालयों एवं संगीत शिक्षण संस्थाओं में रागों एवं तालों का समायोजन सरल से कठिन की तरफ निर्धारित की जानी चाहिए। इसके साथ ही यदि सभी विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को Unified या एकीकृत कर दिया जाये तो छात्रों को प्रवेश संबंधी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ेगा। साथ ही यह पाठ्यक्रम विद्वान शास्त्रकार, कुशल कलाकार व वरिष्ठ शिक्षकों के संयुक्त निर्देशन में निर्धारित किये जाने चाहिए, जो अपने निहित स्वार्थ छोड़कर संगीत एवं छात्रों के हित को ध्यान में रखकर पाठ्यक्रम का निर्माण कर सकें।

संगीत विषय के साथ सम्वाद (सामंजस्य) रखने वाले विषयों का समुचित विभाजनः- ऐसी शिक्षण संस्थाओं में जहाँ पास कोर्स के रूप में संगीत गायन विषय के साथ अन्य तीन या चार विषय पढ़ाने की व्यवस्था हो वहाँ निश्चित रूप से संगीत विषय से सामंजस्य रखने वाले विषयों की ही जोड़ियाँ बनायी जानी चाहिए। कभी-कभी छात्रों को अर्थ शास्त्र, अंग्रेजी साहित्य, गृह विज्ञान, राजनीति शास्त्र आदि विषयों के साथ संगीत विषय भी पढ़ना पड़ता है जो एक दूसरे के परस्पर सहयोगी नहीं सिद्ध हो पाते हैं। इनके स्थान पर संस्कृत साहित्य, हिन्दी साहित्य, चित्रकला, मनोविज्ञान एवं इतिहास जैसे विषयों को संगीत के साथ ऐच्छिक विषय के रूप में निर्धारित किया जाना चाहिए। इन विषयों का संगीत से प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से गहरा संबंध होता है। अतः भविष्य में संगीत के क्षेत्र में आगे बढ़ने पर इन विषयों से विद्यार्थी को बड़ी सहायता मिलेगी। स्नातक स्तर पर ही मंच प्रदर्शन को अनिवार्य किया जाना चाहिए तथा Record Listening (संगीत श्रवण) के लिए अलग से समय निर्धारित किया जाना चाहिए। संगीत एक प्रयोगात्मक विषय है अतः इसकी कोमल प्रकृति को पाठ्यक्रम निर्धारण के साथ अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए।

संगीत के क्षेत्र में व्यवसायपरक शिक्षा का महत्वः-

"The curriculum should be viewed as various forms of activity that are grand expressions of the human spirit and that are of the greatest and most permanent significance to the wide world."

T.P. Nunn

एक सशक्त एवं सार्थक पाठ्यक्रम का उद्देश्य छात्र को भविष्य में बेहतर जीवन एवं बेहतरीन आजीविका प्रदान करना भी होना चाहिए। वर्तमान में संगीत गायन विषय मात्र मंच प्रदर्शन या शिक्षण के क्षेत्र में जाने हेतु ही नहीं वरन् अन्य अनेकानेक क्षेत्रों में आजीविका के लिए भी मार्ग प्रशस्त करने लगा है। इनमें संगीत शास्त्र विशेषज्ञ, उद्घोषक, रिकार्डिस्ट, संगीत निर्देशक, संगीत क्रिटिक, पत्रकारिता आदि मुख्य क्षेत्र हैं। पाठ्यक्रम का

निर्धारण करते समय (विशेष रूप से स्नातकोत्तर कक्षाओं हेतु) इन क्षेत्रों को अवश्य ध्यान में रखा जाना चाहिए जिससे संगीत मात्र स्वान्तः सुखाय न रहकर सुदृढ़ आय का भी स्त्रोत बने।

उपसंहार- संगीत शिक्षण एसं जटिल एवं कठिन प्रक्रिया है। शिक्षक को विभिन्न प्रकार की रूचि, आवश्यकता एवं आकांक्षाओं वाले विभिन्न वर्ग के छात्रों को सामूहिक रूप से गायन की शिक्षा देनी होती है। इस समूह में छात्रों का सांगीतिक ज्ञान इतने अधिक स्तरों में विभाजित होता है कि कई बार उन्हें अलग-अलग समूहों में विभक्त भी करना पड़ता है। लेकिन दुर्भाग्यवश संगीत विषय का पाठ्यक्रम छात्रों की विभिन्न आवश्यकताओं के दृष्टिगत रखकर नहीं अपितु एक व्यक्ति अथवा वर्ग विशेष (शिक्षक वर्ग) की सुविधा एवं विवेकहीन तर्कों के आधार पर बना लिए जाते हैं। ऐसे परिवेश में यदि शिक्षक छात्रों की आवश्यकता एवं रूचियों के आधार पर शिक्षा देता है तो पाठ्यक्रम को निर्धारित समय में पूरा नहीं किया जा सकेगा एवं यदि मात्र पाठ्यक्रम को पूरा करना ही अपना कर्तव्य समझता है तो छात्रों की सांगीतिक प्रतिभा का पूर्ण विकास नहीं हो पाता।

अतः आधुनिक संगीत शिक्षा पद्धति तथा उसके पाठ्यक्रम में सुधार की नितांत आवश्यकता है। यह तभी सम्भव है यदि इस विषय पर समकालीन आवश्यकतानुसार अनुसंधान किये जायें तथा शोध परिणामों को शिक्षण प्रणाली में लागू भी किया जाये। इसके साथ ही विश्वविद्यालय मूल्यांकन पद्धति में भी परिवर्तन की आवश्यकता है। मूल्यांकन प्रणाली अत्यंत पारदर्शी एवं स्पष्ट होनी चाहिए। अंकों का निर्धारण करते समय पाठ्यक्रम का गहन अध्ययन किया जाना भी नितांत आवश्यक है। अति उदारतापूर्वक मूल्यांकन एवं गैर जिम्मेदार दृष्टिकोण संगीत के स्तर को गिराने में बहुत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। निश्चित ही ये सभी परिवर्तन एवं संशोधन विद्वानों से विस्तृत चर्चा एवं शोध के उपरांत ही लागू किया जाना चाहिये किन्तु यथा शीघ्र इस दिशा में कार्य अव य प्रारम्भ कर दिया जाना चाहिये। छात्रों के बेहतर भविष्य एवं संगीत के स्तरीय शिक्षण हेतु यह सार्थक कदम उठाना आज की परम आवश्यकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. त्यागी विनोद, सफल शिक्षण कला, पाठक, 1980, पुस्तक मंदिर, आगरा
2. त्रिवेदी राजीव, सम्पादक, भारतीय शास्त्रीय संगीत, शास्त्र, शिक्षण व प्रयोग, 2008, साहित्य संगम इलाहाबाद
3. शर्मा डॉ0 मनोरमा, संगीत एवं शोध प्रविधि, 1990, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़

लोकसंगीत में जीवन का स्पंदन होता मुखरित

प्रमोद कुमार तिवारी

लोकसंगीत दोशब्दो से मिलकर बना है। "लोक" तथा "संगीत" लोक का अर्थ जन-साधारण तथा संगीत का अर्थ है-

'गीतं वाद्यं तथा नृत्य त्रयं संगीतमुच्यते' (संगीत रत्नाकर) अर्थात गायन वादन तथा नृत्य का मिश्रण। अतः लोकसंगीत का सामान्य अर्थ हुआ ऐसा संगीत जो जन-साधारण द्वारा गाया-बजाया जाए।

लोकसंगीत जन-साधारण की आंतरिक भावनाओ का प्रतीक है। यह देश की संस्कृति का एक जीता जागता उदाहरण है। किसी देश की सांस्कृतिक उन्नति का पता, उस देश के लोक संगीत को देखकर चलता है। लोकसंगीत को सहज संगीत भी कहा जाता है। इसे सीखने के लिए किसी बंधन की आवश्यकता नहीं होती है। प्राचीन काल से ही मानव अपने मन के भावो को गाकर, बजाकर या नाचकर अभिव्यक्त करता आ रहा है। अपने सुख-दुख तथा जीवन की अनेक घटनाओ को मानव ने संगीत के माध्यम से अभिव्यक्त किया। अतः हृदय के भावो को (उसी रूप में) व्यक्त करने के लिए जब संगीत का सहारा लिया जाता है, तो वह संगीत लोकसंगीत कहलाता है। लोकसंगीत का प्रचार आदिकाल से ही संसार के हर क्षेत्र में रहा है।

लोकगीत अपनी लोच, ताजगी और लोकप्रियता में मार्ग और देशी दोनो प्रकार के संगीत से भिन्न हैं। लोकगीत सीधे जनता के गीत हैं। इनके लिए साधना की आवश्यकता नहीं होती। त्योहारो और विशेष अवसरो पर ये सदा से गाये जाते रहे हैं और इनके रचने वाले भी अधिकतर अनपढ़, गाव के लोग ही हैं। स्त्रियो ने भी इनकी रचना में विशेष भाग लिया है। ये गीत बाजो की मदद के बिना ही या साधारण ढ़ोलक, झाँझ, करताल, बासुरी आदि की सहायता से गाये जाते हैं।

मार्ग या देशी के सामने इनको निम्न समझा जाता था। अभी हाल तक इनकी बड़ी उपेक्षा की जाती रही, पर इधर साधारण जनता की आ राजनीतिक कारण से जो लोगो की नजर फिरी है तो साहित्य और कला के क्षेत्र में भी मूलभूत परिवर्तन हुआ है। अनेक लोगो ने विविध बोलियो के लोक-साहित्य के पुनरुद्धार में हाथ बटाया है और सभी राज्यो में इस सम्बन्ध का एक विभाग चालू कर दिया है या सार्वजनिक अधिवेशन, पुरस्कार आदि द्वारा इसका प्रोत्साहन, प्रचार और वृद्धिशु कर दी गई है।

लोकगीतो के कई प्रकार हैं। इनका एक प्रकार तो बड़ा ही ओजस्वी और सजीव है। यह इस देश के आदिवासियो का संगीत है। मध्य प्रदेश, दक्षिण छोटा नागपुर में गोण्ड-खाण्ड, और ओराव-मुण्ड भील-सन्याल आदि फैले हुए हैं जिनमें आज भी जीवन, नियमो की जकड़ में बध न सका और निर्द्वन्द्व लहराता है। इनके गीत और नाच अधिकतर साथ-साथ और बड़े-बड़े दलो में गाए और नाचे जाते हैं। बीस-बीस, तीस-तीस आदमियो और औरतो के दल एक साथ या एक-दूसरे के जवाब में गाते हैं, दिशाए गूज उठती हैं।

पहाड़ी प्रदेशो के अपने-अपने गीत हैं। उनके अपने-अपने भिन्न रूप होते हुए भी अशास्त्रीय होने के कारण उनमें अपनी एक समान भूमि है। गढ़वाल, कनार, कागड़ा आदि के अपने-अपने गीत और

शोध छात्र संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

कई गाने की अपनी-अपनी विधियां हैं। इनका अलग नाम ही पड़ गया है-'पहाड़ी'।

वास्तविक लोकगीत देश के गावों और देहात में हैं। इनका सम्बन्ध देहात की जनता-किसानों, अहीरों, धोबियों आदि से है। बड़ी जान होती है इनमें। बेला, कजरी, बारहमासा, सावन आदि मिर्जापुर, बनारस और उत्तर प्रदेश के पूर्वी और बिहार के पश्चिमी जिलों में गाये जाते हैं। बाउल और भटियाली बंगाल के लोकगीत हैं पंजाब में माहिया आदि भी इसी प्रकार के हैं। हीर-रांझा, सोहनी-महीवाल सम्बन्धी गीत पंजाबी में और ढोला-मारू आदि के गीत राजस्थानी में बड़े चाव से गाये जाते हैं।

इन गीतों के विषय साधारणतः राग-द्वेष, प्रणय, विरह, संयोग, आनन्द, विराग सभी हैं, अनन्त विषय जो नित्य के जीवन में प्रकाश पाते हैं। वास्तव में इन देहाती गीतों के रचयिता कोरी कल्पना को इतना मान न देकर अपने गीतों के विषय राजमर्रा के जीवन से लेते हैं जिससे वे सीधे मर्म का स्पर्श करते हैं। उनके राग भी साधारणतः पीलू, सारंग, दुर्गा, सावन, सारठ आदि हैं। कहरवा, विरहा, धोबिया, आदि देहात में बहुत गाए जाते हैं और बड़ी भीड़ आकर्षित करते हैं।

इनकी भाषा के सम्बन्ध में ऊपर कहा जा चुका है कि ये सभी लोकगीत गावों और इलाकों की बोलियों में गाए जाते हैं। क्लासिकल या शास्त्रीय संगीत की भाषा अधिकतर वह नहीं जो गाने और सुनने वालों की है, जो बनावटी और ताल-सुर की जकड़ में बंधकर तो वह और भी कृत्रिम और अबूझ हो जाती है, पर लोकगीतों की भाषा नित्य की बोली होने के कारण बड़ी आह्लादकर और आनन्दमय होती है। राग तो इन गीतों के आकर्षक होते हैं, इनकी समझी जा सकने वाली भाषा भी इनकी सफलता का कारण है। "भाषा बहता नीर" इसीलिए कहा गया है।

भोजपुरी में पिछले अनेक वर्षों से 'बिदेशिया' का खूब प्रचार हुआ है। गानेवालों के अनेक दल इन्हें गाते हैं। ऊपर के भागों में विशेषकर बिहार में बिदेशिया से बढ़कर दूसरे गाने लोकप्रिय नहीं हैं। इन गीतों में अधिकतर रसिकों, प्रियों और प्रियाओं की बात रहती है, परदेशी पिया की; और इनके करुण और विरह का जो रस बरसता है उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जंगल की जातियों के अतिरिक्त सभ्य समाज के अहीरों आदि के भी दल-गीत होते हैं जो अधिकतर विरहा आदि में गाए जाते हैं। अहीरों के वर्ग एक ओर और स्त्रियां दूसरी ओर एक दूसरे के जवाब में दल बांधकर गाते हैं और दिवाली पूजा देते हैं। पर इधर कुछ काल से इस प्रकार के दलीय गायन का अहीरों में ह्रास हुआ है। नगर-गांव के उच्च वर्गों की देखा-देखी में जो स्त्रियों को पर्दे में रखने आदि का आन्दोलन चला तो यह इस प्रकार के सामूहिक गीत-समारोहों का खा बैठा।

एक दूसरे प्रकार के बड़े लोकप्रिय गाने आल्हा के हैं। अधिकतर ये बुन्देलखण्ड में गाये जाते हैं। आरम्भ तो इनका चन्देल राजाओं के राजकवि 'जगनिक' से माना जाता है जिसने आल्हा-ऊदल की वीरता का अपने महाकाव्य में बखान किया। पर निश्चय ही उसके छन्द को लेकर लोकबोली में उसके विषय को दूसरे देहाती कवियों ने भी समय-समय पर अपने गीतों में उतारा और ये हमारे गावों में आज भी बहुत प्रेम से गाए जाते हैं। इनको गाने वाले गाव-गाव डोलकर भिक्षा मांगते फिरते हैं। इनकी सीमा पर उन गीतों का भी स्थान है जिन्हें नट रस्सियों पर खेल करते हुए गाते हैं। अधिकतर ये गद्य-पद्यात्मक हैं और इनके अपने बोल हैं।

अपने देश में स्त्रियों के गीतों की अनन्त संख्या है। ये गीत भी लोकगीत ही हैं, पर अधिकतर इन्हें औरतें ही गाती हैं। इन्हें सिरजती भी अधिकतर वही हैं। वैसे इन्हें रचने वाले या गाने वाले पुरुषों की भी कमी नहीं है पर इन गीतों का सम्बन्ध विशेषतः स्त्रियों से है। इस दृष्टि से भारत इस दिशा में सभी देशों से भिन्न है, क्योंकि संसार के अन्य देशों में स्त्रियों के अपने गीत मर्दों या जनगीतों से भिन्न नहीं हैं, मिले-जुले ही हैं।

ब्याहारों पर नदियों में नहाते समय के, नहाने जाते हुए राह के, विवाह के, मटकोड़, ज्योनार के, सम्बन्धियों के लिए प्रेम-युक्त गालियों के, जन्म आदि सभी अवसरों के अलग-अलग गीत हैं जो स्त्रियां गाती हैं। इन अवसरों पर कुछ आज से ही नहीं, बड़े

प्राचीनकाल से वह गाती रही है। महाकवि कालिदास आदि ने भी अपने ग्रन्थों में उनके गीतों का हवाला दिया है। सोहर, बानी सेहरा आदि उनके अनन्त गानों में से कुछ है। वैसे तो बारहमासे पुरुषों के साथ नारियाँ भी गाती हैं।

एक विशेष बात यह है कि नारियों के गाने साधारणतः अकेले नहीं गाये जाते, दल बाँधकर गाये जाते हैं। अनेक कण्ठ एक साथ फूटते हैं। यद्यपि अक्सर उनमें मेल नहीं होता, फिर भी त्योहारों औरशुभ अवसरों पर वे बहुत ही भले लगते हैं। गाँवों और नगरों में गानेवालियाँ भी होती हैं जो विवाह, जन्म आदि के अवसरों पर गाने के लिए बुला ली जाती हैं। बिहार और पूवह्न उत्तर प्रदेश में छठ पर्व बड़े धूमधाम से मनाया जाता है। इसके गीत बड़े मोहक और लोचदार होते हैं जैसे-

"काँच ही बाँस की बहंगिया,
बहंगी लचकत जाय।
बात जे पुछले बटोहिया,
बहंगी केकटा के जाय।
आन्हर होइब रे बटोहिया,
ई बहंगी आदित मल के जाय।"

सभी ऋतुओं में स्त्रियाँ उल्लासित होकर दल बाँधकर गाती हैं पर होली, बरसात की कजरी आदि तो उनकी अपनी चीज है जो सुनते ही बनती है। पूरब की बोलियों में अधिकतर मैथिल-कोकिल विद्यापति के गीत गाए जाते हैं। विद्यापति ने शिव को लेकर बहुत-से भजन बनाए हैं। 'नचारी' कहते हैं इन्हें। इनका गान मिथिला में खूब होता है। स्त्री-पुरुष सभी गाते हैं। पर सारे देश के कश्मीर से कन्या कुमारी केरल तक और काठियावाड़-गुजरात-राजस्थान से उड़ीसा-आन्ध्र तक सभी के अपने-अपने विद्यापति हैं।

स्त्रियाँ ढोलक की मदद से गाती हैं। अधिकतर उनके गाने के साथ नाच का भी पुट होता है। गुजरात का एक प्रकार का दलीय गायन.'गरबा' है। जिसे विशेष विधि से औरतें घेरे में घूम-घूमकर गाती हैं। साथ ही लकड़ियाँ भी बजाती जाती है।। इसमें नाच-गान साथ-साथ चलते हैं। वस्तुतः यह नाच ही है। सभी प्रान्तों में यह लोकप्रिय हो चला है। इसी प्रकार होली के अवसर पर ब्रज में 'रास' चलता है जिसे दल के लोग गाते हैं, स्त्रियाँ विशेष

गाँव के गीतों के वास्तव में अनन्त प्रकार जीवन जहाँ इठला-इठलाकर लहराया है, वहाँ आनन्द के स्रोतों की कमी हो सकती है? वहाँ अनन्त संख्यक गाने ग्रामीण जीवन के ही प्रतीक हैं।

गीतों के कुछ और प्रकार भी है। इनमें अधिकतर वे हैं जिन्हें गीत कहते भी हैं। इस प्रकार के गीत अत्यन्त आधुनिक संगीत के अंग हैं जिनका प्रचार फिल्मों ने किया है। लोकगीतों को भी अपने रंग में ढालकर उन्होंने उनका प्रसार तो किया ही है। जिन गीतों का हम यहाँ उल्लेख कर रहे हैं, उनका तो जन्म ही फिल्म-स्टूडियों में हुआ है। इन्हें फिल्म-स्टारों, टी0वी0 और कुछ अंशों में रेडियो ने भी गाया और बजाया है। यह देशी-विदेशी और अशास्त्रीय-गँवारू गानों के दोगले रूप हैं।

भारतीय आर्केस्ट्रा के योग से ये गीत गाए जाते हैं। इन्हें एक या अनेक लोग मिलकर गाते हैं। अधिकतर एक लड़का और लड़की, विशेषतः प्रेमी और प्रेमिका, अलग-अलग एक दूसरे के जवाब के रूप में या एक साथ मिलकर भी इन्हें गाते हैं। इस प्रकार के गीत वस्तुतः 'पश्चिम' और नए भारत के मिले-जुले प्रयास से हैं। हॉलीबुड और मुम्बई की फिल्मी दुनिया इनमें आ मिली है। मधुर, तेज टीले, कृत्रिम स्वर में ये गीत गाए जाते हैं। यद्यपि येशास्त्र की दृष्टि से नगण्य हैं तथापि काफी लोकप्रिय हो गए हैं। फिल्मी जगत पर यह इस प्रकार हावी हैं कि अच्छे सगीत का गला घुटता जा रहा है।

इनको जाने-माने लोकप्रिय हिन्दी-उर्दू के विशेष उर्दू के कवि लिखते हैं। अधिकतर वे फिल्म-स्टूडि के नौकर हैं और फिल्म के मालिक 'आर्डर' द विषय और परिणाम बताकर उनसे ये गीत लि हैं।

रेडियो ने जब अति शृंगारिक और अश्ली फिल्मी रिकार्ड बजाने कुछ दिनों बन्द कर दिये तब इन गीतों के लिए काफी हो हल्ला मचा देखा गया कि इनकी माँग इस मात्रा में और इ

प्रबल है कि इनका सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता। एक समय वह भी था जब लोग अपने देश के रेडियो स्टेशनों पर प्रोग्राम बन्द कर सीलोन रेडियो के प्रोग्राम सुनने लगे थे जो निरन्तर इन फिल्मी गीतों के रेकार्ड बजाता रहता था। भारतीय रेडियो ने भी तब हल्के गानों की आवश्यकता पक्के गानों के ऊपर समझी थी और जाने-माने कवियों से गीत लिखवाकर वह उनके रेकार्ड बजाने या कविताओं के गीत-रूप प्रसारित करने लगा था। पर वह प्रयोग सफल न हो सका और फिल्मी रिकार्डों का फिर से आश्रय लेना पड़ा। हाँ, उनके चुनाव में निश्चय अब रुचि को महत्त्व दिया जाता है। रेडियो पर गानों के लिए अनेक एफ.एम. बैण्ड निजी हाथों में हैं। सरकारी बैण्डों परतों संगीतमय और मर्यादित गाने बजाए जाते हैं। लेकिन निजी बैण्डों पर कोई अंकुश नहीं है, फलतः उन पर उत्तेजक और अश्लील गाने खूब बजते हैं।

दूरदर्शन के आगमन के पश्चात रेडियो का महत्व घट गया। दूरदर्शन वालों ने भी इन गीतों की लोकप्रियता को खूब भुनाया। दूरदर्शन के क्षेत्र में भी निजी चैनलों का तेजी से वर्चस्व स्थापित हुआ है। यहाँ तक कि केवल गीत-संगीत के लिए ही अलग से चैनल खुल गए हैं। इन पर धड़ल्ले से अश्लील व अराजक गाने दिखाए और बजाए जाते हैं।

इधर टी0वी0 पर पंजाबी लोकगीत नई-नई धुनों पर दिए जा रहे हैं और कुछ अच्छे कलाकार पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित कर रहे हैं। पंजाबी का पृथक चैनल भी खुल गया है। इसी तरह मराठी, बंगाली आदि के भी चैनल खुल गए हैं।

लोक संगीत की विशेषताएं

1. लोकगीत मानव की सभ्यता तथा संस्कृति पर प्रकाश डालते हैं।
2. लोकगीत का कोई एक जनक नहीं होता है, अर्थात् यह पता नहीं चलता है कि अमुक शैली का जन्मदाता कौन है।
3. लोकगीत मानव जीवन की, उसके सुख-दुख की कहानी को बताता है।
4. यह देश की संस्कृति का रक्षक है।
5. लोकसंगीत किसी नियम से बद्ध नहीं होता।
6. लोकसंगीत में धुनें तीन या चार स्वरों की ही साधारणतया बनी होती है।।
7. यह सरल भाषा में होता है।
8. लोकसंगीत में भाव के अनुसार ताल तथा लय का निर्धारण किया जाता है।
9. लोकगीत किसी प्रसंग को सामने रखकर आगे बढ़ता है।
10. लोकसंगीत में एक ही धुन में कई गीत गाते जाते हैं। अर्थात् धुन तो एक ही रहती है पर कविता (गीत) बदलता रहता है।
11. लोकसंगीत में अनेक वाद्यों का प्रयोग होता है। जो क्षेत्र के अनुसार अलग-अलग होते हैं।
12. लोकसंगीत साधारण जन के सबसे निकट है।
13. लोकसंगीत के माध्यम से मानव अपने भावों को अधिक पूर्णता से व्यक्त कर सकता है।
14. लोकसंगीत में लालित्य कम पर सौन्दर्य अधिक है।
15. लोकसंगीत में सभी रसों की निष्पत्ति होती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा डॉ0 मृत्युंजय, संगीत मैनुअल, एच0जी0 पब्लिकेशन, नई दिल्ली।
2. योगी योगेन्द्रनाथ, कलाकुंज भारती (पत्रिका), पंकजकान्त शर्मा, विधायक निवास, राजेन्द्र नगर, लखनऊ।
3. सिंवाच डॉ0 योगदान, लोक संगीत में सीमावर्ती क्षेत्रों का योगदान, सत्यम् पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली।

कंठ संगीत हेतु स्वराभ्यास के विविध सोपान

आशीष कुमार जायसवाल

भारतीय शास्त्रीय संगीत एक साधनात्मक कला है। वर्षों तक योग्य गुरू के निर्देशन में कठिन परिश्रम के उपरान्त ही साधक इस कला में सफल हो सकता है। यह स्वर प्रधान गायकी है, अतः प्रत्येक शिक्षक एवं शिक्षार्थी को स्वराभ्यास की सही विधि का ज्ञान होना अत्यन्त आवश्यक है। स्वरों पर समुचित रूप से अधिकार न होने से संगीत के किसी भी विद्यार्थी का गायन प्रभावशाली नहीं हो सकता। सुमधुर गायन की प्रथम अर्हता स्वर पर पूर्णरूपेण अधिकार होना है। सही तरह से स्वराभ्यास द्वारा कोई भी व्यक्ति अपनी आवाज को सुधार सकता है एवं गायन को भी वैशिष्ट्य प्रदान कर सकता है। भारत में प्राचीनकाल से ही संगीतज्ञों ने ध्वनि पर अधिकार करने के लिये स्वर साधना पर विशेष बल दिया है।

स्वर साधना हेतु गुरूओं द्वारा बताये गये आवश्यक कुछ मूल भूत सोपान निम्नवत हैं, जिससे स्वर को स्थिर एवं मधुर बनाया जा सकता है-

1. श्वास पर नियन्त्रण- श्रेष्ठ ध्वनि की उत्पत्ति के लिये श्वास प्रक्रिया पर नियन्त्रण आवश्यक है। गायक जितना अधिकार अपने श्वास पर कर सकेगा, उतना ही सधा हुआ उसका स्वर होगा। यदि श्वास टूटने लगेगा, तो गायन प्रभावशाली नहीं हो पायेगा। नियमित रूप से प्राणायाम एवं व्यायाम श्वास पर नियन्त्रण हेतु आवश्यक हैं। श्वास-प्रवास के धीरे-धीरे एवं समान रूप से अभ्यास करने पर ध्वनि को नियन्त्रित किया जा सकता है। श्वास की निर्बाध गति हेतु गायक को अपनी बैठक पर भी ध्यान देना चाहिये, भारतीय शास्त्रीय संगीत का गायन बैठकर किया जाता है, अतः संगीताचार्यों ने बैठक के लिये सिद्धासन एवं वीरासन दो आसन बताये है। इसके अतिरिक्त गाते समयशरीर को सीधा रखना, सिर को न अधिक ऊपर की ओर रखना और ना ही ठुड्डी को नीचे की ओर झुकाना तथा रीढ़ की हड्डी को सीधा रखना भी उपयोगी होगा।

2. मन्द्र साधना- भारतीय संगीत में प्राचीन काल से मन्द्र साधना पर विशेष बल दिया गया है। मंद्र साधना अर्थात् साधक को अपनी वास क्षमता एवं कंठ तारता के अनुरूप मंद्र सप्तक के मूल स्वर षड्ज पर रुक कर अभ्यास करना। इस अभ्यास से आवाज में स्थिरता, शक्ति, गम्भीरता उत्पन्न होती है, साथ ही आवाज की तारता का बोध भी होता है। अपने मध्य-षड्ज से मंद्र सप्तक में जहा तक आवाज का सामर्थ्य हो उस निचले से निचले स्वर तक, कंठ स्थिर करके उस स्वर का लम्बे समय तक उच्चारण करना चाहिये। खरज पर ठहरकर अभ्यास करना स्वराभ्यास हेतु अति महत्त्वपूर्ण है। इसमें 'आ'कार, 'ई'कार, 'ऊ'कार, 'आ'कार आदि स्वरों से मंद्र षड्ज का उच्चारण भी करना चाहिये। एक-एक करके स्थिरतापूर्वक मंद्र स्वरों की साधना से आवाज सध जाती है।

3. अलंकारो का अभ्यास- संगीत अभ्यास के लिये अलंकारो का अभ्यास अत्यन्त आवश्यक है। अलंकारो का विधिवत् अभ्यास अच्छे गायन की मूलभूत आवश्यकता है। इससे विविध प्रकार की तानों के निर्माण में काफी सहायता मिलती है। अलंकारों का प्रारम्भिक अभ्यास गुरु के समक्ष ही

शोध छात्र संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

होना चाहिये, ताकि विद्यार्थी सही प्रकार से अभ्यास करके लाभ उठा सके। विविध प्रकार के अलंकारों का नियमित रूप से अभ्यास करके स्वर पर सही पकड़ सम्भव है। तान का कार्य निश्चित अलंकार के अभ्यास द्वाराशीघ्र समझ में आने लगता है, अलंकारों के भिन्न-भिन्न स्वरूपों के निरन्तर अभ्यास द्वारा आवाज में आलंकारिक स्वर भी स्फुरित होने लगते है।

4. श्रवण कला का अभ्यास- संगीत श्रुति-विद्या है। अतः अच्छा गायक बनने के लिये अच्छा श्रोता होना भी अत्यन्त आवश्यक है। कान की संवेदनशीलता, स्वरों व ध्वनियों को पहचानने की क्षमता के बिना कोई भी अच्छा गायक नहीं बन सकता। न केवल सुनना अपितु उसे गुनना भी आवश्यक है, एकाग्रचित्त होकर सुनने से ही गुरु द्वारा दिया गया ज्ञान पूर्णतया आत्मसात् किया जा सकता है। अभ्यास का अर्थ मात्र स्वयं गाना या बजाना नहीं है। अच्छे कलाकारों को निरन्तर सुनना एवं बारीकी से अध्ययन करके उनके गुणों को ग्रहण करने की कोशिश करना रियाज का सबसे जरूरी हिस्सा है। सुनने से बुद्धि का विकास होता है एवं कल्पनाशक्ति समृद्ध होती है, साथ ही अपनी कमजोरियों को पहचानने की क्षमता बढ़ती है। अतः जितनी एकाग्रता स्वयं गाते समय चाहिये, उतनी ही एकाग्रता श्रवण के लिये भी चाहिये। स्वयं अपने गायन को आलोचनात्मक रूप से सुनकर ही गायन को दोष मुक्त किया जा सकता है।

5. अभ्यास में नियमितता एवं अनुशासन- अभ्यास तल्लीनता पूर्वक नियमित रूप से किया जाना आवश्यक है। जब बिल्कुल सम्भव न हो, तब भी थोड़ा समय निकाल ही लेना चाहिए। इधर-उधर घूमते मस्तिष्क के साथ किये गये अभ्यास का कोई लाभ नहीं, अतः तल्लीनता अनिवार्य है। यान्त्रिकता से बचना भी अभ्यास हेतु अभीष्ट है। लक्ष्यहीन अभ्यास गायक के दोषों को विकसित करता है। अतः मात्र अभ्यास नहीं अपितु सही अभ्यास करना लाभप्रद है। अभ्यास क्रम भी अनियमित नहीं होना चाहिये। एक साथ सब कुछ गा लेना अधिक श्रेयस्कर नहीं है। क्रमशः अभ्यास करते हुए प्रत्येक चरण के हर अंग, हर तकनीक पर ध्यान देना चाहिए। नियमित अभ्यास स्वरों पर नियन्त्रण हेतु अत्यन्त आवश्यक है।

6. आवाज की स्वाभाविकता-स्वाभाविक आवाज में अभ्यास निश्चित रूप से आवश्यक है। गाते समय गले पर अनावश्यक रूप से दबाव डालने से श्वास के स्वतन्त्र रूप से आवागमन में बाधा होती है एवं स्वर तन्त्रिया भली प्रकार से कार्य नहीं कर पातीं। अनेक गायकों का कण्ठ प्राकृतिक रूप से अच्छा होता है, किन्तु जिनका कण्ठ प्राकृतिक रूप से मधुर नहीं होता है, ऐसे व्यक्तियों की आवाज को संस्कारित करना पड़ता है। अतः भले ही आवाज प्राकृतिक रूप से मधुर हो या उसे संस्कारित करके मधुर बनाया गया हो, उसे सुनने में स्वाभाविक लगना चाहिए। स्वाभाविकता के साथ-साथ अभ्यास में स्पष्टता का ध्यान रखना एक महत्वपूर्ण बिन्दु है।

परम्परागत रूप से यह बात स्वीकारी गई है कि किसी भी कला को आत्मसात् करने के लिए अभ्यास का सर्वोच्च स्थान है। शिक्षा यदि बीज है, तो अभ्यास खाद और पानी है। संगीत एक ऐसी अभूतपूर्व कला है, जिसमें पारंगत होने के लिए पूर्ण निष्ठा, ईमानदारी और अनवरत अभ्यास की आवश्यकता है। स्वर ज्ञान कण्ठ संगीत का मूलभूत एवं महत्वपूर्ण चरण है, अतएव समुचित स्वराभ्यास द्वारा अगाध संगीत समुद्र में कुशलतापूर्वक तरण कर पाना सम्भव है। सतत अभ्यास से कलाकार की सृजनात्मकशक्ति में वृद्धि होती है तथा वह चिन्तन एवं कल्पना में सामंजस्य स्थापित करते हुए नव सृजन का शंखनाद करता है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. Agarwala. Vinay K. (1996). Tradition and trends in Indian Music. Rastogi Publications.
2. Narayan. Ram & Sorrell. Neil (1980). Indian Music in Performance: A Practical Introduction Manchester University Press. 1980.

कृष्ण भक्ति काव्य में संगीत तत्व

सीमा कुमा

काव्य तथा संगीत का अन्योन्याश्रित संबंध है। आचार्य शुक्ल के अनुसार काव्य एक बहुत ही व्यापक कला है। जिस प्रकार मूर्त्त विधान के लिये कविता चित्र-विधा की प्रणाली का अनुसरण करती है उसी प्रकार नाद सौष्ठव के लिये वह संगीत का सहारा लेती हैं। नाद-सौन्दर्य से कविता की आयु बढ़ती है तथा ताल-पत्र, भोज-पत्र, कागज आदि का आश्रय छूट जाने पर भी वह बहुत दिनों तक लोगों की जिह्वा पर नाचती रहती है। बहुत सी उक्तियों को लोग उनके अर्थ की रमणीयता समझे बिना ही प्रसन्नचित्त रहने पर गुनगुनाया करते हैं। भारतीय संगीत में काव्य और संगीत का संबंध सर्वमान्य तो है ही साथ ही साथ अनेक पाश्चात्य विद्वानों के कविता और संगीत के अन्योन्याश्रित संबंध का विवेचन किया है। जैसेः- एडगर एलेन पो का मत है कि संगीत जब आनन्ददायक विचारों से युक्त होता है तो उसे कविता कहते है।[1] टामस कारलाइन ने काव्य में छन्दों की सार्थकता पर विचार करते हुए कविता को संगीतमय विचार कहा है।[2] अतः स्पष्टतः काव्य और संगीत का संबंध गहरा है।

काव्य में संगीत के तत्वों का समावेश दो रूपों में होता हैः (1) आंतरिक संगीत के रूप में, (2) बाह्य संगीत के रूप में। आन्तरिक संगीत के अंतर्गत वर्ण-संगीत, शब्द-संगीत, लय और तुक इत्यादि तत्व आते हैं जो भावानुकूल भाषा के निर्माण में बड़ा महत्वपूर्ण योग प्रदान करते है। काव्य के प्रतिपाद्य भाव तथा उनकी अभिव्यक्ति में प्रयुक्त शब्दों से उत्पन्न ध्वनि एक-दूसरे के पूरक होते हैं, उनका रूप पूर्णतः संश्लिष्ट होता है तथा शब्दों में निहित ध्वनियों को विशिष्ट तथा अनुकू सामंजस्य से प्रतिपाद्य के अनुकूल भाषा का निर्मा होता है। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के शब्दों "कविता एक अपूर्व रसायन है।" उनके रस सिद्धि के लिये बड़ी सावधानी, बड़ी मनोयोगिता बड़ी चतुराई की आवश्यकता होती है। रसाय सिद्ध करने में आँच के न्यूनाधिक होने से बिगड़ जाता है वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयो न करने से काव्य रूपी रस भी बिगड़ जाता है अतः सर्वत्र ललित और मधुर शब्दों का प्रयो करना ही उचित है। शब्द चुनने में अक्षर-मैत्री विशेष विचार रखना चाहिए।

गीतों में आन्तरिक संगीत की अनिवार्यता विवेचन करते समय डॉ0 दीनदयाल गुप्त ने जो म प्रकट किया है वह भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय "गायक कवि को अपने पदों को विशेष राग, विशे स्वरों से मंडित करके उन्हें ताल में बाँधना होता ताल-बद्ध रूप प्रदान करना होगा।" अतः संगी के कलात्मक-पक्ष के आग्रह के कारण शब्दों में लो लाना तथा परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता है

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी काव्य और संगीत के अन्योन्याश्रित संबंध का विवेचन क हुए काव्य शब्दों को एक विशेष आरोह-अवरो संगति-संक्रम का संबंध तारतम्य कहा है।

अस्तुः काव्य और संगीत दोनों के आस्वा का माध्यम एक ही है। केवल अंतर इतना है एक का आधार नाद का स्वर व्यंजनात्मक स्वरू दूसरे का आधार नाद का आरोह और अवरोह 4 काव्य में बाह्य संगीत के तत्वों को प्रयोग

संगीत शिक्षिका आर्य कन्या उच्च माध्यमिक विद्यालय नया टोला, पटना

होता है जब कवि संगीतज्ञ भी होता है और संगीत तत्वों का समावेश वह जागरूक होकर करता है। साधारण रूप में इसके समावेश के पाँच मुख्य रूप होते हैं-

1. काव्य में संगीत के अनुकूल लय की योजना।
2. काव्य में संगीत-शैलियों का प्रयोग।
3. काव्य में राग-रागिनियों, वृत्य-रूपों तथा तालों का प्रयोग।
4. काव्य में संगीत की परिभाषित शब्दावली का प्रयोग
5. छंद-विधान।

प्रथम चार तत्वों का संबंध निश्चित रूप से बाह्य संगीत से है। छन्द-विधान के द्वारा जहाँ एक ओर काव्य में आन्तरिक संगीत का समावेश किया जाता है, दूसरी ओर उसके द्वारा ताल और राग में सामंजस्य बैठाने में भी सहायता मिलती है। छन्द और संगीत के अन्योन्याश्रित संबंध इस प्रकार सिद्ध होता है।

कृष्ण-भक्ति काव्य में संगीत के अनुकूल लय का प्रयोग-कृष्ण-भक्त कवियों ने पद-शैली में रचना करते हुए भी विभिन्न छन्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। कृष्ण भक्त कवियों की रचनाओं में लय प्रयोग के दो रूप मिलते हैं। (1) शैली-निरपेक्ष भावानुकूल लय-योजना, (2) शैली-सापेक्ष लय-योजना। सूरदास, नन्ददास तथा परमानन्ददासजी की रचनाओं में भावनुकूल लय का प्रयोग किया गया है। कोमल और मधुर आह्लाद के प्रसंगों में अधिकतर मध्य लय का प्रयोग हुआ है। गतिपूर्ण और ओजपूर्ण स्थलों पर द्रुत लय प्रतिपाद्य की प्रभावत्मकता को द्विगुणित कर देती है, तो करूण और दुःखपूर्ण प्रसंगों में उसका विलम्बित रूप मार्मिकता के संवहन में बड़ा सहायक सिद्ध होता है।

मध्यकालीन कृष्ण-भक्ति काव्य में विभिन्न संगीत-शैलियों के तत्व- भारतीय इतिहास का मध्यकाल ललित कलाओं के विकास का स्वर्ण-युग कहा जाता है। उस समय ग्वालियर, ब्रज-मण्डल और मुगल-दरबार संगीत के मुख्य केन्द्र थे तथा तीनों ही केन्द्रों में संगीत अपनी-अपनी विशिष्टताओं के साथ विकसित हो रहा था। पन्द्रहवीं शताब्दी में ही ग्वालियर के तोमर राजाओं के संरक्षण में संगीत-कला का समुचित विकास हो चुका था। मानसिंह जैसे कलाप्रिय संगीतशास्त्र-वेत्ता के संरक्षण में ध्रुवपद-शैली का परिष्कार और प्रचार भी पहले ही हो चुका था।

इस समय संगीत कला का दूसरा केन्द्र ब्रज था जहाँ वृन्दावन और गोवर्धन के कृष्ण भक्तों द्वारा प्रचारित कीर्तन में संगीत के दूसरे रूप का विकास हो रहा था। इसके अतिरिक्त ब्रज में भारतीय संगीत की शास्त्रीय पद्धतियों का संरक्षण भी वैष्णव भक्तों द्वारा हो रहा था। अतः ब्रज में वृन्दावन, गोकुल और गोवर्धन संगीत के मुख्य केन्द्र थे।

अकबरी दरबार में शास्त्रीय संगीत को पूर्ण संरक्षण मिला। अकबर की गुण-ग्राहकता के कारण अनेक संगीतज्ञ उसके आश्रय में रहते थे जिनके संरक्षण में ध्रुवपद-शैली का विकास हुआ। तानसेन जैसे संगीतविज्ञों ने प्राचीन रागों का परिष्कार किया तथा नये रागों की उद्भावना की।

तत्कालीन संगीत के विकास में पूर्वमध्यकालीन कृष्ण-भक्त कवियों का भी महत्वपूर्ण योग रहा है। उन्होंने विविध संगीत-शैलियों का प्रयोग कर उपयुक्त पदों की रचना की तथा उनका अपनी रचनाओं में समावेश किया। उस समय ध्रुवपद-शैली का विशेष रूप से प्रचार था। ध्रुवपद शैली अकबर के समय में प्रचलित थी। तानसेन के समय में इसका पूर्ण विकसित रूप मिलता है। अनेक संगीताचार्यों ने इस प्रकार का मंतव्य प्रकट किया कि प्राचीन ध्रुवा गीति से संबंधित होने के कारण इसका नाम ध्रुवपद पड़ा है। ध्रुवपद शैली की सबसे बड़ी विशेषता है उसकी गम्भीरता, जो अंतरा, संचारी और आभोग में उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। जिस गायक का श्वास जितना लम्बा होगा, वह उतना ही अच्छा ध्रुवपद-गायक होगा।

मध्यकालीन कवियों की रचनाओं में ध्रुवपद-शैली का प्रयोग-'रागकल्पद्रुम' में अनेक कवियों के नाम से जो बड़े-बड़े पद संकलित है उन्हें ध्रुवपद-शैली के अंतर्गत ही रखा गया है। यद्यपि उनके स्वर-विधान का प्रामाणिक स्वरूप लिखित रूप में नहीं मिलता परन्तु विविध घरानों में उनका परम्परागत रूप चला आ रहा है। 'रागकल्पद्रुम' में विविध कृष्ण-भक्त कवियों के नाम से ध्रुवपद संकलित है।

पदों की योजना में जो बड़ी-बड़ी पंक्तियाँ प्रयुक्त हुई हैं, उनको देखने से यह जान पड़ता है कि ये

पद मानो गायक की दीर्घ श्वास-युक्त स्वर-साधना के निष्कर्ष रूप में निर्मित किये गये है। चतुर्भुजदास, छीतस्वामी, कुम्भनदास, गोविन्दस्वामी आदि की रचनायें अधिकतर इसी शैली में लिखी गई हैं। लम्बे-लम्बे वाक्यों के क्रम में रचित पद ध्रुवपद-गायक की संगीत-साधना के आधार जान पड़ते है। ध्रुवपद-शैली का ठीक रूप निश्चित करना कठिन है, लेकिन यह बात निर्भ्रान्त रूप से कही जा सकती है कि उसमें मौलिक परिवर्तनों की गुंजाइश बहुत कम नहीं होगी, उत्तर-मध्यकाल में ख्याल, टप्पा और ठुमरी जैसी अपेक्षाकृत गम्भीर शैलियों की लोकप्रियता के कारण ध्रुवपद-गायकी प्रायः छोड़ ही दी गई थी।

पदों के ऊपर ध्रुवपद शैली तथा उसके अनुकूल तालों का उल्लेख- जहाँ तक ध्रुवपद शैली में प्रयुक्त तालों का संबंध है उनका उल्लेख भी सर्वत्र नहीं हुआ हैं प्रायः सब कवियों की रचनाओं में विविध रागों का उल्लेख तो है परन्तु तालों का उल्लेख बहुत कम हुआ है। सूरसागर में केवल इने-गिने स्थलों पर 'तिताला' का उल्लेख है, जो अधिकतर 26,27,28 मात्राओं के छन्दों में लिखित पदों में प्रयुक्त हुआ है। ध्रुवपद-शैली में सबसे अधिक प्रयोग चौताल का होता है। इसके अतिरिक्त झम्पा, तीव्रा और सूलफाक तालों में भी ध्रुवपद गाया जाता है। स्वामी हरिदास की रचनाओं का विश्लेषण करने से यह जान पड़ता है कि उन्होंने अपने पदों की रचना ध्रुवपद-शैली में गाये जाने के लिये की थी। अतएव उनकी लय अधिकतर ध्रुवपद शैली में प्रयुक्त होने वाले तालों के अनुकूल है। उनके पदों में प्रायः चार पंक्तियाँ हैं जो ध्रुवपद के चार अंगों (स्थायी, अंतरा, संचारी, आभोग) में बैठाने के उद्देश्य से लिखी गई जान पड़ती है। उनकी गायन पद्धति के मूल रूप का पता लगाना कठिन हैं उनके सम्प्रदाय के साधु-समाज में प्रचलित गायन-पद्धति के आधार पर कुछ शोध किया जा सकता है, हरिदास जी पहले संगीतज्ञ थे, कवि बाद में, यही कारण है कि 'नाद-विनोद' में उन्हें गंधर्व-कोटि का संगीतज्ञ माना गया है। ध्रुवपद जैसे गंभीर शैली के पद का एक उदाहरण इस प्रकार है:-

ध्रुपद (राग ललित)
अनत रति मान आये हो जू मेरे गृह।
अरसीले नैन बैन तोत रात।।
अंजन अधर धरै पीक लीक सोहै आछी।
काहे को लजात झूठी सौं है खात।।
पेंचहूं सँवारत पै पेंचहूं न आवत।
ऐतै पै तिरछी भौंहे करि चितै गात।।
नन्ददास प्रभु जो हिय में बसत प्यारी।
ताही तैं भूलि नाम वाहि कौं निकसी जात।।

ध्रुवपद-शैली के गायन में मृदंग तथा तबले की संगत की जाती है। इन कवियों की परम्परा के निश्चित प्रमाण इनकी रचनाओं में मिलते है।

धमार शैली- उस समय की गायन-प्रणाली की एक दूसरी महत्वपूर्ण प्रशाखा थी धमार-गीतों की। होली से संबंध गीतों को अधिकतर धमार-ताल में गाते हैं। इन गीतों में गोपी-कृष्ण की लीलाओं का वर्णन रहता है। धमार ताल के प्रयोग की इस अनिवार्यता के कारण ही कभी-कभी होली के गीतों को 'धमार-गीत' नाम दे दिया गया है। पहले इसे विलम्बित लय में फिर दुगुन, तिगुन चौगुन में गाते हैं। इसमें लय का चमत्कार प्रधान होता है।

प्रायः सभी कृष्ण-भक्त कवियों ने धमार-गीत लिखे है जिसमें प्रयुक्त लय के द्वारा होली का उल्लास बड़ी सफलता के साथ व्यक्त हुआ है। ये गीत विभिन्न रागों में लिखे गये है। सूरदास के होली संबंधी पदों की रचना छोटे-छोटे चरणों में हुई है और उनका विन्यास इस प्रकार हुआ है कि उन्हें विलम्बित तथा द्रुतलय में बड़ी आसानी से गाया जा सकता है। लय की तीव्रता की वृद्धि के साथ ही होली के उल्लास का प्रभाव भी बढ़ता जाता है। इन पदों में होली, कान्हड़ा, आसावरी, गौरी, काफी, सारंग, तोड़ी, धनाश्री, श्री नटनारायण इत्यदि रागों का प्रयोग हुआ है।

कृष्ण-भक्त कवियों ने समय-सिद्धांत का निर्वाह यथा सम्भव किया है। पुष्टिमार्गीय सेवा-विधि में कृष्ण-सेवा के आठ समय रखे गये है 1. मंगला, 2. श्रृंगार, 3. ग्वाल, 4. राजभोग, 5. उत्थापन, 6. भोग, 7. संध्या, आरती 8. शयन। मंगला-प्रसंग में अधिकतर संधि-प्रकाश रागों का प्रयोग किया गया है। प्रायः सभी कवियों ने इस प्रसंग में विभास, रामकली, ललित, भैरव और भैरवी का प्रयोग किया है। कलेऊ में आसावरी और बिलावल का प्रयोग हुआ है। क्योंकि कलेऊ का समय सूर्योदय के उपरांत होता है। गोविन्दस्वामी ने मंगला के कई

ा में राग श्री राग का प्रयोग किया है; कहीं-कहीं
समय सिद्धांत का व्यतिक्रम भी मिलता है;
न और मालकोस जैसे राग भी मंगला पदों के
ए प्रयुक्त हुए है।

श्रृंगार-प्रसंग में प्रातः कालीन रागों का प्रयोग
आ है तथा बाल-प्रसंग में अधिकतर धनाश्री और
रंग राग प्रयुक्त हुआ है जो संगीत के समय-सिद्धांत
ी कसौटी पर पूर्ण रूप से खरा उतरता है। गोचारण,
जभोग और छाक प्रसंगों में अधिकतर सारंग राग
युक्त हुआ है; इसके अतिरिक्त देवगन्धार, तोड़ी,
टनारायण आदि रागों का प्रयोग भी हुआ है।
ंध्या-आरती में सायंकालीन सन्धि-प्रकाश तथा रात्रि
के राग प्रयुक्त हुए हैं यद्यपि कृष्ण का कार्यक्रम संध्या
के बाद शयन से ही समाप्त हो जाता है, परन्तु
शयन-समय के पदों में रीतिकालीन रागों का प्रयोग
किया गया है। संगीत-योजना में ऋतु कालीन रागों
के प्रयोग की ओर भी इन भक्त-कवियों का विशिष्ट
ध्यान रहा है। पुष्टि मार्गीय सेवा में ऋतु - उत्सवों
का भी विधान था। इस प्रसंग के कीर्तन में इन कवियों
ने शास्त्र-विहित रागों का ही प्रयोग किया है। सम्पूर्ण
पावस-प्रसंग में मलार और उसके विविध भेदों का
प्रयोग किया गया है। हिंडोल के पदों हिंडोल और
मल्हार प्रयुक्त हुए है। वसंत-लीला में अधिकतर वसंत
राग और होली के पदों में विविध उल्लासपूर्ण रागों
का प्रयोग हुआ है।

रीतिकालीन कृष्ण-भक्त कवियों की रचनाओं में संगीत के तत्व- इस काल में अनेक कृष्ण-भक्ति सम्प्रदायों के अनुयायियों ने पद-रचनायें की है। वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्तों का योग इस क्षेत्र में प्रायः नहीं के बराबर है। इसका मुख्य कारण यह था कि पूर्व-मध्यकाल में रचित अष्टछाप के कवियों के पदों की इतना महत्व प्राप्त हो गया था कि वल्लभ-सम्प्रदाय के मन्दिरों की पूजा-उपासना के लिये उन्हीं का प्रयोग आवश्यक माना जाता था। गौड़ीय सम्प्रदाय की रचनायें अधिकतर बंगला और संस्कृत में लिखी गई। राधावल्लभ और निम्बार्क-सम्प्रदाय के भक्तों ने रीतिकाल में अनेक पदों की रचना की। इन कवियों के पद विभिन्न रागों में बँधे हुए है। इन रचनाओं में प्रयुक्त मुख्य रागों का उल्लेख इस प्रकार है- देवगंधार, काफी, बिहागड़ा, वसंत, सोरठ, खमाज, गौरी, कान्हड़ा, सारंग, मल्हार, केदार, रामकली, बिलावल, भैरव, आसावरी।

मध्यकालीन भक्तों के समान ही इन भक्तों ने भी होली घमार के पद तथा वसंत के पद लिखे है। होली के पदों में अधिकतर काफी राग प्रयुक्त होता है। वर्षा ऋतु संबंधी पद अधिकतर मल्हार राग में लिखे गये है। कृष्ण-भक्त कवियों का नरेशों तथा सामन्तों से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं था। नागरीदास तथा घनानन्द इसके अपवाद है। उन्होंने रागों का प्रयोग भावोत्कर्ष के लिये किया है। स्वरलिपि अथवा इसी प्रकार के अन्य साधनों के उल्लेख के अभाव में यह कहना कठिन है कि उन्हें कैसे गाया जाता था। भावानुकूलता के अतिरिक्त समय और ऋतु-सिद्धांत का निर्वाह भी किया गया है।

निष्कर्ष यह है कि संगीत क्षेत्र में अधिकतर कृष्ण-भक्त कवि, परम्परा का ही पोषण करते रहे। घनानन्द और नागरीदास जैसे कवियों ने, जिनका संबंध राज-दरबार से था, उसमें समसामयिक तत्वों का समावेश किया तथा तत्कालीन उदित होती हुई शैलियों के क्षेत्र में नये प्रयोग किये। संगीत और काव्य का संबंध अब भी सम्पृक्त रहा और मध्य काल के समान ही कृष्ण-भक्ति काव्य में तत्कालीन संगीतज्ञों की रसिक-श्रृंगारी वृत्तियों को आधार भूमि प्राप्त हुई।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. Music when combined with a pleasurable idea is poetry. An anthology of Critical statements- P.69- Amar Nath Jha.
2. "For my own part. I find considerable meaning in the old vulgar distinction of poetry being metrial. having music in it. being a song. A musical thought is one spoken by a mind that has penetrased into the in most heart of the thing: detected the in most my stery of it". T. Carlyle. An anthology of Critical Statements. P. 60- Amar Nath Jha.
3. रमज-रंजन, महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 6
4. साहित्य का मर्म, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ 11
5. नन्ददास ग्रंथावली रूपमंजरी, ब्रजरत्नदास
6. डॉ0 जयदेव सिंह, सारंग, 7 दिसम्बर, 1954, पृष्ठ 4 (संगीत के सुनने की कला)
7. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ 380-396
8. नन्ददास ग्रन्थावली, पृष्ठ 53, पद 110

जीवन का सम्पूर्ण विज्ञान- अध्यात्म और संगीत

डॉ0 ज्ञानेश चन्द्र पाण्डेय

अध्यात्म पर बातचीत करना अद्‌भुत अनोखेपन की बात है। उस विरले अर्जुन को इसकी कठिनाई का अनुभव होगा जो मछली को आकाश में देखे और तीर चलाना हो, उसकी परछाईं देख कर पाताल में। सांसारिक आदमी के लिए अध्यात्म पर बहस करना वैसे ही कठिन है पर, यह बात साफ समझनें की है कि अध्यात्म संसार से बाहर की घटना नहीं है। संसार ही के कारण संसारी होने ही के कारण यह अच्छी तरह समझ में आता है।

अध्यात्म समर्पण की साधना का नाम है। प्राणी मात्र की इन्द्रियाँ बाहर की दुनिया को देखती-भोगती हैं। उन्हें यह समझाना की कभी अपनी देह गुफा के भीतर भी झांक कर, रुक कर देखने, समझनें की जरुरत है। इसे जिस पल इन्द्रियाँ माननें को तैयार होती हैं उसी पल अध्यात्म का जन्म हो जाता है। भीतर झांक कर देखने के लिये बाहर की दुनिया से उतनी देर के लिये मुँह मोड़नें का समझौता करना पड़ता है। इस समझौते के साथ ही भीतर दिखाई देनें वाली नवीनता के प्रति अपने को पल से लेकर कल तक के लिये समर्पण करना पड़ता है। समर्पण की यही तैयारी, स्वीकृति और फिर उसमें उतर पड़ना अध्यात्म है। पर इसकी एक अजूबी शर्त है-भीतर भीतर मौन बढ़ाने की। इसके पहले बाहरी संसार को शब्दों के जरिए समझा-समझाया गया होता है। शब्द ही कट कतर कर अवधारणाओं का संसार बनाए होते हैं और ये शब्द अहंकार की भीड़ बना कर प्राणी के भीतर व्यूह रचना करते रहते हैं। भीड़ के बीच किसको साहस है कि वस्त्र उतार अपने प्रियतम के प्रति समर्पण करे? वह भी उस हालात में कि अभी प्रियतम से पहचान करना बाकी ही हो। इसलिए पहली शर्त है अपने भीतर के द्वन्दों को सुलाकर तर्कों को छुपाकर एक मौन की स्थापना। जिसके पहचान हैं आवेगों की जगह मनन की स्वीकृति। यह कैसे हो ? जिस दुनिया को हममे से अधिकांश लोग जानते हैं वह दुनिया डायलॉग से समझ में आती है और संचित रहती है। यह दुनिया बाहर झांकने वाली इन्द्रियों की है। शब्द-शब्द की ईटों से चिनी दुनियां है। इस दुनिया में हर आदमी उस तलवार की तरह है जो म्यान से बाहर निकलकर नाच रही हो एक दूसरे से डरती हुई, एक दूसरे को डराती हुई। म्यान में लौटने की जरुरत समझना, लौट जाना और लौटने को उचित समझना ही अपने घर लौटने का सत्य है। अध्यात्म के सुख का द्वार-आत्म द्वारा आत्मा के द्वार पर लौटना ही है और यह डायलॉग के जरिए नहीं मोनोलॉग के माध्यम से होता है।

अध्यात्म विज्ञान इस मोनोलॉग के आयामों का उद्‌घाटन करता है। उस सीढ़ी की चर्चा करता है जिस पर चढ़ता हुआ मौन-सामान्य से सत्य, ऋत और परम तक प्रस्थान करता है जहाँ बाहर की दुनिया से इन्द्रियों का संवाद ठहरता है, वहाँ मोनोलॉग-स्वसंवाद आरम्भ होता है। पहले देह का मन से मन का बुद्धि से, बुद्धि का अहंकार से चित्त का आत्मा से और अन्तः आत्मा का किसी विराट से। यह विराटतम, सामान्य संसार से इतना बड़ा अकथ, महान है कि फिर आत्मा को पी

वरीय प्रवक्ता, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

लौटने की ख्याल नहीं रह जाती। पीछे लौट कर इन्द्रियों के संसार में फिर से जाने की जरूरत महसूस न हो तो जानो अध्यात्म की बाती मिल गयी। उसे खोजना, आना, अपना बनाना है- जनम भर, जीवन भर।

अध्यात्म की ओर लौटना कब और कैसे हो- यह अबूझ पहेली है, जो सुख भोगते नहीं, समझने लगते हैं वे ही अध्यात्म पथ पर जाते हैं। दुनिया का सुख छोटा लगने लगता है। बड़े सुख की तलाश में अध्यात्म सुख पाने का रिस्क वे उठाने में घबराते नहीं। राम की कथा देखिए न। पहले सोने के हिरण के वध में आसक्त हुए। वह सुख छोटा लगा तो आगे बढ़ते गये लंका तक। वहाँ का अपार सोना भी उन्हें लुभा न सका। ऐसे ही है चित्त की कथा। मुट्ठी भर सांसारिक सुख को खोजते समझते संसार के बड़े सुखों को छोड़ कर, महत्तम सुख- अध्यात्म सुख में विलीन हो जाता है वह। बस शर्त है- सुख भोगिये मत, समझिये। समझियेगा तो भाव के साथ अभाव भी समझ में आ जाएगा। अभाव की अनुभूति अध्यात्म की खिड़की खोलती है इसलिए रोगी, अनाथ, अकाल-ग्रस्त समृद्धि खोया-

अध्यात्म की अनुभूति कर पाता है।

अध्यात्म शब्द की तरह है अधिआत्म। इसका अर्थ होता है अपने आत्म पर महत्तम आत्मा को स्थापित होने देना। श्रेष्ठतम निर्देशन उचिततम् साथ के लिए। महत्तम प्राप्ति के लिए। भारतीय चिन्तन में सुविज्ञ गुरु का जीवन में आना भी अध्यात्म है पर श्रेष्ठतम अध्यात्म स्थिति वह है जिसमें परमात्मा स्वयं ही किसी पर और अधिक मगन हो कर अपनी छाया कर दे। नचिकेता को गुरु यम का मिलना अध्यात्म का एक स्तर है ज्ञान। तुलसी का राम के चरणों में नत होना अध्यात्म का एक स्तर है- भक्ति। अर्जुन पर स्वयं भगवान कृष्ण की छाया हो जाना एक स्तर है-योग।

अध्यात्म और विज्ञान :-

जिस अर्थ में अध्यात्म विज्ञान है, आधुनिक विज्ञान उस अर्थ तक पकड़ बनाने में अभी अक्षम है उसका कारण है आत्मा और चित्त तथा परमात्मा जैसी अवधारणाओं के प्रति अविश्वास। फिर भी कुछ मनोवैज्ञानिक साहस कर आगे बढ़ रहे हैं। प्राचीन भारत के ऋषि मानते थे कि आत्मा एक केन्द्रीय आयाम है जिसके परितः भौतिक देह रहती है। भौतिक देह और आत्मा में छोटे-छोटे कोशों के गुच्छक वलय रहते हैं। वे हैं- अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय। आनन्दमय कोश तब सक्रिय होते हैं जब आत्मा का समर्पण होता है। जाहिर है, यह समर्पण तभी होगा जब आत्मा के सम्मुख कोई महत्तर आत्मा हो। "विलियम जेम्स" नामक मनोविज्ञानी ने भी कुछ ऐसे ही सोपानों की चर्चा की है उसके अनुसार मनुष्य में कुछ परम तेजमय है जिसकी चार जीवन्त और चेतन परतें हैं। पहली परत है- मेटेरियल सेल्फ। दूसरी भीतरी परत है- सोल सेल्फ, तीसरी परत है स्पिरचुअल सेल्फ और चौथी परत है प्योर ईगो या भाद्यात्मका। भाद्यात्मका का बोध तब जागृत होता है जब पहले की परतों के प्रभाव उसे आलोकित न करें। जेम्स कहता है कि निरन्तर अभ्यास से कुछ ऐसा होता है कि यह प्योर ईगो सब में अपना दर्शन करने लगता है। शायद इससे भी ऊँचा कुछ होता है-जेम्स के इस कथन से जो कुछ झलकता है वह है समर्पण की एक प्रक्रिया जो मेटेरियल सेल्फ से शुरु हो कर प्योर ईगो तक, कहिए उससे भी आगे जाती है। इस समर्पण प्रक्रिया से ही आदमी को संसारेतर आनन्द मिलता है। संसार, समाज में रह कर भी सम्भवतः यह स्वीकृति भारतीय अध्यात्म की अवधारणा के पर्याप्त निकट हो।

महर्षि अरविन्द ने आत्म विज्ञान को और आगे बढ़ाया है। उनका कहना है कि आत्मा के परितः चार नहीं है बलय है। बाहर से भीतर क्रमशः ये हैं - भौतिक, प्राणिक, बौद्धिक, चैत्य, आध्यात्मिक और अति मानसिक। भौतिक, प्राणिक, बौद्धिक, चैत्य परतें जब एक दूसरे को समर्पित होती हुई अध्यात्मिक तक पहुँचती है तब विराट आत्मा का जागरण होता है। इस जागरण से कालेतर सत्य, विश्व, सुन्दर आनन्द और परम की अनुभूति होती है। इसी की प्राप्ति अध्यात्म है। समर्पण ही इसका एक मात्र मार्ग है। हार के किया जाय तो भक्ति है। जीत के किया जाय तो ज्ञान। जान के किया जाय तो योग।

गीता में अध्यात्म :-

यूँ तो भारत में प्रणीत समस्त आशी ग्रन्थ अध्यात्म है परन्तु गीता को इस विज्ञान में महारथ हासिल है। सामान्य मान्यता के अनुसार यह ग्रन्थ महाभारत नामक एक युद्ध के सन्दर्भ में लिखा गया है जिससे अर्जुन को युद्ध से पलायन करनें से रोका जा सके। जो भी हो मेरे लिये यह अध्यात्मवाची गुरु ग्रन्थ है। इसमें अध्यात्म को स्थापित करने के लिये बड़ी सुन्दर कथा कही गयी है।

राज, सत्ता, सुख, सन्तान में उलझे हुए हम मनुष्यों में से अधिकांश जैसे आत्म, अध्यात्म के बारे में कुछ नहीं जानते देखते निरे अंधे हैं। ठीक वैसे ही एक अंधे पुरुष ने अध्यात्म को समझने के लिये संयम से समय-समय पर प्रश्न किया है। उस प्रश्न कर्ता की भी आयु राज्य सुख सन्तान में उलझ कर बीत रही है। गीता के प्रथम श्लोक में सम्पूर्ण गीता को समझाने की कुंजी रखी हुई है। अन्धा धृतराष्ट्र प्रश्न के साथ-साथ कुछ विशेषण रखता- ''धर्मक्षेत्रे, कुरुक्षेत्रे'' फिर मामकाः और पाण्डवाः के बारे में पूछता है कि उन्होंने क्या किया ?

धर्म क्षेत्र जिसे कहते हैं धृतराष्ट्र वह सरस्वती नदी और हृयदवती नदी के बीच है। सरस्वती लुप्त धारा है और हृयदवती दिखाई देने वाली धारा है। सरस्वती विद्या ज्ञान की उस धारा के लिये है जो विवेकवानों में होती है। हृयदवती वह व्यवहार कुशलता है जिससे लोग संसार में व्यवहार करते हैं। जो स्पष्ट दिखाई देती है। जिस धर्म क्षेत्र की बात की गयी है वह मनुष्य मात्र का चेतन सहज आत्मवान शरीर है। जिसमें मानव कहे जानें के लिये जो कुछ भी आवश्यक है वह सब है। मानव से ईश्वर में बदले जानें के लिए जो कुछ भी चाहिए वह सब है। उसमें सब कुछ धरा है। रचना और क्रिया दोनों ही दृष्टि से, इसलिए वह धर्म क्षेत्र है। पर जरुरी है कि सरस्वती की धारा और सांसारिक कार्य कुशलता वाले ही इस सत्य को समझ सकते हैं। धृतराष्ट्र ने इस क्षेत्र को दूसरा नाम दिया है - कुरुक्षेत्र। वह इसलिए कि मानव शरीर ही कर्म करने का साधन है। सब अंग, उपांग, आत्मा इत्यादि के रहने के कारण मानव शरीर धर्मक्षेत्र है। तो कर्म करने का साधन होने के कारण कुरुक्षेत्र ह
धर्म - कुरुक्षेत्र में अनवरत एक युद्ध चल रहा है
अनवरत इसलिए इसको 'महा' विशेष दिया। इन्द्रि
के भरण पोषण को केन्द्र मान कर युद्ध किया ग
इसलिए इसे भारत कहा गया। भरण-पोषण इन्द्रि
सुख और अध्यात्म सुख के बीच का युद्ध। इस यु
क्षेत्र में दो पक्ष है पहला मामकाः दूसरा पाण्वाः
मामकाः वे हैं जो इस संसार को परम सत्य मान क
माम् माय, मेरा, मेरे लिए, मुझको का नारा लगा र
हैं जो मानते हैं कि यह संसार मेरे लिए है मैं इसक
स्वामी हूँ। मैं अकेले भोगूंगा। यह भूल कर कि शरी
और भोग की एक सीमा है। उसके बाद न को
भोग है न कोई सुख। ऐसे लोगों की सेना है इन्द्रि
ग्यारहो इन्द्रियाँ (ग्यारह अक्षौहणी सेना का पर्याय
उन्मत्त इन्द्रियाँ, आतुर इन्द्रियाँ, बाहर के समग्र
सुखोपभोग की सामग्रियों में से सूई की नोक भर भ
दूसरों को दान देने के लिए तैयार नहीं। सबक
निष्कासित करते लोग दूसरों को अधिकारों से च्यु
करते लोग। दूसरा पक्ष है- पाण्डवों का। पाण्डव क
अर्थ है प्राण के पाँच आयामों का जो जीवन औ
सृष्टि के केन्द्र हैं। जो इन्द्रिय भोग नहीं ईश-यो
के लिए यत्न कर रहे हैं-सात तेजों के साथ जि
महाभारत में सात अक्षहणी सेना कहा गया। पह
पक्ष के पास ग्यारह अक्षहिणी सेना है। अक्ष उस इ
को कहते हैं जिसमें रथ के पहिये लगे रहते हैं
हणी डंडों के धुरों को कहते हैं जिसमें पहिये क
जाते हैं। ग्यारह की संख्या ग्यारह इन्द्रियों क
बताती हैं जो रथ रुपी शरीर को युद्ध क्षेत्र में दौ
रही है भोग के लिए शोषण के लिए, दूसरों क
अधिकार छीनने के लिए।

दूसरे पक्ष पाण्डव पक्ष के पास सात अक्षहि
सेना है। यह सेना इन्द्रिय निग्रह की है। योग
सप्त चरणों की है जिसके सहारे इन्द्रियों पर वि
होती है। समाधि का, परम मिलन का प्रभु से यो
सम्भव होता है। यम, नियम, आसन, प्रत्याह
ध्यान, धारणा की सेना जिससे समाधि होती
इसलिए तो परम योगेश्वर कृष्ण इस सेना में सम
की जगह स्वयं ही उपस्थित रहे। अर्जुन ने नारायण
सेना की जगह उन्हें ही मांगा। जो योग को जान

है, वह इन्द्रिय सुख नहीं मांगता। जो योगच्युत है वही दुर्योधन की तरह सेना, सोना मांगता है इन्द्रिय सुख मांगता है वह भी भगवान से।

योग से समाधि पाने के संघर्ष में इन्द्रियों को तो मारना ही पड़ेगा। जो इन्द्रिय अपने शरीर से जितना अधिक निकटता जता कर भोग का भ्रम फैलाएगी उसे उतना ही शीघ्र दमन करना पड़ेगा। जब कोई इन्द्रियों को स्वमित्र मान कर दमित नहीं करेगा तो योग समाधि की सफलता कैसे मिलेगी? अर्जुन को यही तो भ्रम हो गया था। तभी तो कृष्ण ने अर्जुन को ललकारा कि स्वजनों को मारने में हिचको मत, नहीं मारोगे तो तुम्हारा अध्यात्म पूरा नहीं होगा। उधर अर्जुन कहते रहे कि उन्हें मार देने से उस कुल का नाश हो जाएगा। जो इन्द्रियों के प्रयोग के कारण पैदा हुआ है। इसके उत्तर में कृष्ण समझाते रहे कि इन्द्रियों के विषय और उनके भोगों के बारे में सोचने से काम, क्रोध, संमोह, स्मृति विभ्रम, बुद्धिनाश होता है। परिणामतः अस्तित्व ही नष्ट हो जाता है।

इन सारे कथनोपकथन के बाद अर्जुन ने निकटतम सम्बन्धियों को मारा। भीष्म को द्रोणाचार्य को और यही है अध्यात्म की निगूढ़ व्याख्या। जब मनुष्य के भीतर का विवेक 'अर्जुन' जागकर इन्द्रिय दमन करनें लगे तो समझो अध्यात्म का सबेरा होना शुरू हो गया। यह सबेरा किसी के जीवन में आ सकता है बात इन्द्रियोन्मुख हो गया विवेक अपनें को किसी अधिक विवेकशील की क्षेत्र-छाया में डाल दे। उसकी सुने। उसकी ही कही हुई करे। अर्जुन जैसे कृष्ण की छाया में समा गये। इस दृष्टि से अध्यात्म वह समर्पण है जो इन्द्रियों की प्रेरणा को नकार कर विवेक से प्रेरित हो कर कृष्ण जैसी परमात्म सत्ता के सामने घुटने टेक दे। अद्भुत बात है जब तक अर्जुन कहते रहे मैं युद्ध नहीं करूँगा, स्वजनों को नहीं मारूँगा। राज्य नहीं लूँगा। तब तक कृष्ण कहते रहे -नहीं तुम युद्ध करो। स्वजनों को (इन्द्रियों को) मारो और राज्य भी लो। अर्जुन ने कृष्ण के सामने समर्पित होकर ज्यों ही यह बात मान ली त्यों ही कृष्ण का स्वर बदल गया। वे कहने लगे - हे अर्जुन छोड़ो अब। तू शरण में आ गया है अब सम्पूर्ण मानव के साथ इसलिए इस राज्य में कुछ नहीं रखा है। मैं तुझे शान्ति का शाश्वत राज्य देता हूँ।

सर्व धर्मान परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ——।

अनुपम है गीता की रचना अद्भुत है अध्यात्म का साक्षात्कार। प्रथम शोध का प्रारम्भ होता है 'मामकाः' से और गीता का उपसंहार समाप्त होता है 'मामेकं' शब्द से। अन्धे धृतराष्ट्र जीत के मामकाः कहा तो गीता शुरू हो गयी। योगेश्वर कृष्ण ने 'मामेकं' कहा तो गीता खत्म। मैंने, मैं, हमारा कहने वाला जीव हार गया जिसने अपने को कृष्ण सखी विराट सत्ता के 'मामं' में डुबो दिया वह विजयी हुआ। आत्म अध्यात्म हो गया।

अतः गीता कहती है- इन्द्रियों का चक्रव्यूह मोह छोड़ कर जिसके प्राणों ने यम नियमादि के साधन से अपने ऊपर परम सत्ता की छाया ओढ़ ली वही अध्यात्म हो गया।

इस दृष्टि से अध्यात्म संसार जीवन में भी बहुत उपयोगी है। बस अध्यात्म को संसार के स्तर पर उतार कर समझनें की जरुरत है। अपने इन्द्रियों से प्रेरित आत्म पर उनकी आत्मा की छाया पड़ने का अवसर दो जो महाजन है, महात्मा हैं अथवा दीन और दलित हैं, जिनकी उपेक्षा करने से तुम ईश्वर की सृष्टि की उपेक्षा कर रहे हो। भगवान केवल ऐश्वर्य युक्त ही नहीं है वह दीन रुप में भी है दरिद्र नारायण भी है। वह अधिकार और मातृभूमि च्युतरण छोड़ के रुप में भी है। उसकी समूह चेता आत्मा का अपने अहंकार ग्रस्त आत्म पर स्वागत करो -शान्ति आयेगी। युद्ध रुकेंगे। धरती स्वर्ग बनेगी और हर एक जन दिव्य होते जायेंगे अर्जुन समेत पाण्डवों की तरह।

अध्यात्म शिखर की ऐसी हालत पैदा होने के लिये कृष्ण को गीता में एक बिल्कुल विशेष तकनीक का प्रयोग किया है। इस तकनीक की ओर इशारा करने के लिए इस ग्रन्थ को 'गीता' कहा अर्थात 'गाया गया' - भीतर से घटित भावात्मक तथ्यात्मक प्रस्तुति की गयी। ऐसी प्रस्तुति जिसमें गायक (कहने वाले) पूर्ण सम में हों। माना कि परिस्थिति युद्ध की थी चिंघाड़, अस्त्रों की चमक, धमण्डी

कथन, मारो-मरो, क्रूरता जैसी विकृतियों के बीच कृष्ण का खुद का सम में होना - अर्जुन की उद्विग्नता को सुर-लय की चिन्तन-पटरी पर चढ़ाकर बिना विकार के 'सम' तक पहुँचने का यत्न करना सचमुच में संसार मंच पर शुद्ध संगीत प्रस्तुत करने जैसा है। इसलिए गीता कथन, परामर्शन, उद्‌भोदन, आज्ञापन से बहुत ऊपर केवल गीत है जो युद्ध क्षेत्र में शंख, भेरी, नगाड़े, शोर, चीत्कार, द्विविधा रस और कायरता की सजावट में प्रस्तुत की गयी।

अठारह अक्षहिणी सेना के प्रतीकों का सब कुछ गीता के अठारह अध्याय में ऐसे सजोकर प्रस्तुत हुआ है मानों संगीत की सात शुद्ध और ग्यारह विकृत जातियों का प्रयोग किया गया हो। इस दृष्टि से गीता के अध्यात्म और जीवन के संगीत पर गीता की निगाह से बात करना एक अलग खोज हो सकती है किन्तु इतना कहने की यहाँ जरुरत है कि पूरा संसार आदमी को आकर्षित किये हुए है जिसमें एक-एक वयक्ति धृतराष्ट्र, दुर्योधन या अर्जुन सा है। जीवन रथ में बहत्तर करोड़ नाड़ियों, सुषुम्ना चक्र, अमृत रस और परमानन्द रस होने का रहस्य मिल जाये उसे अर्जुन जैसा 'न सोच्यति न कांक्षति' का दर्जा मिल जाता है। निष्कामयाब के इस धरातल तक पहुँचने में संगीत रुपी कृष्ण की महानतम भूमिका है। परन्तु ध्यान देने योग्य है कि ऐसा संगीत न बिकाऊ है, न कामुक है। यह न युद्ध में विचलन स्वीकार करता है न गोपी-नायिकाओं के बीच। यह जीवन-स्मरण और नाश तथा प्राप्ति के संगम पर भी शास्त्रीय बने रह कर दावा करता है-

सर्वधर्मान परित्यज्य ममेकं शरणं व्रज
अहं त्वां सर्व कपेभ्योः मोक्षयीस्यामि माशुच।।

वृन्दगान एक उत्कृष्ट रचना

डॉ0 पुनीता वर्मा

वृन्दगान सामाजिक चेतना का एक सशक्त माध्यम बनता जा रहा है। वृन्दगान यह लोगों का मनोरंजन करते हुए वहाँ के जनमानस में विशेष संदेश समाज सुधार, देशभक्ति, जनकल्याण, राष्ट्रीय विकास, समाज में उच्च आदर्शों के लिए प्रचार एवं प्रसार का दायित्व भी निभाता है। वृन्दगान द्वारा जब हम सांस्कृतिक और सांगीतिक लोक शब्द कार्यक्रम प्रस्तुत करते है तो उससे पता चलता है कि राष्ट्र के लिए एकता और अखण्डता जरूरी क्यों हैं, मानव के कर्तव्य क्या है, समाज की बुराईयों को कैसे दूर किया जाय तथा हमारे देश के लिए भला बुरा क्या है? इसलिए वृन्दगान का महत्वपूर्ण योगदान देश के विकास उसके जनजीवन की गतिविधियों में निहित रहती है।

"लगभग विश्व के सभी प्रमुख विद्वानों द्वारा सर्वमान्य रूप से यह सत्य अनुभूत है, क्योंकि लोक साहित्य कला और संगीतकला में लोक की आत्मा अपनी वास्तविक स्वरूप में प्रतिबिम्बत होती है।" इस तरह की सम्पूर्ण गतिविधियों की सही महत्वपूर्ण तस्वीरों की जानकारी हमें वृन्दगान के द्वारा प्राप्त होती है।

वृन्दगान रचना के आवश्यक तत्व -

1. साहित्यिक तत्व 2. सांगीतिक तत्व

3. साहित्यिक तत्व - संगीत स्वयं में परिपूर्ण तो होता ही है यह मानव की आत्मा को आनन्द प्रदान करने वाला भी होता है। आनन्द प्राप्ति की भावना मानव प्रकृति की आधारभूत भावना है। संगीत तन्मयता तो प्रदान करता ही है, साथ में तन्मयता में गाया हुआ संगीत बहुत काम कर सकता है। अपने अन्दर शब्द जागृत करके वही कम्पन बाहरी जगत में Resonance के द्वारा चराचर जगत के जीव-जन्तु को भी संगीत के मीठे स्वरों द्वारा वंशीभूत किया जा सकता है, संगीत तथा साहित्य मिलकर किसी रचना को अमरत्व प्रदान करते हैं। "वस्तुतः साहित्य के बिना वृन्दगान संभव ही नही है। साहित्य के योगदान से वृन्दगान में अधिक निखार आ जाता है। साहित्य इसमें संगीत का मार्गदर्शक बन जाता है। साहित्य से ही हमें पता चलता है कि वृन्दगान रचना का सम्बन्ध रस, भाव, शीर्षक शब्दों की खूबसूरत माला किस प्रकार का है? साहित्य के अनुरूप संगीत को उसी रूप में ढाल दिया जाता है।" [2]

साहित्य तत्व के संकेत से रस भाव के अनुरूप स्वरावली तथा लय, तालादि से गीत बन जाते है। संगीत को साहित्य से प्रेरणा लेकर उसका अनुसरण करना आवश्यक है, संगीत और साहित्य के उचित संयोग से ही एक श्रेष्ठ वृन्दगान रचना पूरी की जा सकती है। किसी भी भाषा में साहित्य हो उसमें वृन्दगान की रचना सरल, सरस, मीठे भावपूर्ण शब्द वाले होनी चाहिए। जिनमें, भाव रस शब्द तथा लय की कमी हो वे वृन्दगान की सुन्दरता को हानि पहुँचाते हैं। आसानी से शब्द तथा लय समझ में आ जाने पर वृन्दगान की लोकप्रियता बहुत जल्दी ही बढ़ जाती है।

जैसे- 1. सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ता हमारा-हमारा 2. बन्दे मातरम् 3. हम होंगे कामयाब 4. मिले सुर मेरा तुम्हारा तो सुर बने हमारा

अध्यक्ष संगीत विभाग डी0डी0 महिला कॉलेज खाजपूरा, पटना

इस वृन्दगान रचनाओं की लोकप्रियता का कारण इनके सरल शब्दावली ही है। इसके विपरीत निर्माण यद्यपि, नियन्त्रण, तदोपरांत आदि भारी शब्द सार्थक होते हुये भी वृन्दगान के लिए उपयुक्त नहीं होते है। वृन्दगान रचना के शब्दों तथा स्वर लय का एक दूसरे में मिलना, विलीन होना, मग्न होना, ध्यान में डूबना, प्रेम या अनुराग, कार्य का कारण रूप में परिणत हो जाना, जगत का नाश या प्रलय आदि संगीत का सहारा पाकर विशेष असरदार हो जाते है। जिन रचनाओं का सम्बन्ध किसी क्षेत्र विशेष से हो उनमें उस क्षेत्र की भाषा के शब्दों का होना भी प्रभावपूर्ण होता है। वृन्दगान रचना की भाषा में संकीर्णता को कोई स्थान प्राप्त नहीं है क्योंकि इसमें कई भाषाओं के शब्द पाए जाते है। आजकल हिन्दी, उर्दू दोनों भाषाओं के आम शब्दों का प्रयोग भी वृन्दगान में होने लगा है। वह रचना बहुत श्रेष्ठ होगी जिसमें गीतकार और संगीतकार एक साथ बैठकर संगीत की रचना करें, वृन्दगान में यह प्रयोग महत्वपूर्ण और असरदार होगा। जिसका गौरवमय इतिहास आज ऐतिहासिक आधार पर प्रमाणित हो चुका है। जैसे- लीलागान की परम्परा प्रकृति से सामंजस्य रखते हुये शाश्वत आत्मशान्ति का प्रेरक होना।

2. सांगीतिक तत्व- गीत के शब्दों को रस व भाव की दृष्टि से सार्थक बनाने में संगीत की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। संगीत के सहारे वृन्दगान बहुत असरदार तथा लोकप्रिय हो जाते है। वृन्दगान रचना का निर्माण करने वाले सांगीतिक तत्व - (I) मेलॉडी (II) आलाप (III) हार्मनी (IV) ताल व लय (V) वाद्यवृन्द (VI) ग्रुपिंग होते है।

(I) मेलॉडी- किसी के प्रति आत्मनिवेदन का प्रसंग प्रस्तुत करना एक व्यक्ति से सम्बन्धित होना, मेलॉडी किसी भी संगीत रचना का एक प्रमुख गुण है। इसे भारतीय संगीत की आत्मा, राग का दूसरा रूप माना गया है। भारतीय संस्कृति को उभारने वाली रचनाएँ मेलॉडी प्रधान होती है। भक्ति गीतों तथा प्राकृतिक सौन्दर्य गीतों को प्रस्तुत करने में इसका भरपूर प्रयोग होता है। ऐसे गीतों की धुनों में रागों की झलक मिलती है। कई गीतों में विभिन्न रागों का प्रयोग भी होता है। इन रचनाओं भारतीय संगीत का भरपूर उपयोग होता है। इसी अनुरूप वाद्य यंत्रों का वाद्य-वृन्द के रूप में प्रयो होता है जैसे- सितार, सरोद, संतूर, शहनाई बाँसु इत्यादि। कई रचनाओं में विभिन्न लयकारियों साथ सरगम का भी प्रयोग किया जाता है जब त अलग-अलग गायन या वादन होगा तब तक मेलॉडी कहा जायेगा। जब वे स्वर एक के बाद ए गाये या बजाये जॉये तो वे रागात्मक मेलॉडिक क जाते है।

भारतीय संगीत मेलॉडी प्रधान है क्योंकि इस स्वरों का प्रयोग किसी एक क्रम से होता है जैसे सा रे ग ध प रे सा -। गायन- जो मनुष्य के क का गुण या उपज है उसी के आधर पर हुआ है और इसलिए भारतीय संगीत में एक समय में एक स्व गाने की प्रथा है।

"पश्चिमी संगीत में गायक एक समय एक ह स्वर गाता है। तथा पियानों ऑर्गन, हार्प के अतिरिक्त सभी वाद्य उसी स्वर की मेलॉडी बजाते है। जल में यदि गायक प्रधान होगा तो मेलॉडी उसके लि उपयुक्त होगी तथा वादक गण अपने वाद्य उसके साथ हामोर्निस करेंगे। जिसे चेबंर म्यूजिक कहते उसमें भी कई वादक एक साथ केवल मेलॉडी बजा है उनके बेलावाद्य-संघ इसी प्रकार बजाते है। शेष वाद्य इस स्वर की हॉरमनी में अपने वाद्य बजा है।" [3]

पाश्चात्य रचनाकार सर्वप्रथम मेलॉडी की ह रचना करते है, संगीत का आदि रूप में मेलोडि ही रही है। पाश्चात्य संगीतज्ञों का मेलॉडी का ज्ञा उतना ही है जितना भारतीय संगीतज्ञों का होता है अन्तर है कि भारतीयों ने मेलॉडी को राग रूप उपयोग किया है और पाश्चात्यों ने उसको अप ढंग से ढ़ाला है। मेलॉडी ही हॉर्मोनी का आध बनती हैं।

(II) आलाप- वृन्दगान में आलाप आजक आवश्यक अंग बन गया है। वृन्दगान में आला की भूमिका सराहनीय रहती है आलाप से वृन्दगा में, रोचकता, सरसता, विविधता का संचार होता तथा भावों को प्रोत्साहन देने में रचना के विकास

आरम्भ से ही आलाप का प्रस्तुतीकरण मेलोडी तथा हारमनी दोनों विधियों से किया जाता है जो कि लयबद्ध होता है। कई बार आलाप की शुरूआत व्यक्ति द्वारा हं हूं से किया जाता है। प्रादेशिक रंग तथा विशिष्ट संबोधनोंओं के लिए कई अन्य आलाप तथा शब्दालाप किये जाते हैं, जो सुनने में बहुत सुंदर प्रतीत होता है। आदिवासी जंगली या कबीलों से सम्बन्धित वृन्दगान में, हो, हो-हो-हो आलाप उचित प्रतीत होता है। ये आलाप पहाड़ी भावनाओं यथा ये रब्बा रे भोंडी गीतों का ओय-होये, हाय-राम, राम हो जैसा रे, आदि शब्दालाप साहित्यिक नहीं होते हुए भी वृन्दगान में रोचकता पैदा करता है। आलाप का प्रयोग वृन्दगान के बीच में स्थायी से पहले या अन्तरा उठाने से पूर्व किया जाता है तथा समाप्ति भी आलाप से ही की जाती हैं।

(III) **हारमनी**- "प्राचीन विद्वानों का विश्वास रहा है कि संगीत विश्व की परिपूर्ण गणितिक हारमनी प्रस्तुत करता है।" "पाश्चात्य संगीत 15 वीं 16 वीं शताब्दी से ही हारमनी का प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। उससे पूर्व की सांगीतिक रचनायें-जो उनके द्वारा प्रस्तुत की गई थी उसमें पूर्णतः मेलॉडी का प्रयोग ही अधिक दिखाई सुन्दर पड़ रहा था, रचनाएँ सामूहिक थी। सप्तकान्तर से महिला या बच्चों की सप्तकान्तर आवाज में बीच-बीच में संगीत की जाती हुई सुनाई देती थीं। अतः इस संदर्भ में यह मान्यता सार्थक प्रतीत होती है कि संगीत का आदि रूप मेलोडिक ही रही है।" [3]

जब तीन स्वरों का एक साथ प्रयोग होगा जैसे- प्यानों या आर्गन-हारमोनियम जैसे वाद्य में एक साथ तीन परदों को दबाकर तीन स्वरों को उत्पन्न किया जायेगा तब उसे हारमोनी कहेंगे। हार्मोनी के अंतर्गत प्रयुक्त स्वरों में संवाद होना चाहिए। तीन व्यक्तियों के कंठ से या तीन वाद्यों के द्वारा एक साथ अभिव्यक्त होना चाहिए। वृन्दगान में इसका प्रयोग बहुत बढ़ गया है। चमत्कारपूर्ण प्रवृति को उभारने तथा रचनाओं को कलात्मक ढंग से प्रस्तुत करने के लिए किया जाता है। इसमें गायकों के ग्रुप बना दिये जाते है। एक ग्रुप जिस स्वर या स्वरावली को लेता है दूसरा ग्रुप उसी के सम्वादी स्वरों को लेता है। तीसरा या चौथा ग्रुप भी इसी प्रकार के सम्वादी स्वरों को लेता है, इस प्रकार एक समय सागपसा रेमधरें गपधिगं मधसामं आदि कई स्वर समुदाय उत्पन्न हो जाते है।

वृन्दगान में हार्मोनी का प्रयोग कई बार से किया जाता है। गीत के शब्दों में, वाद्य यंत्रों से 'कार्ड' द्वारा गीत भराव के लिए, रंजकता के लिए तथा विचित्रता की अनुभूति होने के लिए सावधानी से हार्मोनी प्रयोग में लाया जाता है। एक समूह आलाप को कई आवर्तन को पूरा करता है, फिर दूसरा समूह ठीक एक ताल के आवर्तन के उपरांत उसका उठान करता है। इस प्रकार हार्मोनी में पंक्ति की श्रृंखला जैसी बन जाती है, और एक शब्द के थोड़ी देर बाद फिर से वही शब्द सुनाई देने लगता है, जिससे वृन्दगान की छवि गुंजायमान हो उठती है।

(IV) ताल व लय - आजकल वृन्दगान में ताल तथा लय का अधिक प्रयोग होने लगा है। रसभाव को दिखाने में, सवांरने में, निखारने में वृन्दगान की रचनाएँ स्वर प्रधान न होकर, ताल तथा लय प्रधान होती जा रहीं है। गीत की स्वर रचना को , सरगम, आलाप तथा विभिन्न लयकारियों द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है। जिससे वृन्दगान का अधिक प्रभाव आमलोगों पर हो रहा है। इस गान में कहरवा, दादरा, खेमटा आदि तालों का प्रयोग बहुत ही सुन्दर ढ़ंग से किया जा रहा है। कुछ मैलोडी प्रधन रचनाओं को छोड़कर अधिकांश रचनाओं में तालों का शास्त्रीय रूप नहीं होता है। इन रचनाओं में ताल के कई प्रकारों के रूप को संजोया जाता है।

ताल के जोरदार आघात से गीत के खाली जगहों का भराव किया जाता है। ताल को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए एक तबला के साथ दो ढ़ोलक या एक ढ़ोलक के साथ दो तबला जिसे 'टीप' का तबला भी कहते है। उसके साथ ताल के भराव के लिए, मेरांक्स, कांसी, डफली, खंजरी, झांझ आदि घन वाद्यों का भी प्रयोग किया जाता है। देशभक्ति के गीतों में ताल वाद्य अधिक से अधिक उपयेाग होते है। आजकल वृन्दगान के साथ जाज सैट, कोंगा-बोंगा आदि विदेशी वाद्यों का भी कॉफी प्रयोग हो रहा है।

(V) वाद्यवृन्द - वृन्दगान में स्वर का भराव करने के लिए वाद्यवृन्द का प्रयोग किया जाता है। गायन में सहायता मिलने के कारण इससे हार्मोनी को बनाने में भी सहायता मिलती है। वृन्दगान में हार्मोनी को बनाए रखने के लिए विशेष रूप से गिटार का प्रयोग होता है जिससे गायन के स्वरों के साथ संवादी स्वरों के 'कार्डस' बनाये जाते है जो संगीतमय वातावरण को बनाये रखते हैं। इससे गायको को बहुत सहायता मिलती है।

वाद्यवृन्द द्वारा जहाँ वृन्दगान के खाली स्थानों का भराव किया जाता है वहीं इसका स्वतन्त्र प्रयोग स्थायी गाने के बाद होता है। स्थाई गाने के बाद तथा अन्तरा उठाने से पूर्व के समय को वाद्यवृन्द द्वारा भरा जाता है। इससे जहाँ गायकों को विश्राम मिलता है वही वृन्दगान की मधुरता बढ़ जाती है।

(VI) ग्रुपिंग- वृन्दगान की श्रेष्ठता का श्रेय गायकों के ग्रुपिंग पर अधिक निर्भर होता है। वृन्दगान के गायक-गायिकाओं का चयन बहुत सूझ-बूझ से किया जाता है। इसमें उनकी संख्या उनकी आवाजे तथा वाद्यों का चयन किस प्रकार का हो इस पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इन सब बातों का निर्णय वृन्दगान की रचना पर निर्भर करता है। कलात्मक रचनाओं के लिए हल्की तथा फिरत मानी जाती है। वीर-रस से भरपूर देश-भक्ति गीतों में आवाज की तारता (Pitch) पर ध्यान देना ज्यादा जरूरी होता है क्योंकि इसकी रचना में साहस, जोश, भावों को प्रोत्साहन मिले, और गुरु ऐसा बने जिनकी आवाजे आपस में मिलती हो। प्रत्येक गायक अनुशासन में रहकर वृन्दगान को तभी वृन्दगान रचना की श्रेष्ठता का उच्च प्रदर्शन सिद्ध हो सकता है।

वृन्दगान यह मानसिक तनाव तथा व्याधियों को दूर करने में भी सक्षम है। Music की Harmony मन को मुग्ध कर शान्ति प्रदान करती है। अतः संगीत में स्वर, लय, ताल, वाद्यवृन्द, आलाप, मेलॉडी हारमनी के साथ वृन्दगान को उच्चतम स्थान दिया गया है।

संदर्भ

1. गुप्ता डॉ0 लिपिका दास, संगीत शास्त्र चिन्तन - पृ 0- 148
2. वर्मा डॉ0 चमनलाल, संगीत पीयूष निधि - पृ 0 - 33
3. भातखण्डे विष्णु नारायण, भारतीय संगीत शास्त्र - पृ 0- 485
4. गर्ग लक्ष्मी नारायण (स0), संगीत शोध लेख अं - पृ 0- 17, 1995, हाथरस
5. भातखण्डे विष्णु नारायण, भारतीय संगीतशास्त्र - पृ 0- 485

रागदारी संगीतः- विभिन्न घरानों के सन्दर्भ में

दिशा भटनागर

प्राचीन काल से ही भारतीय शास्त्रीय संगीत के विकास में 'घराना' परम्परा का अमूल्य योगदान रहा है। 'घराना' की परम्परा संगीत के प्रायोगिक पक्ष का अभिन्न हिस्सा रही है। कलाकार चाहे कितना भी पारंगत क्यों न हो, विद्वित समाज में उसके सही आकलन के लिए उसे किसी न किसी घराने से जुड़ा रहना आवश्यक होता है। अन्यथा उसे समाज में विद्वानों के मध्य यथोचित आदर एवं सम्मान प्राप्त नहीं होता। यही कारण है कि आज के प्रसिद्ध गायक-वादक 'गुरू-शिष्य परम्परा' अथवा घराने के आधार पर ही सम्मानित होते हैं।

घराने की अवधारणाः- संगीत में घराने का अर्थ है, किसी प्रतिष्ठित गुरू अथवा संगीत शास्त्रों द्वारा विचित्र एवं विशेष शैली में प्रवर्तित कला का उसी शैली अथवा रीति से, अपने शिष्यों के माध्यम से उसका विकास प्रचार एवं प्रसार। यही विशिष्टता प्राप्त शैली उस संगीत शास्त्री या उसके निवास स्थान के नाम से घराना कहलाकर विकसित होती है। 'डा0 अबान, ए0 मिस्त्री' नें घराने की एक बड़ी सुन्दर परिभाषा दी है। उनका कहना है कि कोई एक असाधारण, प्रतिभाशाली, प्रबल महत्वाकांक्षी और कुछ विशेष कर दिखाने की क्षमता पात्र व्यक्ति जब अपनी परम्परागत विद्या में एक अभिनव कल्पना का निर्माण करता है, तक उसकी कला निर्मित में एक पृथक दृष्टिकोण के पूर्ण वैशिष्टय का उद्भव होता है, जो बाद में कुछ विशेष नियमों और सिद्धान्तों से अनुवंचित हो जाती है। शनैःशनैः दूसरे लोगों की शैली से उस शैली की वंदिशों में इतना अधिक अंतर सुस्पष्ट हो जाता है जिसकी पृथकता तुरन्त पहचानी जा सकती है, तब वह शैली घराना बन जाती है, जो शिष्य परम्परागत स्वाभिमान और कट्टरता पूर्वक निभाई जाती है। घरानों के आद्यकर्ता के प्रति श्रद्धा, प्रेम और शिष्टता की भावना उसके नियमों को अक्षरशः पालन की क्षमता तथा उसके प्रति गौरव और अभिमान के प्रति घराने के परम्परागत विकास का मूल स्त्रोत मानी जा सकती है।

घरानेदार गायकी हिन्दुस्तानी संगीत की प्रमुख विशेषता है। आनुवांशिकता, संयम स्वर, प्रामान्य लय संस्कारित, स्वर व स्वर-साधित लय आदि कुछ ऐसे तत्व है, जिनका कम व अधिक प्रयोग ही विभिन्न घरानों की गायकी की पहचान रूप में परिलक्षित होता है। घराना जिस विशिष्ट कलाकार के नाम पर जाना जाता है, वह गायन शैली के किसी भी अंग को इतने अधिकाधिक एवं आकर्षक शैली में प्रस्तुत करता है कि वह उस घराने का प्राण स्वरूप बन जाता है, जिसे उस गुरू के निष्ठावान एवं प्रतिभा शाली शिष्य अपनी विशेष साधना के द्वारा और विकसित एवं सुशोभित करते हैं और साथ ही परम्परा को भी आगे बढ़ाते हैं।

घरानेदार संगीत शिक्षा का आधार-प्राचीन गुरू-शिष्य परम्परा—भारतीय संगीत में प्राचीनकाल से वर्तमान तक केवल प्रतिभाशाली एवं लगन रखने वाले शिष्यों को ही शिक्षा देते थे। यह शिक्षा शिष्य की पूर्ण परीक्षा लेने के बाद ही दी जाती थी। गुरू अपने शिष्य से कठिन साधना करवाते थे। शिक्षा इस प्रकार दी जाती थी कि कहीं भी कोई कमी न

संगीत एवं ललित कला संकाय दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

रह पाये। शिष्यों को भी अनुशासनबद्ध होकर रहना पड़ता था एवं गुरू के कथनानुसार ही अभ्यास करना पड़ता था। अपनी विशेष प्रकार की शैली में वह पारंगत हो जाते थे जिससे उनकी कला में निखार आता था।

घरानों का उद्भव एवं विकासः- संगीत में घराना शब्द का उल्लेख कब हुआ, यह कहना कठिन है। कुछ विद्वानों का कथन है कि घरानों की परम्परा महज ढाई तीन सौ वर्षों से अधिक नहीं है। अधिकतर विद्वानों के अनुसार, घराना शब्द मुगल काल में प्रचार में आया। मुसलमान एवं मुगल बादशाहों के दरबारों में गायन, वादन एवं नृत्य करने वाले कुशन कलाकारों को आश्रय मिलता था, जो अपने कला से बादशाहों का मनोरंजन करते थे। इन राजाश्रय प्राप्त कलाकारों के परिवार की जीविका इसी से निर्वाह होती थी। इन कलाकारों का, जो अपने श्रृंगार-रस युक्त गायन, वादन तथा नृत्य से राजाओं को संतुष्ट कर सम्मान पाते थे, राज सभा में विशेष स्थान था। राजदरबारों में स्थान प्राप्ति हेतु इन कलाकारों में प्रतिस्पर्धा की भावना उत्पन्न हुई। यह कलाकार अपने बाद उस स्थान पर केवल अपने ही वंशजों को आसीन कराना चाहते थे। इसी कारण वश इन विशिष्ट कलाकारों द्वारा अपने वंश के लोगों को ही वंश परम्परागत शिक्षा देना प्रारम्भ किया गया और क्रमशः यह शिक्षा घरानेदार शिक्षा कहा जाने लगा।

भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि पर भारतीय शास्त्रीय संगीत का लालन-पालन हुआ था, जिसके कारण वह मुस्लिम शासनकाल में भी पवित्रता एवं आस्था की सर्वोच्च शिखर पर आसीन था। परंतु ब्रिटिशों के द्वारा पोषित पाश्चात्य जमींदारी खत्म होने पर राजाश्रय न मिलने से कलाकारों को बहुत मुश्किलों का सामना करना पड़ा। भिन्न-भिन्न रूचिवाले श्रोताओं को संतुष्ट करने के लिए कलाकार अपने पूर्ववत शैली में ही निबद्ध नहीं रहे, अपितु उन्होंने दूसरे घरानों की विशेषताओं को भी अपना लिया।

घरानों की अन्तिम कड़ी के रूप में पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे एवं पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर का नाम प्रातः स्मरणीय है। इन दोनों महान विभूतियों ने अपने अथक प्रयत्नों से संगीत का पुनरुद्धार किया एवं इसे सर्वजन सुलभ बनाने में महत्वपूर्ण योगदान किया।

ख्याल गायकी एवं उसके घरानेः- आज शास्त्रीय गायन के रूप में अधिकतर गायक ख्याल ही गाते है। फ्रांसीसी भाषा में ख्याल शब्द का अर्थ है 'विचार' या 'कल्पना' अर्थात गायक अपने कल्पना शक्ति के आधार पर राग की सीमा को ध्यान रखते हुए जो गायन प्रस्तुत करता है, उसे ख्याल कहते है। ख्याल गायन में अधिक घरानों की बात इसलिए संभव हुई है क्योंकि इसमें गायक के व्यक्तित्व को कभी नकारा नहीं जाता, अपितु इसमें कलाकार की प्रतिभा को असीमित अवसर प्राप्त होता है। ख्याल गायकी की लोकप्रियता का कारण यह भी है कि इसमें ध्रुपद, धमार की गंभीरता, टप्पे की कुछ तानें ठुमरी गायकी की मृदुलता एवं तराने की लयकारी सब प्रकार की गायकी के अंगों का समावेषन होते हैं। ख्याल गायकी के अविष्कार का श्रेय अमीर खुसरों, सुलजन, बाजबहादुर, सुलतान हुसैनशाह शर्की आदि को दिया जाता है। परन्तु इस शैली के प्रचार का श्रेय सदारंग और अदारंग नामक दो भाईयों को ही दिया जाता है, जो सम्राट मुहम्मद शाह रंगीले के सभा गायक थे, तथा जिन्होंने सैकड़ों ख्याल बंदिशों की रचना की। इन्हीं रचनाओं को अलग-अलग शैलियों में प्रस्तुतिकरण के आधार पर अलग-अलग घराने बनते गए।

सैंकड़ों वर्षों से लोकप्रिय ख्याल गायन शैली घराना परम्परा से और विकसित एवं गायकों की व्यक्तिगत प्रतिभा से पुष्पित एवं पल्लवित हुआ। हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के ख्याल गायकी के प्रमुख घराने निम्नवत् है-

ग्वालियर घरानाः- ग्वालियर की ख्याल गायन शैली प्राचीन, शास्त्रोंवन्त एवं रंजक होने से संगीतज्ञ इसे सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। 'नत्थन पीरबख्श' को ग्वालियर घराने की ख्याल गायकी के अन्वेषक कहा जाता है, गायकी में आलाप, बोलतान, दानेदार सरल व सपाट तान, वक्र व पंचदार तानों का विशेष प्रयोग व तीनों सप्तकों में विशिष्ट स्वर साधन

आदि इस घराने की विशेषतायें है। अल्लैया, मियां मल्हार आदि इस घराने के गायकों का पसंदीदा राग है, एवं शिष्य परम्परा में बाल कृष्ण बुआ इचलकरंजीकर, पंडित विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, पं० विनायक राव पटवर्धन, डी०वी० पलुस्कर, कृष्णराव पंडित, राजा भैया पूछवाले, ओंकार नाथ ठाकुर, कुमार गंधर्व आदि इस घराने के विशिष्ट प्रतिनिधि है।

जयपुर घरानाः- जयपुर के आमेर किले में ख्याल गायकी के इस विशिष्ट घराने का जन्म हुआ। जयपुर के करामत अली एवं मुबारक अली लखनऊ वाले इस घराने का जन्मदाता कहा जाता है। इस घराने की विशेषताओं में पारम्परिक बंदिशों का गायन, मुलायम एवं कलानात्मक ढंग से बंदिशों के शब्दोच्चारण, वक्र तथा अप्रचलित रागों का बाहुल्य, गले पर पूर्ण नियन्त्रण, पेंचदार, दानेदार, गमकयुक्त तथा अलंकारों के विभिन्न अंगों से सजी हुई तानों का प्रयोगों एवं विलम्बित तीनताल, रूपक, झपताल एवं आड़ाचौताल में गायन आदि प्रमुख है। काफी, कान्हड़ा, सूहा-सुघराई, त्रिवेणी, गौरी, सावनी एवं जोग राग जैसे सम्पूर्ण मालकौंस, बसन्त, केदार, कौंसी-कान्हड़ा, अड़ाना-बहार, ललित-गौरी नट-कामोद आदि प्रमुख राग है। गायकों में केसर बाई केरकर, मल्लिकार्जुन मंसूर, निवृत्ति बुआ सरनाइक, मोंधूबाई कुर्डीकर, किशोरी अमोनकर आदि प्रमुख है।

किराना घरानाः- किराना घराने का नामकरण उत्तर प्रदेश के प्रबुद्ध नगर जिले के एक तहसील कस्बा किराना से हुआ माना जाता है। उस्ताद अब्दुल करीम खाँ किराना घराना के वास्तविक संस्थापक कहलाते है। यह घराना मूलतः बीनकारों का घराना कहलाता था, जिसे अब्दुल करीम खाँ ने गायन के घराने के रूप में प्रतिष्ठित किया। सुमधुर एवं रसपूर्ण गायकी, गला सिकोड़ कर आवाज लगाने की विधि, चैनदारी एवं स्वरों का सुरीलापन, स्वरों की तरफ अधिक झुकाव, कणों की प्रचुरता तथा तोड़ी, पूरिया, दरबारी एवं मालकौंस रागों की विशेष अभिरूचि आदि विशेषताएँ इस घराने को विशिष्ट बनाते हैं। ख्याल गायकों में उस्ताद अब्दुल करीम खाँ, उस्ताद बंदे अली खाँ, सवाई गंधर्व, हीराबाई बडोदकर, सरस्वती राणे, सुरेश बाबू, रोशन आरा बेगम, गंगूबाई हंगल, पंडित भीमसेन जोशी आदि रहे हैं। अब्दुल करीम खाँ ने ही सर्वप्रथम 'झूमरा' को विलम्बित में प्रयोग कर ख्याल गायकी को नई दिशा प्रदान की।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः-

1. शर्मा स्वतंत्र, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण, टी०एन० भार्गव एण्ड सन्स . इलाहबाद।
2. मराठे डॉ० मनोहर भालचन्द्रराव, ताल वाद्यशास्त्र एक विवेचनः, शर्मा पुस्तक सदन, ग्वालियर।
3. फुकन वीरेन्द्र कुमार, राग संगीत, श्रुति गुवाहटी असम।
4. मिस्त्री डॉ० ए०, पखावज और तबला के घराने एवं परम्पराएँ, स्वर साधना समिति, बम्बई।

ख्याल गायन में भक्ति परक बंदिशों का महत्व

स्मृति शुक्ल

संगीत का ललित कलाओं में प्रमुख स्थान रहा है। भारतीय विद्वानों का मत है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रदायक संगीत है। संगीत कला का भौतिक उत्कर्ष और यश के अलावा आध्यात्मिक सुख व संतोष का भी साधन मानी जाती रही है। संगीत कला को ही हमारे ऋषि - मुनियों ने मोक्ष प्राप्ति का सीधा एवं सरल मार्ग बताया है।

"सम्यक प्रकारेण यद्गीयते तत्संगीतम्।"

सम्यक प्रकार से अर्थात स्वर, ताल, शुद्ध उच्चारण, हाव-भाव औरशुद्ध मुद्रा आदि के साथ जो गाया जाय वह संगीत है।

संगीत आनन्द का आविर्भाव है। आनन्द उस ब्रह्म का ही स्वरूप है जो सृष्टि की उत्पत्ति, पालन तथा प्रलय का कारण है। संगीत के द्वारा ही दुःख के लेश मात्र तक से भी सम्बन्ध ना रखनें वाला सुख प्राप्त होता है। भारतीय संगीत हमारी धरोहर है, आज हमारे देश में प्रचलितशास्त्रीय संगीत को मार्ग-देशी संगीत कहा जाता है। इसकी प्रमुख दो धाराएँ विद्यमान है प्रथम हिन्दुस्तानी और द्वितीय कर्नाटकी संगीत। हिन्दुस्तानी संगीत का सीधा संबंध ध्रुपद, धमार और ख्यालशैली से है।शास्त्रीय संगीत मेंशास्त्रीय नियमों के अनुसार राग प्रस्तुत किया जाता है, यह प्रस्तुतीकरण ध्रुपद, धमार और ख्याल गायन द्वारा तथा वादक बंदिश द्वारा करता है। उपरोक्त सभी शास्त्रीय गायन शैलियों के पश्चात जो गायन शैली मुख्य रूप से आई, वह है ख्याल शैली, जो आधुनिक समय की प्रतिष्ठित एवं लोकप्रिय गायन शैली है। संगीत के सन्दर्भ में ख्याल का अर्थ है - नियमों का पालन एवं राग का स्थापित करते हुए गाना। ख्याल शैली स्वर प्रधान होने के साथ बंदिश को भी बनाए रखती है। इसके मुख्य दो रूप है पहला बड़ा ख्याल और दूसरा छोटा ख्याल जो कि तीन लयों में बंधी होती है।

बंदिश एक प्रकार का दर्पण है जिसमें प्रस्तुतीकरण में विभिन्न गायक कलाकारों की छवि दिखायी देती है। बंदिश भारतीयशास्त्रीय संगीत का एक आवश्यक अंग है, केवल बंदिश के माध्यम से हिन्दुस्तानी संगीत की समृद्धशाली परम्परा को आने वाली पीढ़ी तक सुरक्षित रखा जाता है। बंदिश में राग के स्वर तथाशब्दों का ताल के साथ सामंजस्य होना चाहिए। बंदिश की रचना बहुत महत्वपूर्ण है। बंदिश राग को आकृति प्रदान करता है, जिस प्रकार मूर्ति, भगवद् चित्र आदि को हम ईश्वर का साकार रूप मानते हैं, ठीक उसी प्रकार स्वर, लय, ताल व पद से युक्त बंदिशों को हम राग का साकार रूप मानते हैं।

बंदिश द्वारा विभिन्न रस की निष्पत्ति होती है। स्वयं राग तो आनन्द स्वरूप है ही लेकिन उस आनन्द में भी विशेष रस का होना, बंदिश के माध्यम से ही सिद्ध होता है तभी हमें विभिन्न रसों की बंदिशें दिखायी देती हैं। कुछ वीर रस या श्रृंगार रस को उद्भूत करने वाली होती है तथा कुछ शान्त, मेंशान्त रस एवं भक्ति से समन्वित रचनाएँ मिलती हैं। धार्मिक, वीरतापूर्ण, श्रृंगार रस सभी की बंदिशें

शोध छात्रा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी

जिनमें रस एवं भाव का उचित समन्वय है, जो उनकी काव्यात्मक प्रतिभा एवं कल्पनात्मक सौन्दर्य का उदाहरण है। ख्याल की बंदिशों वैशब्दी का भाव विशेषकर बहुत अधिक है।

संगीत आराधना है, इससे तन्मयता की अवस्था उपलब्ध होती है और ईश्वर की वन्दना भी। भक्ति का संबंध मन से है, मानव जब स्थिरता एवं गंभीरता के साथ अपनी समस्त जीवनशक्तियों तथा हृदय की वृत्तियों को एकाग्र करके अपने आराध्य प्रभु के चरणों में सम्पूर्ण श्रद्धा सहित समर्पित करता है तभी उसे ईश्वर के दर्शन होते हैं, इस स्थिरता एवं गंभीरता के लिए सुलभ और श्रेष्ठ माध्यम संगीत है। जीवन के लक्ष्य अखण्ड आनंद की प्राप्ति के लिए मन, वचन तथा कर्म से भगवान की भक्ति आवश्यक है। भगवान के प्रति अनन्य प्रेम तथा समर्पण की भावना को ही भक्ति कहते है। भक्ति नौ प्रकार की बतायी गयी है -

श्रवणं, कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्,
अर्चनम्, वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।
इति प्रसार्पिता विष्णौ भक्ति चेन्नवलक्षणा,
क्रियते भगवत् यद्धा तन्मयेऽधीन्दुत्तमम्।।

इसी को नवधा भक्ति कहते हैं। वैदिक युग से ही हमारे संगीत का आध्यात्मिक और धार्मिक वातावरण सुरक्षित रहा है। ईश्वर के प्रति बौद्धिक श्रद्धा, विश्वास, प्रेम, ईश्वर में अनुरक्ति तथा समर्पण की भावना ही भक्ति है। वैदिक काल से लेकर आज तक इस पर विस्तृत विचार हुआ है, यह कभी साहित्यिक और कभी आध्यात्मिक दृष्टि से विद्वानों की आलोचना - प्रत्यालोचना का विषय रही है।

साहित्यिक क्षेत्रों में तो भक्ति से सम्बन्धित अनेक मत - मतान्तर हैं परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में इसकी श्रेष्ठता व महत्ता विधिवत है यथार्थतः आध्यात्मिक क्षेत्र की महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ ही साहित्यिकों के लिए भी आकर्षक केन्द्र बनीं और अन्त में रसशास्त्र में इसे महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ।

किसी बंदिश की रचना के लिए लय, स्वर, राग के ज्ञान के साथ भाषा तथा छंद का साधारण ज्ञान भी परम आवश्यक है, मुख्यतः ख्याल अंग की बंदिशों में काव्य संबंधी उपरोक्त नियम ही विद्वानों द्वारा मान्य है। बंदिश में काव्य से अधिक भाव पक्ष का बाहुल्य रहता है। प्रत्येक का अपना विशिष्ट स्थान है। काव्य एवं संगीत में अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है, आनंद प्राप्ति के प्रयासों में मानव ने आमोद - प्रमोद के जितने भी साधनों का आविष्कार किया उसमें संगीत व काव्य कला प्रचलित है। रागात्मक, आत्मविस्मृति, तन्मयता, कष्ट निवृत्ति, आध्यात्मिक उत्कर्ष आदि में काव्य व संगीत का समान रूप से सहयोग प्रदान करते हैं। मोक्षमार्ग की प्राप्ति में भी इन्हीं दोनों कलाओं का माध्यम बनाया जाता है इसीलिए कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि भक्तों एवं सन्तों की लक्ष्य प्राप्ति का साधन काव्य तथा संगीत ही है।

श्री ओ0 गोस्वामी के अनुसार 'ख्याल की उत्पत्ति मुसलमानों द्वारा गायी जा रही कव्वाली गायन द्वारा भी मानी जा सकती है जो कि हिन्दी भजनों की भाँति भक्ति प्रधान है, यह कार्य बारहवींशताब्दी में अमीर खुसरो ने किया।

हमारे शास्त्रीय संगीत में ख्याल शैली के क्षेत्र में ऐसे कई संगीतज्ञ तथा वाग्गेयकारों की एक देशी परम्परा परिलक्षित होती है जिनकी रचनाओं में भक्ति-भाव दर्शित होता है और बंदिश रचना के क्षेत्र में अपना अपूर्व योगदान दिया। संगीत के प्रचार-प्रसार एवं उसको आध्यात्म से जोड़कर लोकानुरंजन बनाने हेतु संगीतज्ञों ने अपना पूर्ण जीवन समर्पित कर दिया। जैसे - पं0 भातखण्डे, पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर, उ0 फैयाज खाँ, उ0 विलायत हुसैन खाँ, पं0 ओंकार नाथ ठाकुर आदि।

संक्षेप में यह कह सकते हैं कि भक्ति से ओत-प्रोत अनेकों ख्याल की बंदिशें उपलब्ध होती हैं। जैसे बिलासखानी तोड़ी, छोटा ख्याल के बोल हैं-

स्थाई- जगदम्बिका अम्बिका, मदनि अम्बशुम्भनिशुम्भ, गले मुण्ड मालिका।

अन्तरा- दुर्गे भवानी दानी दयानी, सुर नर कीन्हे अभय 'रामरंग' तेरो ही नाम कालिका।।

प्रस्तुत बंदिश में दुर्गा जी के वीभत्स रूप का वर्णन मिलता है।

पं0 रामाश्रय झा जी की बंदिश - राग अहीर भैरव, तीनताल

स्थाई- मान ले मोरा मनुवा तुम, हरि को नाम सुमिर उठि भोरे, बीतो जात दिना।

अन्तरा- सुमिरन ते तन ताप मिटे तेरो, 'रामरंग' उठि जाग मना, हितमित संग छिना।।

इस रचना में भक्ति के भाव परिलक्षित हैं। इस बंदिश में कहा गया है कि हे मन! प्रातःकाल उठकर ईश्वर का नाम जप ले अन्यथा दिन बीतता जा रहा है, ईश्वर के सुमिरन से तेरे पाप मिट जाएंगे अतः भाई-रिश्तेदारों का संग छोड़कर ईश्वर के नाम को जप।

इस प्रकार से आधुनिक काल के रचनाकार भक्ति परक बंदिशों की रचना करते हैं। हिन्दुस्तानी संगीत के अन्तर्गत ख्याल गायन में भक्तिपरक बंदिशों का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। बंदिशों के काव्य द्वारा काल स्थिति की निश्चित कल्पना श्रोतागण के समक्ष प्रस्तुत हो जाती है। भक्ति परक बंदिश के प्रस्तुतीकरण में गायक-गायिका व श्रोतागण पर बोलों का विशेष प्रभाव पड़ता है अतः आवश्यक है कि भक्ति परक बंदिश सुगठित एवं सुस्वरित हो, बंदिश की रचना धर्मिता में निहित सभी गुणों, धर्मों तथा संस्कृति का समावेश हो तभी एक कलात्मक भक्ति परक बंदिश की रचना संभव है।

संगीत और साहित्य का पारस्परिक अन्तःसम्बन्ध

एकता मेहता

भारतीय संस्कृति की आत्मा आध्यात्मिक स्वर एवं धार्मिक अभिव्यंजना से अनुप्राणित रही है। भारतीय संस्कृति का अध्यात्म केवल एक व्यक्ति की गवेषणा चेष्टा नहां, वरन विश्व में व्याप्त सामूहिक समष्टिगत आत्मा की खोज है। एक अव्यक्त असीम के अनुसंधान के विविध कलाओ के रूप में अपने आप का प्रकट किया। शब्दो में बिखर कर काव्य, टॉकी में व्यक्ति होकर मूर्तिकला, स्वर-राग में सिक्त होकर संगीत इन रूपो में उस परम नादमय लीला का गान प्रवाहित हुआ। ललित कलाओ में साहित्य ओर संगीत का स्थान सर्वश्रेष्ट रहा है। साहित्य समाज का दर्पण है तो संगीत सामाजिक मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब है साहित्य ओर संगीत में मानव की सहज स्वयं स्फूर्ति प्ररणाओ को यथार्थ रुप से व्यक्त करने की क्षमता की भावनाओ का यथार्थ व्यक्तिकरण हो सका है। प्राचीन वैदिक काल में ही संगीत ओर साहित्य का समन्वय स्थापित हो गया था। इसका प्रमाण इस बात से मिल जाता है कि ऋग्वेद की ऋचाओ का गेय स्वरुप सामवेद में निहित है। संगीत नाद-प्रधान साहित्य ओर साहित्य शुद्ध प्रधान संगीत है। साहित्य ओर संगीत का सम्बन्ध विच्छेद एक असम्भव सी बात है। दोनो का पार्थक्य हानि की सम्भावनाओ से भरा है। वास्तव में साहित्य के बिना संगीत ओर संगीत के बिना साहित्य अधूरे हैं। हमारे वेद कालीन मंत्र दृष्टाओ की भारतीय संगीत के मधुर स्वरो में थिरक पड़ी। आदिम वेद ऋग्वेद का उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों में अंकित पाया जाना साहित्य संगीत के गठबन्धन की बात की पुष्ठि करता है। परम्परा के अनुसार साहित्य ओर संगीत का उदगम समान तत्वो से हुआ है। विस्तृत दृष्टि से यदि देखे तो संगीत में साहित्य के तत्व मिलते है। इसलिए संगीत रचनाकार ओर वाग्गेयकार को साहित्य ओर संगीत दोनो का ही ज्ञान होना चाहिए। वस्तुतः साहित्य ओर संगीत दोनो का ही सम्बन्ध ध्वनि (नाद) से है। दोनो ही नादात्मक कलाएं है। भिन्न-भिन्न परिस्थितियो में कहां संगीत अधिक प्रभावी होता है तो कही साहित्य। साहित्य की अपनी स्वतन्त्र सत्ता है। गद्य भी श्रेष्ठ साहित्य हो सकता है। परन्तु यदि भावानूकुल छंद भी भाषा को मिल जाए तो उसमें एक कसाव आ जाता है कालिदास ने मेघदूत के लिए संभवतः मंदाक्रांता छंद इसीलिए चुना है, क्योकि वह भावानूकुल है। मेघदूत की उक्तिया न गाए जाने पर भी सत्साहित्य हैं। विचारणीय बात यह है कि संगीत ओर साहित्य के प्रयोजन रस के साथ वाणी स्वर ताल ओर नृत्य का कैसा ओर कितना सम्बन्ध हैं। व्यक्त ओर अव्यक्त दोनो प्रकार की ध्वनियां नाद की विभिन्न उपाधिया हैं। शब्द ओर स्वर का मूल एक है, दोनो का लक्ष्य भाव का प्रकाशन है। इसीलिए शब्द स्वर ताल, लय, वाद्य ओर नृत्य भाव-प्रधान रहे है। रस का इन वस्तुओ से वास्तविक सम्बन्ध जानने के लिए हमें सर्वप्रथम भाव पर विचार करना होगा। ओर फिर देखना होगा कि उसकी अभिव्यक्ति में ओर उसे परिपक्व करके रसानुभति की दशा तक हमें पहुचाने में इन सभी तत्वो का कितना हाथ हैं। यहा भाव, उसके अभिव्यक्ति के साधनों ओर प्रकारों पर थोड़ा विचार करना अप्रांसगिक नहीं होगा।

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधि विद्वान साहित्यकार संगीत के प्रकाण्ड विद्वान रहे हैं और उनका यह विश्वास रहा है कि आदिम संगीतज्ञ नटराज की ताल लय समन्वित ताण्डव से साहित्य व संगीत के तत्वों का एक साथ ही सूत्रपात हुआ। संगीत का आदिम राग, भैरव भगवान शिव के अघोर मुख से उत्पन्न हुआ और साहित्य की आदिम वर्ण मात्रा महादेव के पदचाप से उद्भव हुई। संगीत के सर्वव्यापी नाद का क्षेत्र विस्तृत रहा है और संगीत के अतिरिक्त साहित्य, योग, तन्त्र, शिल्प आदि में भी उसका स्थान महत्वपूर्ण रहा है। संगीत में गीत, वाद्य, नृत्य इन तीनों का समावेश नाद के ही विस्तार हैं। किन्तु इसी के साथ साहित्य में भी नाद का विस्तार है। साहित्य और संगीत दोनों का मूल नाद में है। इसका विवरण प्राचीन संगीत ग्रन्थों में पाया जाता है।

शब्द और अर्थ की समष्टि रुप को साहित्य कहते है। साहित्य का लक्षण बताते हुए हमारे आचार्यों ने काव्य शब्द का प्रयोग किया है। इस प्रकार शब्द और अर्थ की समष्टि काव्य है। शब्द और अर्थ काव्य शरीर का निर्माण करते हैं इस काव्य शरीर की आत्मा विभिन्न आचार्यों के अनुसार पृथक-पृथक रुप में निर्दिष्ट है। वामन रीति को आनन्द वर्धन, 'ध्वनि' को भरत तथा राज शेखर 'रस' को क्षेमेन्द्र 'औचित्य को भामह दण्डी प्रभूति अंलकार को काव्य के प्राणतत्व के रुप में स्वीकार करते है सभी आचार्यों के काव्य-लक्षणों के विवेचन से यह तथ्य प्राप्त होता है कि प्राण प्रतिष्ठा के पृथक-पृथक तत्वों के साथ शब्द और अर्थ का साहित्य ही काव्य की निर्मिति करता है। यहाँ साहित्य से अभिप्राय है। इसकी सुन्दर व्याख्या कुन्तक ने प्रस्तुत की है उनके अनुसार शब्द और अर्थ के साहित्य से तात्पर्य काव्य-सौन्दर्य के लिए उनकी न्यूनता या अधिकता से रहित मनोहर स्थिति से है। वाल्मीकि प्रणीत रामायण से लेकर आज तक साहित्य-सर्जना को क्रम अविरत गति से चला आ रहा है। महाकवि कालिदास के साहित्य ने उनके काल से लेकर आज तक के लोगों को रस सामर में अवगाहन का सुवर्ण अवसर प्रदान किया है तथा भविष्य में भी करता रहेगा। उनके साहित्य में अनेक विध वैशिष्टाओं तथा उसमें प्रतिबिम्बित विविध शास्त्रों का अनेक दृष्टियों से विवेचन अनेक विद्वानो द्वारा देश-विदेश में समय समय पर किया गया है कालिदास-साहित्य का संगीतकला एवं संगीत शास्त्र के निकास पर अनुशीलन प्रकृति का प्रतिपाद्य है।

भारतीय साहित्य में सौन्दर्य का विशेष महत्व रहा है। इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि प्रत्येक युग में कवियों साहित्यकारों द्वारा सौन्दर्य का निरुपण होता रहा है। भक्ति साहित्य में भगवान दिव्य सौन्दर्य का नाना भंगिमाओं से अपूर्व वर्णन किया गया है। भारतीय साहित्य, संगीत, चित्र, मूर्ति और वास्तुकलाओं का मौलिक सम्बन्ध सौन्दर्य से रहा है, और उसमें विविध रुपों में सौन्दर्य की अभिव्यंजना होती रही हैं। भारतीय साहित्य में सौन्दर्य की परिणति रस है, जिसका विशेष वर्णन काव्य शास्त्र में मिलता है वैदिक साहित्य में सुन्दर तथा सौन्दर्य के लिए 'रुप' (आकृति या आकार) का प्रयोग सौन्दर्य के अर्थ में ही हुआ है। भक्ति साहित्य में सौन्दर्यनुभूति के अनेक प्रमुख लक्षणों सत्व की प्रधानता, चित्र का द्रवण, तादात्म्य, चिन्मय भाव आदि का स्पष्ट उल्लेख किया है,। वाणी के इसी भावनुकुल प्राकृतिक उतार-चढ़ाव के परिणाम स्वरुप संगीत के सात स्वर और तीनों सप्तको का विकास हुआ है। विभिन्न भावों को प्रकट करते समय हमारी वाणी में उतार-चढ़ाव के साथ ही हमारी चेष्टाओं और प्रयुक्त शब्दों की गति में भी विविधता आती है। शीघ्रता का भय प्रकट करते समय हमारे शब्दों की गति 'द्रुत' हो जाती है। विचार वितर्क इत्यादि अवस्थाओं में हमारे शब्दों की गति विलंबित होती है। सामान्य उच्चारण में हमारे उच्चारण की गति मध्य रहा करती है इसीलिए प्राचीन आचार्यो ने पात्रों की बातचीत के समय यथास्थान विलंबित मध्य और द्रुत लय का प्रयोग बतलाया है और पाठ के अलंकारों में द्रुत और बिलंबित की भी गणना की है। बाह्य अंगिक चेष्टाओं और गतियों ने ही नृत्य को जन्म दिया है। जब शब्दों का उच्चारण भावानुकूल

उतार-चढ़ाव एवं अनुकूल भंगिमाओं के साथ किया जाए तभी अभिप्रेत अर्थ का बोध होता है तथापि वाक्यों के उच्चरण के समय होने वाला उतार चढ़ाव संगीत में होने वाले उतार चढ़ाव का कारण होने पर भी उससे भिन्न है इसीलिए बोलना और गाना दो भिन्न क्रियाएँ है। संगीत में ध्वनि के उतार चढ़ाव पर विशेष ध्यान दिया जाता है। कवि द्वारा रचित नाटक स्वयं नहीं बोल सकता न उसके पात्र हमारे साथ मूर्तरुप में आकर चेष्टाएँ अथवा अंग पटल वर्णित परिस्थिति का चित्र-सा खिंच जाता है। परन्तु वह स्थिर नहीं होता।

इसी कमी को पूरा करने और कवि के द्वारा अभिप्रेणी अर्थ को पूर्णतया मूर्तरुप में व्यक्त करने के लिए दृश्य-काव्य या रुपक का जन्म हुआ, जिसे काव्यों से सुन्दरतम कहा गया है। इसमें अभिनय के समय पात्र कवि निर्मित वाक्यों को स्वाभाविक उतार चढ़ाव एवं गति के साथ बोलते हैं और उनके अर्थ का स्वाभाविक रुप से बोध कराने के लिए भावानुकूल आंगिक चेष्टाएँ करते है। जब अभिनेता अपने कार्य को अत्यन्त सफलता पूर्वक करते है तब हम थोड़ी देर के लिए भूल जाते है कि हम अभिनय देख रहे है और जो कुछ हम देख रहे है वह कल्पित या विगत घटनाओं का अनुकरण-मात्र है। वास्तविक देश और काल को भूलकर जब हम अभिनय द्वारा प्रदर्शित देश और काल में खो जाते हैं, तब हमें एक अनिर्वचनीय आनन्द आता है। यही आनंन्द 'रस' कहलाता है। हम उस समय चेतन तो होते है, परन्तु हमारी यह चेतना लौकिक चेतना से भिन्न होती है। हमारी यह अवस्था ही रसानुभूति की अवस्था है। अभिनय में हम मिलन देखें या वियोग, अत्याचार देखे या धर्म की विजय शोक-प्रधान स्थिति देखे या विवाह सभी अवस्थाओं में हम उसमें डूब जाते है उन सभी स्थितियों से हमें रसास्वाद होता है। इसीलिए मम्मट ने कहा है कि कवि सृष्टि में सुख ही सुख है। दुःख नहीं है। लोक में वास्तविक घटनाओं को देखकर हमारे हृदय में जो भाव जागते हैं, वे भाव जब कवि प्रणीत वाणी एवं तदनुकूल अभिनय के कारण हमारे मन में तरंगित होकर हमारे अंग-प्रत्यंग में व्याप्त हा जाते है तब हमारी वह स्थिति रसानुभति की अवस्था कहलाती है।

साहित्य-कला अपने प्रत्येक पाठक को आनन्द प्रदान करती है। संगीत प्रायः सभी को प्रिय होता है। ग्रन्थ के पठन से जो आनंन्द प्राप्त होता है, वही आनंन्द संगीत के श्रवण से प्राप्त होता हैं। भारतीय संगीत के दो अंग है-एक बाह्य अंग जो नेत्रा तथा श्रवणेन्द्रिय के द्वारा आत्मा का ऐसा भोजन है, जिसके अभाव में मानवांचित गुण फूल फल नहीं सकते, जिसे मानवता के विकास की उत्कृष्ट इच्छा है, उसे कोई भी महात्मा अथवा योगी चित्र की स्थिरता के लिए संगीत का आश्रय लेने का ही आदेश देता है।

संगीत और साहित्य के सम्बन्ध की बात जब हम करते हैं, तो हमारा आशय होता है संगीत की गायन विधा से। गायन विधा का सम्बन्ध साहित्य से घनिष्ठ हैं। गायन केवल तराना जैसे अर्थ शून्य गीतों का गायन नहीं वरन वर्ण मूलक सस्वर अभिव्यक्ति है। साहित्य और संगीत की उपादानों की समानता उनके बीच के सम्बन्धों पर प्रकाश डालती है। छन्दों की झंकृत वेश-भषा, वर्णों तथा अलंकारों का सांष्ठव लय की रमणीय गति तथा सौन्दर्य बोध दोनों के उपादान कहे जा सकते है। संगीत नाद-प्रधान साहित्य है और साहित्य शब्द प्रधान संगीत है। संगीत के लोक प्रिय होने में गीतों का साहित्यिक सौन्दर्य महत्वपूर्ण स्थान रखता है। भाव गीत, गजल आदि लोकप्रिय होने का कारण उनमें आधुनिक भावपूर्ण शब्दावली का प्रयोग साहित्य की अभिनवता हैं। संस्कृत साहित्य में शब्द संगीत से झंकृत गीतों की दीर्घ परम्परा रही है। हमारे भारतीय साहित्य के गीतों को यदि प्रोत्साहन दिया जाता है तो हमारे संगीतकार भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व कर विदेशों में भारतीय संगीत की पताका को सदैव उत्तालित रख सकते है।

संगीत के स्थायित्व के लिए गीतों का साहित्यिक सौन्दर्य महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अन्य भाषाओं की अपेक्षा ब्रजभाषा का उत्तर भारत के संगीत में एकाधिपत्य रहा इसका कारण यही हैं संगीत में संवाद का महत्व अत्यधिक है। सप्त स्वर इसी संवाद तत्व पर आधारित है।

शर्तमास में साहित्य के साथ जुड़कर संगीत अपना मस्तक और उन्नत कर सकता है। संगीत मानव की सहज भावनाओं के उद्वेलन की चेष्टा है। संगीत का नाद आवश्यक होते हुए सामर्थ्यशाली है, साहित्य के साथ मिलकर सारे संसार में अपने प्रभाव को स्थापित कर सकता है।

संगीत में साहित्य के स्थान को ध्यान में रखकर संगीत से उसका सम्बन्ध अविच्छिन्न बना रहे, नष्यकालीन निष्प्राण पदावली को त्यागकर नवीन भावपूर्ण शब्दों को गीतों में समावेश करें, समय के अनुकूल सुललित गीतों का निर्माण करें और भारत की गौरवमय इस संगीत कला की नींव दृढ़ करने में सबल योगदान दें।

इस प्रकार मानव जीवन के सर्वविध विकास के लिए साहित्य और संगीत कला विशेषण उपादेय है। चित्र, मूर्ति एवं वास्तु ये ललित कलाएं भी महत्वपूर्ण है किन्तु साहित्य एवं संगीत कला का महत्व इनसे बढ़कर है क्योंकि साहित्य एवं संगीत में अपेक्षाकृत कम उपादानों की आवश्यकता होती है तथा इन दोनों का आनन्द कहीं भी चित्र, मूर्ति एवं वास्तुकला की तुलना में अधिक सुविधापूर्वक प्राप्त किया जा सकता है। लोकप्रियता की दृष्टि से भी साहित्य और संगीतकला को चित्र, मूर्ति एवं वास्तु इन ललित कलाओं से अधिक महत्व प्राप्त है।

संदर्भ ग्रन्थ

1. आचार्य वृहस्पति, संगीत चिंतामणि
2. कुलश्रेष्ट डॉ0 सुषमा, कालिदास-साहित्य एवं संगीत-कला
3. शर्मा प्रो0 स्वतंत्र, सौन्दर्य, रस एवं संगीत
4. सचदेव रेनू, धार्मिक परम्परायें एवं हिन्दुस्तानी संगीत
5. श्रीवास्तव प्रो0 हरिश्चन्द्र, संगीत निबन्ध संग्रह

उच्च शिक्षण संस्थानों में संगीत

पल्लवी मिश्रा

प्राचीन काल से शिक्षा के वैज्ञानिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष विद्वानों की विचार शीलता का केन्द्र रहे हैं। वैदिक काल से ही वैदिक तथा लौकिक संगीत की धाराओं के रूप में प्रवाहित संगीत "शिक्षण प्रक्रिया" के माध्यम से परिपुष्ट होता रहा है। ऋषियों द्वारा अपने पुत्रों या शिष्यों को दी गयी साम गान की शिक्षा के रूप में ही संगीत की शिक्षण प्रक्रिया पल्लवित होती रही। ऋषि आश्रमों तथा गुरूकुलों की व्यवस्था से इस प्रशिक्षण प्रणाली में वर्ण व्यवस्था, जीवन दर्शन तथा विशिष्ट लक्ष्य संधान का नियमन होने से धीरे-धीर व्यवसायिक अध्ययन की दृष्टि से संगीत-शाला जैसे विशिष्ट कला केन्द्रों के रूप में संगीत शिक्षा प्रणाली अपने विशिष्ट आकार व स्वरूप को ग्रहण करती चली गयी।

तत्पश्चात् तक्षशिला व नालन्दा विश्वविद्यालयों, अग्रहारों, विद्या मन्दिरों आदि के माध्यम से संगीत शिक्षा का परिपोषण होता रहा और पूर्व मध्यकाल व मध्यकाल की राजनैतिक व सामाजिक परिस्थितियों में संगीतज्ञों के वैयक्तिक प्रयत्नों, राजाओं या बादशाहों की संगीत प्रियता विदेशी संस्कृतियों के प्रभाव आदि से भिन्न-भिन्न आकार ग्रहण करते हुए संगीत शिक्षण प्रणाली प्रभावित होती रही। आधुनिक समय में संगीत शिक्षा सभ्य समाज की दृष्टि से व्यक्तित्व के विकास का एक उपयुक्त साधन समझी जाने लगी है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्व संगीत विद्यालयों की कोई कल्पना ही नहीं कर सकता था। भारत में गुरू शिष्य परम्परा के आधार पर ही संगीत सिखाया जाता था। सर्वप्रथम संगीत विद्यालय की स्थापना बड़ौदा नरेश ने सन् 1817 ई0 में की थी। उस विद्यालय के प्रधानाचार्य "स्व0 उ0 मौला बक्श" थे। उसके बाद 5 मई सन् 1901 में "पं0 विष्णु दिगम्बर जी" ने लाहौर में सर्वप्रथम "गान्धर्व महाविद्यालय" की स्थापना की। लगभग उसी समय "भास्कर बुआ बखले" ने "भारत गायन समाज" तथा विष्णु नारायण भातखण्डे जी ने ग्वालियर में माधव संगीत विद्यालय और लखनऊ में "मैरिस म्युजिक कालेज" जिसे आजकल भातखण्डे संगीत महाविद्यालय कहते हैं की स्थापना की। 1926 में प्रयाग संगीत समिति की स्थापना हुई। सन् 1956 में खैरागढ़ (म0प्र0) में इन्दिरा संगीत विश्वविद्यालय की स्थापना हुयी।

भारत की संगीत शिक्षा का आधार गुरू शिष्य परम्परा ही रही है परन्तु आज के वैज्ञानिक युग में सामाजिक आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन आ जाने के कारण संगीत शिक्षण पद्धति अधिकतर संस्थागत हो गयी। घरानेदार संगीत की शिक्षा परम्परागत है। उसमें कोई परिवर्तन सम्भव नहीं है। विश्वविद्यालय स्तरीय अधिकतर संगीत संस्थायें प्रवेश के समय विद्यार्थियों के रूचि और योग्यता की जाँच करती हैं और योग्यता सिद्ध होने पर ही उसे प्रवेश मिलता है।

उच्च शिक्षा संस्थानों में गायन की कक्षा में विभिन्न कण्ठ स्वर रखने वाले विद्यार्थियों को सामूहिक शिक्षा दी जाती है। सामूहिक शिक्षा के कारण प्रत्येक छात्र के अवगुणों अर्थात् बेसुरापन बेतालेपन पर शिक्षक की दृष्टि नहीं जा पाती है। इस सामूहिक शिक्षण में असाधारण प्रतिभा वाले अर्थात् आवाज

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

वाले छात्र-छात्रा के विकास पर प्रभाव पड़ता है और इस शिक्षा पद्धति के कारण उन सभी प्रतिभावान छात्रों के प्रतिभा पर असर पड़ता है। इन संगीत की संस्थाओं में महिला शिक्षक एवं पुरूष शिक्षक दोनों कार्यरत होते हैं। अतः पूरी कक्षा पर आधार स्वर बनाना बहुत ही कठिनाई उत्पन्न करता है। शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के लिए भी समस्या उत्पन्न हो जाती है। शास्त्रीय गायन में शिक्षण का आधार तानपुरा होता है। तानपुरा शिक्षक अपने स्वाभाविक स्वर में मिलायें तो वह सुगमता से अपने पाठ में सौंदर्य और बारीकियों का प्रदर्शन कर सकता है जिससे विद्यार्थी लाभान्वित हो सकते हैं। परन्तु यह सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि शिक्षक को तानपुरा अपने कण्ठ स्वर में न मिला कर पूरी कक्षा की सुविधा हेतु मिलाना पड़ता है और इस प्रकार अस्वाभाविक स्वर में गाने से शिक्षक और विद्यार्थी दोनों के गले पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

संगीत संस्थाओं और संगीत विभागों के पाठ्यक्रम भी दोषपूर्ण है। अधिक पाठ्यक्रम होने के कारण उचित शिक्षा व्यवस्था सम्भव नहीं हो पाती है। उदाहरण स्वरूप विद्यार्थियों को 25 से 30 राग एक साथ तैयार करने होते हैं जिनमें कुछ अप्रचलित राग भी होते हैं। लगभग सभी संस्थागत पाठ्यक्रमों में यह समस्या दिखाई दी। इस पाठ्यक्रम को पूरा कराने के लिए कई अध्यापकों में इसका विभाजन होता है। एक पीरियड की अवधि विभिन्न विश्वविद्यालयों में 40 से 50 मिनट तक की होती है। जिसमें एक कक्षा से दूसरी कक्षा में आने-जाने व वाद्यों को मिलाना आदि सभी सम्मिलित हैं तथा शीघ्रता से पूरा कराया गया पाठ्यक्रम दोष पूर्ण रह जाता है। विद्यार्थियों को एक दिन में तीन अथवा चार शिक्षकों से गायन शिक्षा लेनी होती है। उस गायन कक्षाकाल में सभी शिक्षकों की अपनी गायन शैली एवं उन पर विभिन्न घरानों का छाप पाया जाता है।

संगीत शिक्षक आज अपना कार्य पूर्ण निष्ठा से नहीं कर पा रहे हैं क्योंकि उनके सामने संगीत शिक्षा देना केवल एक उद्देश्य नहीं है वरन् अन्य सामाजिक दायित्व भी है जो उन्हें पूरा करने होते हैं इसलिए आज के शिक्षक उतने अपने उद्देश्य के प्रति सजग नहीं हैं जितने पूर्व परम्परा में थे।

आज परीक्षा प्रणाली भी बहुत दूषित है। संगीत की प्रायोगिक परीक्षाओं में विद्यार्थियों का सही मूल्यांकन नहीं होता है। प्रायः बाह्य परीक्षक आंतरिक शिक्षकों के दबाव में रहते हैं और अपने मुक्त मानस से विद्यार्थियों को नहीं परखते । इस कारण उनके द्वारा प्रदत्त अंक विद्यार्थियों के सही स्तर के सूचक नहीं होते हैं। अनुत्तीर्ण होने योग्य विद्यार्थी भी उत्तीर्ण हो जाते हैं। इस कारण भी संगीत का स्तर गिरता चला जा रहा है।

उपर्युक्त वर्णन से हमें आज की विश्वविद्यालयी शिक्षण परम्परा की सीमाओं का एहसास होता है। परन्तु आज भी परिस्थितियों में जब गुरू शिष्य परम्परा सम्भव नहीं है। तब यही एक मात्र विकल्प है। आज गुरू-शिष्य दोनों ही परिवार छोड़ कर संगीत साधना में जुट नहीं सकते हैं। इसलिए महाविद्यालयों की स्थापना की गई, जिनमें संगीत शिक्षा के इच्छुक विद्यार्थी प्रवेश ले कर संगीत सीख सकें। यद्यपि शिक्षण परम्परा में अनेक कमियाँ हैं फिर भी इसकी उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. संगीत नवम्बर 1990, पृ0 सं0 3
2. दत्ता, डॉ0 पूनम, भारतीय संगीत शिक्षा एवम् उद्देश्य, राय पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2005
3. ऋषितोष, डॉ0 कुमार, संगीत शिक्षण के विविध आचार्य, कनिष्क पब्लिकेशन, नई दिल्ली 2010

तुलसी के काव्य में संगीत

माधुरी पोद्दार

गोस्वामी तुलसी दास की समस्त रचनाएँ उनके इष्टदेव राम से संबंधित है लेकिन इनमें से रामचरितमानस सबसे अधिक लोकप्रिय हुई है जो कि एक संगीतमय महाकाव्य है। रामचरित मानस में साहित्य और संगीत का अनोखा संगम देखने को मिलता है।

तुलसीदास जी का उद्देश्य केवल तत्कालिन समाज का यथार्थ चित्रण करना मात्र नहीं था। एक आदर्शवादी कवि होने के नाते उनका मुख्य उद्देश्य तत्कालीन समाज की दशा का चित्रण करते हुए उसमें जड़ता, सम्मुख एक आदर्श समाज का उज्जवल और श्रेष्ठम रूप प्रस्तुत करना था।

संगीत अमृत की 'अक्षुण्ण धारा' है। वेद-पुराणों के अनुसार मनुष्य को धर्म, काम, मोक्ष की प्राप्ति सिर्फ संगीत के द्वारा सहजता से प्राप्त हो जाती है। मनुष्य मानसिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार के आनंद की अनुभूति कर सकता है। ऋषि सभी मोहित हो जाते हैं। हमारे संतों के दोहे सीधे हृदय पर समाज की विसंगतियों पर बाण चलाते थे। वाल्मीकि, महाप्रभु, कबीरदास और तुलसीदास की भक्ति वात्सल्य के पद अमर हो गए। वाल्मीकि, महाप्रभु, चैतन्य, रैदास आदि संत कवियों ने अपनी वाणी से जनता को जागृत किया।

मानव का संगीत से निकटतम संबंध है। बालक के जन्म लेते ही चारों ओर खुशी और उल्लास के गीत बजाए जाते हैं। ढोलक की ध्वनि के साथ गीतों की मृदुल ध्वनि उसके कर्ण-छिद्रों में प्रवेश करती है। उसके बाद विवाह के मंगलमय गीतों के साथ वह एक नवीन जीवन में प्रवेश करता है। उसकी सांस का प्रत्येक तार संगीत लहरी से झंकृत होता रहता है। जीवन की अंतिम सांस लेते समय उसे गीता के मंत्र या रामायण पाठ सुनाए जाते हैं। भारत के अमर कवि, भक्त, संत और गायक जयदेव, विद्यापति, सूर, तुलसी, कबीर, मीरा ने संगीत की इस झंकार को सुना और उसके रसों के साथ अपनी रचनाएं की। उसमें अपनी प्रतिभा का समावेश भी किया जिससे संगीत स्वर्गीय आनंद प्रदान करने वाला बन गया। इन महान प्रतिभाओं ने अपने काव्य को संगीत के अलंकारों से अलंकृत किया। संगीत और काव्य परस्पर अन्योन्याश्रित हैं। काव्य से भावों की गतिशीलता प्रकट होती है और संगीत से स्वरों की चंचलता एवं उनका उतार-चढ़ाव में अंतर केवल इतना है कि काव्य का नाद संगीत के नाद की अपेक्षा स्थूल होता है, किंतु दोनों में ही ध्वनि और लय का महत्त्व दिया जाता है। भारतीय साहित्य में गीत की परम्परा बहुत प्राचीन है। 'सामवेद' गान-विद्या का ही वेद है। संस्कृत-साहित्य में महर्षि वाल्मीकि के पश्चात् गीतों की एक दीर्घ परंपरा मिलती है। कालिदास आदि श्रेष्ठ कवियों के काव्य एवं नाटक गीति तत्त्व से युक्त मिलते हैं। जयदेव का 'गीत-गोविन्द' गीति काव्य प्रबंध अत्यंत लोकप्रिय ग्रंथ है। तुलसी एक ओर भावुक भक्त कवि हैं तो दूसरी ओर संगीतज्ञ भी। उन्होंने अपने आराध्य की आराधना गाकर की थी।

गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित 'रामचरितमानस' तो पूर्ण रूपेण संगीतमय रचना है। जब इसकी चौपाइयाँ विभिन्न राग-रागिनियों में

शोध छात्रा, मगध विश्वविद्यालय, बोध गया

गाई जाती है, तो हृदय-तंत्री झंकृत हो उठती हैं इन्हें केवल शिक्षित वर्ग ही गाता है, ऐसा नहीं वरन् अशिक्षित वर्ग भी इन चौपाइयों को गाकर पूर्ण आनंद लेता है। यह 'मानस' की महानता का रहस्य है। तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में संगीत को महत्व देकर भगवान् राम के पावन चरित्र को महत्त्व देकर भगवान् राम के पावन चरित्र को जनसाधारण तक पहुँचाया है और उनकी भावनाओं से जोड़ा है।

तुलसीदास ने संगीत को जीवन से भिन्न रूप में नहीं देखा, क्योंकि जीवन की पावनता संगीत की पावनता है और संगीत की पावनता जीवन की इसी विश्वास को मानते हुए तुलसीदास ने जीवन को संगीत का सहारा देकर उसे विस्तार दिया है। उन्होंने मानव जीवन के अज्ञानांधकार को दूर करने के लिए संगीतरूपी प्रकाश स्तंभ का सहारा लिया है और उसके दिव्य प्रकाश को विश्व के कोने-कोने में फैलाया है। तुलसी के व्यक्तित्व में कवि और संगीतज्ञ दोनों का व्यक्तित्व न होता तो उनका काव्य उतना लोकप्रिय न बन पाता, जितना आज बन गया है।

ऋषियों ने संगीत को मोक्ष का साधन माना। मानव के अलावा पशु, पक्षी, पेड़, पौधे सभी जन्तुओं पर संगीत का प्रभाव माना जाता है।

तुलसीदास का युग संगीत का स्वर्णकाल है उस समय उत्तरी शास्त्रीय संगीत पद्धति के महान शास्त्रीय संगीतज्ञों तानसेन, बैजूबावरा, बाबा रामदास और रामदास प्रभुति का यश फैल चुका था। गोस्वामी जी पर साहित्यिक प्रभावों के अतिरिक्त संगीत शास्त्रों का भी प्रभाव था। मंदिरों एवं राज दरबारों में भी संगीत काव्य साहित्य स्थान पा चुके थे।

संगीत और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में पद काव्य एवं गीतों का अभिप्राय रस निष्पति है। रामायण और महाभारत में रस का प्रयोग जीवन रस अमृत आदि के रूप में हुआ है। नाट्यशास्त्र में भरत मुनि कहते है कि न तो रस-भाव से रहित होता है और भाव रस से एक-दूसरे के सहारे ही इसकी सिद्धि होती है। भावों के लोकनृत्यों में प्राण डालने वाले वाद्य ही होते हैं। जिनके बिना दोनों ही निष्प्राण होते हैं। जिस समय आल्हा और फाग में ढोलक, नौंटकी में नक्कारा, तमाशा में ढोलकी, कहारों के गाने में हुडुक बज उठते थे तब लोग मदमाते झोंके मनुष्य के अंग-अंग को झूमा-झूमा देते थे।

गायन्ता, न तयामाना च वाद्यन्तास्तु राक्षस
आमोद्म परमम् यन्मुर्वरामरण भूषिता:।।

उपरोक्त लोक में नृत्य, गीत और वाद्य का उल्लेख हुआ है।

वाल्मीकि ने धुनर्भंग के प्रसंग में 'दुंदुभी' देवदुंदुभि आदि वाद्यों का उल्लेख किया है। अश्वमेध यज्ञ के समय लव-कुश वीणा के साथ ही रामायण गाते हुए नगर में विचरण करते थे। वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड में संगीत का वर्णन अधिक है। वाल्मीकि रामायण में हनुमान को जो वाद्य यंत्र में दिखलाई देते हैं, उनमें मुटटुक (मृदंग की भाँति वाद्य), पटह, वंशी, विंची, मृदंग पणव, डिंडिमा आदि आडम्बर का वर्णन है। वैदिक काल में अनेक प्रकार की वीणाओं का भी उल्लेख है।

जितने पुराने ताल वाद्य हैं वे बदलकर नए ताल-वाद्य ढोल, ढोलकी, ढप, पखावज, नगाड़ा तबला इत्यादि में परिणत हो गए हैं, बड़े वाद्यों के भार को कम करने के लिए डमरू, खंजरी इत्यादि वाद्य बनाए गए हैं।

'रामायण' में एक वर्णन के अनुसार जब लक्ष्मणजी सुग्रीव के अंत:पुर में प्रेवश करते हैं, तो वहां वीणा- वादन के साथ शुद्ध गायन सुनते हैं। रावण को भी संगीत शास्त्र का प्रकांड विद्वान बताया गया है। इसी प्रकार 'महाभारत' में भी सात स्वर तथा गंधार ग्राम का वर्णन मिलता है। इन दोनों ग्रंथों में संगीत तथा वाद्य यंत्रों का विशेष उल्लेख है। भेरी, दुंदुभी, मृदंग, वीणा आदि वाद्यों का उल्लेख रामायण में देखने को मिलता हैं।

जैसे-

1. बाजन बाजहि बिबिध बिधाना।
सुमन-वृष्टि नभ नई विधिनाना।।

('रामचरितमानस' शिवजी के पाणि-ग्रहण समय का प्रसंग, बालकाण्ड)।

2. मानहुं मदन दुंदुभी दीन्हीं।
मनसा बिस्व विजय कह कीन्हीं।।

('रामचरितमानस', श्रीराम का सीता के प्रथम दर्शन के समय-बालकाण्ड)।

3. झांझि मृदंग संख सहनाई।
भेरी, ढोल, दुंदुभी सुहाई।

('रामचरितमानस'- झांझ, मृदंगा, शंख, शहनाई, बड़े नगारे, ढोल, दुंदुभी (नगाड़ा) धनुष-यज्ञ के तुरंत बाद-बालकाण्ड)

इस प्रकार रामायण के अनेक स्थानों पर वाद्ययंत्रों का उल्लेख किया गया है।

अतः रामायण या रामचरितमानस के अध्ययन से पता चलता है कि यह काव्य पूर्णतः संगीतमय काव्य है। साथ ही तुलसीदास ने सामाजिक उत्थान को महत्व दिया। समाज के प्रत्येक पहलू रामचरितमानस में वर्णित है और उनके समाधान की चेष्टा की है।

संगीत में छिपी असीम शक्ति और प्रभाव का प्रयोग अगर मनुष्य के कल्याणार्थ किया जाए तो दुनिया के लिए यही संगीत क्रांतिकारी परिवर्तन की जननी हो सकती है।

तुलसीदास रचित रामचरित मानस में सभी रसों को समावेश है जैसे बालकांड में वात्सल्य रस, जनकपुर-प्रसंग में श्रृंगार की प्रधानता किन्तु वहाँ भी मर्यादित श्रृंगार है। लक्ष्मण-परशुराम संवाद में रौद्र और वीररस, लंका दहन में अद्‌भुत और भयानक रस हैं तुलसी के काव्य संगीत के साथ समाज के हर पहलु पर प्रकाश डालते है जैसे- उन्होंने अपने काव्य में भक्ति के साथ शील, आचार मर्यादा और लोक संग्रह का संदेश सुनाकर हिन्दु जाति में अपूर्व दृढ़ता उत्पन्न कर दी है। उन्होंने हिन्दु धर्म के मूल सिद्धान्तों को भाषा में अवतीर्ण कर उनका समाज में प्रचार किया और शैव तथा वैष्णव सम्दाय के पारस्परिक मत-भेदों को वस्तुतः तुलसी के सामने दो मुख्य कार्य थे। पहला अपने अन्दर की सारी 'कमजोरियों को दूर कर हिन्दु जाति को एकजुट करना और दूसरा मुसलमानों के विरूद्ध एक सांस्कृतिक मोर्चा तैयार करना। पहले काम के लिये उन्होंने भरत ऐसे भाई का आदर्श स्थापित किया जो एक आदर्श मानव हैं जिसमें एक शिशु की सरलता है, एक न्यायी की न्यायप्रियता, एक भक्त की निश्छलता और सर्वोपरि एक भाई का भ्रातृत्व है। वास्तव में राम के शील और भरत के भ्रातृत्व की पृष्ठभूमि में तत्कालीन सभी सामाजिक दशाएँ चित्रित हो गयी हैं। तुलसी की महत्ता परशुराम, केवट, सुग्रीव विभीषण,शबरी आदि पात्रों की मूर्तियों का निर्माण तत्कालीन सामाजिकता से ही हुआ है। निश्चय ही उनका रामचरितमानस हिन्दी का ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का सर्वाधिक सुनियोजित प्रबंध काव्य है।

संगीत में स्वर साधना और उसके लाभ

दिव्या

ध्वनि एक विश्वव्यापी भाषा है। संसार का प्रत्येक मानव, पशु, पक्षी एवं वनस्पति आदि इसे भली-भांति समझ सकता है, इससे रंजन प्राप्त करता है और इससे प्रफुल्लित होता है। इसी से भाव सृष्टि का सर्जन होता है। रोना, हँसना, क्रोध, रति एवं शोक आदि सभी क्रियाएँ ध्वनि प्रधान है।

अतः ध्वनि की महिमा अपार है। सर्वसंसार के जड़ और चेतन तथा उसकी नित्य प्रति की लीला इसी ध्वनि से आश्रित है। किसी ने ध्वनि को 'ओंकार वाचक' कहा और किसी ने इसे 'ब्रह्म' उपाधि से विभूषित किया। मानव द्वारा प्रथम ध्वनि इसी -ओ....म्' रूप में प्रकाशित हुई। सर्व संसार का कार्य इसी ध्वनि के अर्थात् 'नाद' द्वारा सम्पन्न होता है। इसलिए नाद को 'नादब्रह्म' कहकर सम्मानित किया जाता है। मानसिक विचारों की अभिव्यक्ति करते समय ध्वनि का उतार-चढ़ाव लघु, गुरू एवं प्लुत उच्चारण तथा आवश्यकतानुसार मृदुता अथवा आघात रूप में शब्दोच्चारण करना आदि भावाभिव्यक्ति में प्रभाव उत्पन्न करते हैं।

ध्वनि मानव देह की प्राकृतिक प्रवृत्ति है। फिर भी कृत्रिम बाह्य उपायों से ध्वनि को संस्कारित करने की आवश्यकता होती है। व्यक्ति में भिन्न-भिन्न ध्वनि प्रवृत्ति होती है, इसलिए मूल ध्वनि की अपेक्षा संस्कारित ध्वनि की आवश्यकता अधिक होती है। व्यक्ति की प्राकृतिक आवाज को वैज्ञानिक पद्धति से सुयोग्य आकार देकर संगीतोपयोगी बनाने के शास्त्र को कंठ साधना कहा जाता है।

ईश्वर ने हर मनुष्य को आवाज प्रदान की है। आवाज मोटी, पतली, मधुर तथा कर्कश किसी प्रकार की हो सकती है परन्तु उसको संगीतोपयोगी बनाना, कंठा साधना के अनुसार पूर्ण रूप से संभव है।

अच्छे गायन अथवा वादन का आविर्भाव स्व साधना पर ही निर्भर है। अच्छे भवन में रहना, अच्छे कपड़े पहनना, अच्छा खाना, जिस प्रकार मन और शरीर को प्रसन्न रखने के लिए जरूरी है और उसी भवन की नित्य सफाई, सफेदी तथा रंग, फर्नीचर तथा पॉलीश की आवश्यकता है, जिससे भवन में रहने वालों की भी शोभा बढ़ती है उसी प्रकार अच्छे तथा प्रभावशाली गायन तथा वादन के लिए स्व साधना की आवश्यकता होती है जिससे उस कलाकार की शोभा बढ़ती है। पाश्चात्य देशों में इसे Voice Culture कहते हैं।

साधक स्वर साधना द्वारा स्वर में आये हु दोषों को दूर करता है। आवाज आन्दोलन से उत्पन्न होती है और आन्दोलन कम्पन्न से उत्पन्न होते हैं। पं0 शारंगदेव के मतानुसार आत्मा ज बोलने की इच्छा करती है तो संकेत करता है औ अग्नि प्राण को स्पर्श करती है। प्राण, नाभि, हृदय, कंठ, मुख और मस्तिष्क आदि स्थानों की न तंत्रियों को स्पर्श करता है। तंत्रियाँ काँपती हैं औ कम्पन से आवाज पैदा करती है।

इस प्रकार स्वर साधना द्वारा कंठ स्वर को दोष रहित रूप देना है। साधना के द्वारा किसी की भ आवाज संगीत के लिए उपयुक्त बनाई जा सकती है, किन्तु यह जरूरी है कि उस व्यक्ति में संगीत सीखने की तीव्र इच्छा होनी चाहिए। तभी व्यक्ति संगीत शिक्षा प्राप्त करके गायक बन सकता

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

है। किसी भी घरानेदार गायकी के लिए यह साधना उपयोगी नहीं हो सकती, क्योंकि स्वर साधना के द्वारा केवल आवाज तैयार होती है गायकी नहीं। आवाज तैयार होने के पश्चात् किसी भी घराने की गायकी तैयारी की जा सकती है। पश्चिमी देशों में संगीतज्ञ, ध्वनि शास्त्रज्ञ तथा शरीर-चिकित्सकों के सामूहिक विचार-मंथन के बाद आज इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आवाज कोई ईश्वरीय देन नहीं है, अपितु वह प्रयत्न से परिवर्तनीय भी है। स्वरोत्पादक इन्द्रिय का यह सुलभ कार्य है कि वे केवल मुक्त तथा स्पष्ट आवाज का निर्माण करें, किन्तु उसी आवाज को चौड़ाई, वजन एवं मधुरता में सजाना आदि ऐसी कुछ अन्य भ्रांतियां आवाज निर्माण के बारे में रही है।

यद्यपि प्रत्येक घराने के अनुसार स्वर साधना का विधान अलग अलग है किन्तु सभी घरानों में खर्ज साधना को महत्व दिया गया है। स्वर साधना के समय मन्द्र सप्तक के स्वरों का बार-बार उच्चारण किया जाता है। मध्य सप्तक के स्वरों पर कम से कम दस बार आवाज लगाई जाती है। इसी प्रकार मन्द्र सप्तक के स्वरों पर आरोह अवरोह रूप में आवाज पूर्णश्वांस के बल पर लगाना और उसकी स्वयं जाँच करना, जहाँ कहीं बेसुरापन हो उसे ठीक करना, जहाँ आवाज काँपती हो, उसे सीधा करना और जिस स्वर पर आवाज दीख पड़े उसका बार-बार उच्चारण कर शुद्ध करना आदि को स्वर साधना कहा जाता है। इसी प्रकार विभिन्न अलंकारों का अभ्यास भी इसी सप्तक में किया जाता है। कुछ अभ्यास से कंठ के सभी दोष दूर हो जाते हैं और प्रभावोत्पत्ति आरंभ हो जाती है। प्रत्येक स्वर पूर्णश्वांस भर गाना चाहिए। जो हरकत एक बार ठीक ना निकले उसे बार-बार उच्चारण किया जाना चाहिए। इस स्वर साधना से एक गायक को विभिन्न प्रकार से लाभ मिल सकते हैं- नाद का रूप-गुण-आवाज पूर्ण रूपेण वश में हो जाती है। नाद के सूक्ष्म तथा स्थूल रूप का यथा समय प्रयोग किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के भाव उत्पन्न किये जा सकते हैं।

नाद का जाति गुण- यथाभाव विभिन्न प्रकार की आवाजें उत्पन्न की जा सकती है। पं0 शारंगदेव कथित छः काकु उसी गुण के अंतर्गत शामिल है। प्रत्येक प्रकार के रस और भाव के संचार से प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है।

नाद का स्थान गुण- मन्द्र सप्तक के स्वर साधना से मध्य और तार सप्तक के स्वर अत्यधिक स्पष्ट हो जायेंगे। आवाज वश में हो जाने से तारता का विकास होता है। आप जहाँ चाहे बिना कष्ट के आवाज लगा सकते हैं।

कंठरोग- स्वर साधना द्वारा कंठ के सभी रोग नष्ट हो जाते है। नसें शक्तिशाली हो जाती हैं, यदि कंठ को कोई रोग नहीं तो शारीरिक बीमारियाँ भी दूर रहती है।

फेफड़े- स्वर साधना द्वारा श्वांस में वृद्धि होती है। शक्तिशाली श्वांस फेफड़ों को शक्ति प्रदान करता है। शक्तिवान् फेफड़े भयानक बीमारियों से बचाकर रखते हैं।

नाभि, हृदय, कंठ, मुख और मस्तिष्क- जहाँ स्वर साधना से आवाज को शक्ति मिलती है, विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति हो सकती है, तारता पर अधिकार प्राप्त होता है, वहाँ नाभि, हृदय, मुख और मस्तिष्क आदि को भी बल मिलता है, रोगों का नाश होता है और एकाग्रता प्राप्त होती है।

मधुरता- स्वाभाविक अवस्था में उच्चारण किया गया स्वर मधुर होता है। स्वर साधना कंठ को माधुर्य प्रदान करती है। मधुर ध्वनि संसार और समाज को वश में कर लेती है।

सुरीलापन- जब आवाज स्वर में और स्वाभाविक होती है, तो वह सुरीली आवाज कही जाती हैं। यह भी स्वर साधना द्वारा ही प्राप्त होती है।

श्वांस- मन्द्र स्वरों का अभ्यास करते समय प्रत्येक स्वर का कई श्वांस तक उच्चारण किया जाता है। साधक को अपने पास एक सेकेण्ड वाली घड़ी रख लेनी चाहिए। यदि पहला श्वांस दस सेकेण्ड का लिया गया हो तो दूसरा 11 सेकेण्ड का लेना चाहिएं इसी प्रकार क्रम पूर्वक यह बढ़ता रहना चाहिए। नित्य प्रति ऐसा अभ्यास करने से श्वांस की लम्बाई 35, 40 सेकेण्ड पैदा हो जाएगी और सुरीलापन का आविर्भाव होगा।

इस प्रकार स्वर साधना की पद्धति आवाज तैयार करने के लिए उपयुक्त हो सकती है, परन्तु प्रत्येक अभ्यास करने वाले को कुछ बातों का ख्याल रखना चाहिए। शिष्य की षड़ज साधना गुरू की उपस्थिति में ही होनी चाहिए। प्रत्येक गुरू को अपने शिष्य की आवाज के अनुसार ही सुर निश्चित करना चाहिए। मंद्र तथा तार में अनायास आवाज कहां तक पहुँच जाती है वहां तक की शिष्यों को स्वर पहुँचाने, आवाज आकार में तथा खुले ढंग से लगाने को कहना चाहिए। नियमित अभ्यास करना आवश्यक है। तानपुरा अपने सुर में मिलाकर क्रमशः मंद्र, मध्य व तार स्थानों के स्वर लगाने चाहिए। इस हेतु यह ध्यान रखना चाहिए कि आवाज के साथ जबरदस्ती न की जाये अन्यथा आवाज में दोष उत्पन्न हो सकती है। तीनों सप्तकों में स्वर लगाने की क्रिया के पश्चात् भिन्न-भिन्न पलटों का रियाज करना चाहिए। गीतों की बंदिशें दोहराना, तानों का अभ्यास, आलापचारी में विविधता लाने की कोशिश जैसी बातों को भी अभ्यास के अंतर्गत रखा जा सकता है। जिस संगीत साधक को सिद्ध कलाकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा है, उसको अपनी इच्छापूर्ति के लिए असीम कष्ट तथा तपस्या करने की आवश्यकता है। सुयोग्य मार्गदर्शन, ठोस साधना तथा प्रत्यक्ष कला प्रदर्शन से ही समर्थ तथा प्रभावकारी संगीत कलाकार की निर्मिति हो सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. संगीतायन- सीमा जौहरी, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2003।
2. संगीत शास्त्र विज्ञान- मीरा मदन, राधा पब्लिकेशन्स 2001।
3. संगीत विशारद-बसंत, संगीत कार्यालय हाथरस 2003।

संगीत में स्वर साधना

रूचि श्रीवास्तव

साधना का अर्थ है, मन को किसी विषय में एकनिष्ठ भाव से संयुक्त करना। "किसी साध्य वस्तु की प्राप्ति के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, उसे साधना कहते हैं।" अनन्तकाल से मानव सांसारिक जीवन से दूर शांति की तलाश में भटकता रहा है। समस्त बंधनों से अपने को मुक्त कर मानव ने तपस्वी का जीवन अपनाया, इन्द्रियों तथा मन को वश में किया, परन्तु मानव मन को शांति कब कहाँ और कैसे मिली यह कह पाना कठिन है। महर्षि पातन्जलि, भगवान बुद्ध आदि शंकराचार्य जैसे महान योगियों ने अपने-अपने ढंग से विभिन्न साधना पद्धतियों का अविष्कार किया।

श्रीमदभगवत् गीता तथा अन्य उपनिषदों में शान्ति साधना का आधार इन्द्रीय वंशीकरण, मन बुद्धि की निर्मलता और परब्रह्म से तदात्कार होना बताया है। इसी आधार पर नाद ब्रह्म के उपासक संगीत योगियों ने संगीत साधना का मार्ग प्रशस्त किया है। संगीत साधना में इन्द्रियों के समाहित होने, मन के ध्यानस्थ होते तथा परब्रह्म के गुणगान में ब्रह्म से तादात्म्य स्थापित होने की योग साधना कितनी सुलभ एवं सुन्दर है, इसकी अनुभूति संगीत साधना द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। भारतीय संस्कृति की विचारधारानुसार मनुष्य को एक ध्वनि उत्पादक प्राणी स्वीकारा गया है। मानवदेह षड्चक्रों से निर्मित मानी गई है। "गुदा और लिंग के मध्य में चार दलों वाला आधार चक्र हैं।" इसी प्रकार अन्य आधार चक्रों का वर्णन संगीत रत्नाकर नामक ग्रन्थ में प्राप्त होता है। नाभिकचक्र स निकला हुआ नाद हृदय से होता हुआ मूर्धा को प्रभावित करते हुए मुख से बाहर निकलता है। इसी नाद की साधना द्वारा साधक संगीत द्वारा सिद्धि प्राप्त करता है। वाद्य वादक भी इसी नाद को अनुभूत कर अपने वाद्यों में सृजित करते हैं। डॉ0 सुभद्रा चौधरी के अनुसार, "भारतीय चिन्तन धारा की एक बड़ी मौलिक विशेषता यह रही है कि सभी विद्याओं, कलाओं, शास्त्रों आदि का अन्तिम लक्ष्य आत्मानुभूति माना गया है।" भारतीय परम्परा में संगीत कला को भी कला रूप में न मानकर इसे पूजा एवं तपस्या के रूप में स्वीकारा गया हैं नाद को ब्रह्म का रूप मान योगी और महर्षियों ने इसे निर्गुण ब्रह्म का सगुण रूप कहा है। परात्पर ब्रह्म की अनुभूति प्रणव की साधना से अथवा नाद की उपासना से ही सिद्ध होती है। संगीत की शक्ति में ही सिद्ध होती है। संगीत की शक्ति में दैवीय गुण स्वीकारे गये हैं।

नास्ति नादात्परो मंत्रों न देवः स्वात्मनः परः।
नानुसंधे परापूजान हित प्तेः परं सुखम्।।
(योग शिखोपनिषद् लोक 2/0)

अर्थात् नाद से बड़ा कोई मंत्र नहीं आत्मा से बड़ा कोई देव नहीं नाद के अनुसंधान से बड़ी कोई पूजा नहीं तथा तृप्ति से बड़ा कोई सुख नहीं।

संगीत कला को अत्यंत उच्च कोटि की कला स्वीकारा गया है, "यह तो यौगिक विद्या है, अतः नाद की सिद्धि के लिए पवित्र निर्विकारी मन एवं प्रातः का निश्चित वातावरण अपेक्षित है, यौगिक विद्या की उपलब्धि के लिये योगियों जैसा पवित्र मन एवं त्यागमय आचरण आवश्यक है।"

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

स्वर साधना के लिए गायन के विद्यार्थियों को कुछ बिन्दुओं पर अमल करना आवश्यक है। जैसे नियमित अभ्यास करना आवश्यक है। तानपुरा अपने सुर में मिलाकर क्रमशः मंद्र मध्य व तार स्थानों के स्वर लगाने चाहिए। इस हेतु ध्यान रखना चाहिए कि आवाज के साथ जबरदस्ती न की जाये अन्यथा आवाज में दोष उत्पन्न हो सकता है। तीनों सप्तकों के स्वर लगाने की क्रिया के पश्चात् भिन्न-भिन्न पलटों का रियाज करना चाहिए। आवाज तैयार करने के लिये एक विशेष विधि दीर्घकाल से चलती आ रही है। जिसको खर्ज साधना कहते हैं, परन्तु खर्ज साधना हमेशा गुरू की उपस्थिति में ही होनी चाहिए। आवाज के अनुसार ही सुर निश्चित करना चाहिए। मन्द्र तथा तार में अनायास ही आवाज जहाँ तक पहुँच जाती है। वहाँ तक की स्वर लगायें, आवाज आकार में तथा खुले ढंग से गाने को कहना चाहिए। गीतों की बंदिशों दोहराना, तीनों का अभ्यास आलापचारी में विविधता लाने की कोशिश जैसी बातों को भी अभ्यास के अंतर्गत रखा जा सकता है। जिस संगीत कला साधक को सिद्ध कलाकार के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा है, इसको अपनी इस इच्छापूर्ति के लिए असीम कष्ट तथा तपस्या करने की आवश्यकता है। सुयोग्य मार्गदर्शन, दीर्घ साधना तथा प्रत्यक्ष कला प्रदर्शन से ही समर्थ तथा प्रभावकारी संगीत कलाकारों की निर्मिति हो सकती है। सफल कलाकार बनने का मार्ग बड़ा निकट है। उसके लिए दीर्घ तपस्या तथा कष्ट करने की आवश्यकता होती है। जिसके हृदय में संगीत का गहरा प्रेम है। जो संगीत को ही अपना जीवन सर्वस्व मानता है ऐसी विद्यार्थी श्रेष्ठ संगीतकार हो सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. कल्याण साधनांक, गीता प्रेस, गोरखपुर
2. शारंगदेव, संगीत रत्नाकर (अनुवाद)
3. चौधरी सुभद्रा, संगीत संचयन
4. संगीत मासिक, सितम्बर, 1997

तबले के विभिन्न घरानो की मौलिक बंदिशो की रचनाओं द्वारा तुलना

पूजा विश्वकर्मा

तबले पर बजने वाले वर्णो, अक्षर, पटाक्षर या एल्फाबेट कहलाते है, वे सभी घरानों एवं बाजों में एक समान ही होते है। सभी घरानो में धा को धा या धिं को धिं ही कहते है परन्तु घरानो में उनकी तबले के बोल निकालने की विधि में थोड़ा-थोड़ा अन्तर होता है। प्रत्येक घरानो में कुछ विशेष प्रकार की मौलिक रचनाएं भी हुई और घराने के कर्णधार विद्वानो ने बंदिशो के निकालने की विधि में परिवर्तन किए, इससे ही विभिन्न धराने अलग-अलग अस्तित्व में आए और उनकी पहचान बनी। तबले पर बजने वाली रचनाएं पेशक़ार, कायदा (रेला) परन, गत आदि है, परन्तु उन सभी का महत्व विभिन्न घरानो में भिन्न-2 है जैसे दिल्ली घराने में पेशकार कायदे और रेले जैसी विस्तारशील रचनाओं को अधिक महत्व दिया जाता है तथा अजराड़ा में त्रस्य जाति के कायदो को, लखनऊ में नृत्य तथा जोरदार बंदिश पेशक़ार, कायदा, रेला, परण, चक्करदार आदि फर्रूखाबाद में रौ, गत और चाला या चलन को बनारस घराने में (उठान) छन्द, परन जैसे अविस्तारशील बंदिशो का, पंजाब घराने में लम्छड कायदा, रेला लयकारी और बोल-बॉट को अधिक महत्व दिया जाता है, इस प्रकार प्रत्येक घराने में अपने नियम है उन्हीं की सीमा में बद्ध होकर भारतीय संगीत में विविध घराने अस्तित्व में आए, जो अपनी निजी विशेषताओं के कारण एक दूसरे से तुलनात्मक हुआ।

तबले के प्रमुख छः घरानो का उद्गम

उ0 सिद्वार खॉ ढाढी

1-दिल्ली घराना

उ0 बुगरा खॉ (जिनका नाम अज्ञात है)

पुत्र		पुत्र
उ0 सिताब खॉ	मोदू खॉ	बक्शु खॉ
पुत्र	पुत्र	पुत्र
उ0मीरू खा	उ0 कल्ल खॉ	

2-लखनऊ घराना

पं0 राम सहाय, हाजी विलायत

शिष्य (शिष्य, दामाद)

3-उ0 अजराड़ा घराना

4-फर्रूखाबाद घराना 5-बनारस घराना

6- पंजाब घराना- पंजाब घराना स्वतन्त्र घराना हे। उ0 सिद्वार खॉ ढाढी के समकालीन लाला भवानीदास या भवानी सिंह पंजाब घराने के संस्थापक है।

तबले के विभिन्न घरानो की मान्यता का एक मात्र आधार, उनकी भिन्न वादन शैली है यह विभिन्नता दो प्रकार से बतलाई जा सकती हे। 1-रचनाओ से, 2-बोलो की निकास विधि से।

तबले के वर्ण सभी घरानो के लिये एक है उसी प्रकार से जैसे वर्णमाला के आधार पर भिन्न-2 विषय लिखे जाते है तबले में एक ही बोल विभिन्न घरानो में कुछ अन्तर के साथ बजाए जाते है

शोध छात्रा संगीत एवं प्रदर्शन कला विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

उदाहरण के लिये "धा" के निकास को देखिये-दिल्ली, अजराड़ा में वह किनार पर तो लखनऊ में लव पर तो बनारस में और खुला करके बजाया जाता है।

"तिरकिट" का निकास किस प्रकार से प्रमुख घरानो में किया जाता है। यह तुलना नीचे की तालिका से स्पष्ट हो जायेगा।

घराना "ति" स्याही पर (किस अंगुली से) "र" स्याही पर (किस अंगुली से) "कि" पूरा पंजा "ट" स्याही पर (किस अंगुली से)

1 दिल्ली मध्यमा अंगुली से तबले पर तर्जनी से तबले पर बायें पर पूरा पंजा मध्यमा अंगुली से तबले पर
2 अजराडा मध्यमा अंगुली से तबले पर तर्जनी से तबले पर बायें पर पूरा पंजा अनामिका से तबले पर
3 फर्रूखाबाद मध्यमा अंगुली से तबले पर तर्जनी से तबले पर बायें पर पूरा पंजा मध्यमा और अनामिका से तबले पर
4 लखनऊ मध्यमा ओर अनामिका अंगुली से तबले पर तर्जनी से तबले पर बायें पर पूरा पंजा मध्यमा और अनामिका से तबले पर
5 बनारस मध्यमा ओर अनामिका अंगुली से तबले पर तर्जनी से तबले पर बायें पर पूरा पंजा मध्यमा और अनामिका से तबले पर
6 पंजाब मध्यमा ओर अनामिका अंगुली से तबले पर तर्जनी से तबले पर बायें पर पूरा पंजा तर्जनी को छोड़कर तीनो अंगुलियों एक साथ तबले पर

इसी प्रकार विभिन्न घरानो में बोल बंदिशो में भी अन्तर है और उसी से उनकी पहचान स्पष्ट होती है। जैसे दिल्ली बाज में पेशकार, कायदा, रेले, और छोटे-2 मुखड़े, मोहरे, टुकड़े आदि की प्रधानता है। अजराड़ा में बाएं के काम के साथ-2 आड़ (तिस्त्र, जाति) के बोल युक्त कायदो को प्राथमिक्ता दी जाती है इसमें "न" बोल को अनामिका अंगुली से स्याही तथा लव के बीच में बजाया जाता है तथा दिल्ली की समस्त बंदिश अज़राडा में बजायी जाती है लखनऊ में पेशकारा, कायदा, रेला, परण, टुकड़ा, चक्करदार, गत आदि की प्रधानता है। फर्रूखाबाद में चाले और गतो को महत्व दिया जाता है तो पंजाब और बनारस बाज में उठान, बोल-बाँट, लग्गी-लडी एवं छन्दो का बहुल्य रहता है इस विश्लेषण से तबले के प्रमुख बाजो की बंदिश का स्वरूप स्पष्ट होता है।

एक कायदे के बंदिश द्वारा प्रमुख घरानो की वादनशैली बोल निकास द्वारा बजकर तुलना-

घात टेध तेते धाधा । तेटे धागे तीना केना ।
तात टेता तेटे धाधा । तेटे धागे धीना गीना।।

दिल्ली घराने में - "धा" चॉटी पर तर्जनी से तथा "तेटे" स्याही पर तर्जनी तथा माध्यमा से दो अंगुली से बजाया जायेगा।

अजराडा घराने में- इसमें भी दिल्ली की तरह बजाया जाएगा।

बनारस घराने में- इसमें "धा" लव पर तर्जनी अंगुली से "तेटे" स्याही पर तीन अंगुली मध्यमा अनामिका कनिष्ठका से "ते" तथा टे तर्जनी से बजाया जाएगा।

लखनऊ घराना- इसमें "धा" को चॉटी पर तर्जनी अंगुली से तथा तेटे उल्टा बजाया जाता है। जैसे "ते" बजाने के लिये तर्जनी का प्रयोग तथा "टे" बजाने के लिये मध्यमा तथा अनामिका का प्रयोग किया जाता है।

फर्रूखाबाद घराने में- "धा" चॉटी से तर्जनी अंगुली से तथा तेटे बनारस घराने की तरह खुला बजाया जाता हे।

पंजाब घराना में-पंजाब घराने में बनारस की तरह खुला बजाया जाता है।

बंदिश को प्रमुख घरानो की वादनशैली में क्रमबद्व अन्तर प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है दिल्ली घराने से जोरदार बाज लखनऊ घराने का, तथा लखनऊ घराने से जोरदार बाज बनारस घराने का है परन्तु पंजाब घराने का उदय कतिपय पंजाब विद्वानो द्वारा कायदो कीशुद्वता को कायम रखने के दृष्टिकोण के लम्छड़ कायदे के निर्माण के रूप में हुआ जो पंजाब घराने की विशेषता है जिसका वादन स्वतंत्र रूप से होता है।

इस प्रकार हम देखते है कि जहॉ दिल्ली घराना पेशकार कायदा रेला छोटे-छोटे टुकड़े, मोहरे, मुखड़े की बंदिशो द्वारा तथा वर्णो के निकास में दो अंगुलियों तर्जनी व माध्यमा के अधिकाधिक प्रयोग

द्वारा पहचाना जाता है। वही अजराडा घराना आड़ लय के कायदो तथा न वर्ण के निकास में अनामिका अंगुली के प्रयोग द्वारा विख्यात है जबकि लखनऊ घराना नृत्य की प्रधानता के कारण गत तोड़े चक्करदार नौहक्का तथा जोरदारी के लिये प्रसिद्ध है इस प्रकार बनारस घराना ठुमरी की प्रसिद्ध के कारण लग्गी, लड़ी, छन्द, जोरदार परन, गते, जनानी-मर्दानी गते फर्द गत आदि बंदिशों के लिये प्रसिद्ध है यहाँ अनामिका अंगुली को टेढ़ी करके लव पर प्रहार द्वारा ता या ना वर्ण का निकास इसकी अपनी अलग पहचान बनाए रखने में सक्षम है जहाँ तक फर्रूखाबाद घराने का प्रश्न है तो यह घराना चाल चलन गत रौ आदि के लिये अपना अलग अस्तित्व बनाए हुये है पंजाब घराना जिसका विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ इतना ही नही बंदिशो में लम्छड़ कायदे लम्बी गते, विविध लयकारी युक्त तिहाईया यहाँ की अपनी अलग विशेषता है जिनके कारण ये विभिन्न घराने अपनी अलग-अलग पहचान बनाएं रखने में सक्षम है।

आज यह समस्या विकट होती जा रही है कि कौन सी बंदिश किस घराने की है क्योंकि हम देखते है कि प्रत्येक घरानेदार सफल कलाकार अपने कार्यक्रम को अधिक आकर्षक एवं सफल बनाने हेतु घराने की शुद्धता को बरकरार नहीं रख पाते है बल्कि ये विभिन्न घरानो की बंदिशो को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित कर लेते है जिसमें संगीत के विद्यार्थियों जिन्हे सांगितिक क्षेत्र का सम्पूर्ण ज्ञान नहीं होता वे घरानेदार बंदिशो को लेकर दिगभ्रमित हो जाते है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची-

1. ताल प्रसून, पंडित छोटे लाल मिश्र (कनिष्क पब्लिशर्स डिस्टीबूयूटर्स संस्करण 2004)
2. तबला पुराण, पं0 विजयशंकर मिश्र (कनिष्क पब्लिशर्स डिस्टीबूयूटर्स संस्करण 2005)
3. पखावज ओर तबले के घराने, डॉ0 अबान ई0 मिस्त्री (स्वर साधना समिति मुम्बई 2000) एवंम् परम्परा ताल प्रकाश, भगवतशरण शर्मा (संगीत कार्यालय हाथरस 1996)

गुरू शिष्य परंपरा एवं संस्थागत संगीत शिक्षा का महत्व

श्वेता कुमारी

भारतीय संगीत परंपरा उतनी ही पुरानी है जितनी कि भारतीय संस्कृति, संगीत एवं अन्य ललित कलाएँ। संगीत विकास के विभिन्न स्तरों आदिमकाल, प्रागैतिहासिक, वैदिक, प्राचीन, मध्ययुगीन से होता हुआ आज वर्तमान स्वरूप में आया है। संगीत शिक्षा का हमारे समाज से अभिन्न संबंध रहा है। प्राचीन संस्कृति ग्रंथों, महाकाव्यों आदि के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि प्राचीन काल में संगीत शिक्षा एक अनिवार्य विषय के रूप में विद्यमान थी।

संगीत शिक्षा प्राचीन से लेकर आज तक बराबर चल रही है, वैदिक काल में गुरू-शिष्य परंपरा के माध्यम से ही शिक्षा के आदान-प्रदान, हेतु विद्यालयों के प्रबंध का वर्णन हमें प्राप्त होता है। आज संगीत शिक्षा के लिए अनेक विद्यालय एवं विश्वविद्यालय खुले हुए हैं जहाँ सुचारू रूप से संगीत की उच्च शिक्षा प्रदान की जाती है।

गुरू-शिष्य परंपरा-

प्राचीन भारतीय गायकों में कुछ ऐसे प्रसिद्ध गायक हो गए है, जिन्होंने अपनी प्रतिभा से एक विशेष प्रकार की गायन शैली को जन्म देकर उसे अपने पुत्रों तथा शिष्यों को सिखाकर प्रचलित किया। उनकी उस शैली का अनुकरण उनके शिष्यगण तथा कुटुम्बी अब तक करते चले आ रहे हैं। उन गायन-शैलियों को ही घराने का नाम दिया जाता है। अनेक घरानें के राग-स्वर तो प्रायः एक से ही है, किन्तु उनके गाने का या स्वरों को प्रयुक्त करने का ढंग अलग-अलग होने से हा यह कहा जाता है कि यह अमुक घराने की गायकी है।

प्राचीन काल में गुरू-शिष्य के बीच एक आदर, श्रद्धा व प्रेम की भावना निहित रहती थी। गुरूकुल पद्धति के माध्यम से शिक्षा-दीक्षा दी जाती थी, जिसमें गुरू के सम्मुख शिष्य आमने-सामने बैठकर शिक्षा ग्रहण करते थे और गुरू के मुख से उच्चारित विद्या को शिष्य आमने-सामने बैठकर ग्रहण करते थे। यूँ तो हर विद्या में इसी परम्परा का अनुसरण किया जाता था, परन्तु विशेषकर भारतीय संगीत गुरूकुल पद्धति के द्वारा की विकसित, पल्लवित और समृद्ध हुआ। आगे चलकर गुरूकुल पद्धति घराना पद्धति के रूप में विकसित हुई और घरानों के सानिध्य में आने से ही संगीत को एक सुरक्षा मिली, आगे चलकर घराना पद्धति की सीमाओं और अनेक सामाजिक, राजनैतिक कारणों से संगीत को संस्थागत शिक्षण पद्धति को विकसित होने का अवसर दिया। यद्यपि वर्ष 1920 के आस-पास ही संगीत की संस्थाओं का बीजरोपण प्रारम्भ हुआ था।

घराना पद्धति के समान्तर संस्थागत शिक्षण ने संगीत के विकास में योगदान देना प्रारम्भ कर दिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् संस्थागत शिक्षण का जोरों से विकास हुआ है और विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों तक में संगीत की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबंध हो गया है, आज कई विश्वविद्यालयों में संगीत शिक्षण के लिए अलग से विभाग भी बनाए गये हैं।

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सामान्य तौर पर संगीत शिक्षा के दो लक्ष्य हैं:-

1. संगीत के प्रति समझदारी पैदा करना।
2. व्यावसायिक संगीतज्ञ और विशेषज्ञ बनाना।

संगीत को सीखने वालों में संगीत के प्रति समझदारी पैदा करने की दृष्टि से लक्ष्य के आधार पर शिक्षण के लिए संस्कार का परीक्षण भी आवश्यक है। संगीत की सामान्य शिक्षा के लिए स्वर व लय की पकड़ मौलिक योग्यता है, जिस तरह मानव के बौद्धिक स्तर को ऊँचा उठाने के लिए सामान्य शिक्षा आवश्यक है उसी तरह संगीत के प्रति समझदारी पैदा करने के लिए भी संगीत की सामान्य शिक्षा का महत्व है।

मूलभूत तौर पर यह सभी व्यवस्थाएँ संगीत शिक्षण की परंपरागत विधि अर्थात मौखिक शिक्षा को अपनाती चली आई है। परिवर्तित सामाजिक परिस्थितियों के कारण शिक्षण पद्धति के बाह्य स्वरूप में उपलब्धता प्रचार व प्रसार वैयक्तिक या कथागत सामूहिक शिक्षण के व्यावसायिक एवं व्यावहारिक उद्देश्यों आदि में अंतर आता रहा है, अतः संगीत शिक्षण के स्तर में सुधार करने के लिए सरकार, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग व निजी संस्थाओं से सहयोग लेकर ही संगीत के गिरते हुए स्तर को बनाए रखने की। गुरूकुल संस्था व विद्यालयीन शिक्षण को समन्वित कर एक अच्छी शिक्षण प्रणाली विकसित की जा सकती है।

संगीत के संदर्भ में शिक्षा एवं शिक्षक की भूमिका एवं महत्त्व

गरिमा गुप्ता

'शिक्षा' किसी भी प्रकार के ज्ञान के वितरण तथा प्रसार का माध्यम होती ह। तथापि शिक्षा का कार्य-क्षेत्र ज्ञान के प्रसार तक सीमित नहीं है। उसी प्रकार किसी विषय में केवल जानकारी का संचय मात्र नहीं कहा जा सकता। गीता में भगवान श्री कृष्ण ने कहा है-

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसांसिद्धः कालेन आत्मनि विन्दति।।"(गीता0 4-38)

अर्थात् ज्ञान के समान पवित्र दूसरा कोई तत्व नहीं है और यह ज्ञान को सिद्ध करने वाला व्यक्ति अर्थात् योगी स्वयं प्राप्त करता है। दूसरे शब्दों में कोई भी जानकारी जब तक प्राप्तकर्ता के अंतःकरण में समाकर उसके व्यक्तित्व का अंश बन जाती है तभी वह (जानकारी) ज्ञान बनती है। वर्तमान समय में ज्ञानार्जन की प्रक्रिया ही शिक्षा का प्रचलित स्वरूप है। ज्ञान, विद्या एवं शिक्षा शब्द एक दूसरे के पर्याय प्रतीत होते हैं परन्तु यदि तीनों शब्दों में वृहद दृष्टि डाली जाय तो यह तथ्य प्राप्त होता है कि सभी का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है। 'शिक्षा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के 'शक्' धातु से हुई है। जिसका अर्थ है- शिक्षण प्रदान करना, मार्गदर्शन करना, निर्देश देना, आज्ञा देना इत्यादि।

"शिक्षयते उपदि ते यत्र सा शिक्षा"

उपरोक्त पंक्ति का भावार्थ यह है कि जिस माध्यम या पद्धति के द्वारा विशिष्ट प्रकार का ज्ञान या उपदेश दिया जाता है, वह 'शिक्षा' के अंतर्गत आता है। वह विशिष्ट विधि, जो शिक्षा देने के लिये प्रयुक्त की जाये 'शिक्षण प्रणाली' कहलाती है।

अतः शिक्षा वह आयोजित प्रक्रिया है तो व्यक्ति के व्यक्तित्व में प्रलौकिक तत्वों का समावेश करके उसके सर्वांगीण विकास का कारण बनती है तथा एक सभ्य, सुसंस्कृत, सुयोग्य एवं सुहृदय व्यक्ति का निर्माण करती है।

शिक्षा के विभिन्न आयामों में 'संगीत शिक्षा' भी एक प्रमुख आयाम है। संगीत के माध्यम से छात्र में शिक्षा के प्रति रूचि उत्पन्न की जा सकती है। शिशुओं की शिक्षा में संगीत को अनिवार्य स्थान दिया है। संगीत विषय की पहली विशेषता यह है कि इसे सीखने-सिखाने में शिक्षक और छात्र दोनों में एक विशेष प्रतिभा, क्षमता तथा रूचि की आवश्यकता होती है जो सामान्यतः सुलभ नहीं। दूसरी विशेषता इसकी शिक्षा का स्वरूप पूर्णतः व्यवहारिक है- साथ ही औपचारिकता की गुंजाइश इसमें बहुत कम है। उपरोक्त विशेषताओं को कमियाँ अथवा चुनौतियाँ भी कहा जा सकता है।

आधुनिक शिक्षा व्यवस्था में संगीत का समावेश किया गया है। संगीत शिक्षा के भिन्न-भिन्न रूपों पर आधुनिक युग में विचार किया गया है, जो अग्रांकित है-

1. संगीत से शिक्षा अथवा संगीत द्वारा शिक्षा।
2. संगीत की शिक्षा।

संगीत द्वारा शिक्षा से तात्पर्य प्राचीन काल में वेद मंत्रों द्वारा प्रदान किया जाने वाला ज्ञान से तथा विद्यालय में छात्रों को दी जाने वाली शिक्षा से है।

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जबकि संगीत की शिक्षा के अंतर्गत संगीत विषय के शास्त्र व क्रिया पक्ष दोनों आ जाते है जिसका चयन संगीत विद्यार्थी अपनी इच्छानुसार करता है। इस प्रकार संगीत के संबंध में दूसरी विचार धारा है- कि संगीत का पारम्परिक स्वरूप कायम रखने तथा संगीत भिन्न-भिन्न धाराओं और रूपों को समझने तथा उसे सुचारू रूप से चलाने हेतु दी जाने वाली शिक्षा।

वर्तमान समय में संगीत से ज्ञान और शिक्षा की परिभाषा में बहुत परिवर्तन आ गया है। ज्ञान मात्र जानकारी का पर्याय हो गया है। विशेषकर शिक्षण संस्थानों में शत् प्रतिशत लागू होती है। जैसाकि उपरोक्त वर्णित है संगीत रूपी ज्ञान की प्राप्ति का मुख्य उद्देश्य आत्म शांति की प्राप्ति हेतु होना चाहिये। (संगीत का यही रूप प्राचीन काल में प्रचलित था।) परन्तु आज स्कूली शिक्षा का चरम लक्ष्य मात्र प्रमाण पत्र की प्राप्ति हो गया है। ज्ञान की गहराई का स्थान जानकारी के विस्तार ने ले लिया है तथा उसकी सहजता और गम्भीरता का स्थान दिखावे और औपचारिकता ने। (आज के समय में उपरोक्त कथन के अपवाद भी प्राप्त होते हैं।)

संगीत शिक्षा के सबसे महत्वपूर्ण अवयवों में से एक संगीत शिक्षक है जिससे यह अपेक्षा की जाती है कि वह विद्यार्थी के सांस्कृतिक विकास में विषय की महत्ता को प्रदर्शित करे तथा वह विद्यालय की न केवल सांगीतिक अपितु अन्य सहगामी गतिविधियों की मुख्य धूरी के रूप में कार्य करे। यह भी माना जाता है कि जहाँ वह प्रतिभाशाली छात्रों को संगात के निरन्तर उद्यमशील कार्य-क्षेत्र को अपना लक्ष्य बनाने के लिये प्रोत्साहित करे एवं विषय पर अधिकारपूर्वक नेतृत्व का विकास करने के लिये संगीत-शिक्षा प्रदान हेतु धैर्य भी धारण करें। तब स्वभाविक रूप से यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वे कौन से महान गुण हैं जो किसी संगीत शिक्षक में अनिवार्य रूप से होने चाहिए? विचारोपरान्त इन गुणों के आधार पर हमें तीन मुख्य शीर्षक प्राप्त होते हैं-

1. नैसर्गिक 2. सैद्धान्तिक 3. अनिवार्य

संगीत शिक्षक के नैसर्गिक गुण के अंतर्गत आकर्षक आवाज एवं क्रियात्मक प्रदर्शन की योग्यता, सैद्धान्तिक गुण के अंतर्गत संगीत शिक्षा के लक्ष्य व उद्देश्य के साथ शिक्षण-पद्धति का ज्ञान तथा अनिवार्य गुण के अंतर्गत मौलिक, रचनात्मक और सैद्धानिक योग्यता, आलोचनात्मक दृष्टिकोण, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि इत्यादि समाहित है।

अस्तु, उपरोक्त वर्णित संगीत शिक्षक की विशेषतायें अथवा गुण वर्तमान संगीत शिक्षा को स्वर्णिम बनाने हेतु आवश्यक प्रतीत होते है।

संदर्भ ग्रंथ की सूची:-

1. श्री खण्डे डॉ0 सुरेश गोपाल, हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायन की शिक्षा प्रणाली
2. पलनीटकर डॉ0 अलकनन्दा, शास्त्रीय संगीत शिक्षा समस्याएं एवं समाधान
3. नारायण डॉ0 पुष्पम, भैरवी संगीत पत्रिका, सं0
4. दयालबाग शिक्षण संस्थान द्वारा प्रकाशित सोविनियर

घराने का उद्‌गम विकास तथा संगीत की प्रगति एवं संरक्षण में घराने का योगदान

आकाँक्षा शर्मा

घराना का अर्थ

श्री कृष्णराव पंडित के शब्दों में-

'कई शताब्दियों, बहुत वर्षों की परंपरा, उच्चकोटि के गुणों और कई पीढ़ियों की गुरू शिष्य परंपरा मिलाकर एक घराने का निर्माण करते हैं।''

घराना का व्यवहारगत अर्थ है रीति, पद्धति, शैली, स्टाइल आदि।

प्रो0 रमनलाल मेहता के कथानुसार-

''भारतीय संगीत के संदर्भ में पारिवारिक परंपरा (घराना) का महत्वपूर्ण स्थान है। इस देश में ऐसे अनेक हुनर और कलाएँ है जिन्हें आज भी कुछ जातियों और परिवारों ने अपने निश्चित दायरे में सुरक्षित रखा है। इसी प्रकार संगीत की कुछ विशिष्ट परंपरा परिवार में पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित और विकसित होती चली आ रही है। ऐसी परंपरा को घराना नाम दिया जाता है।''

घराना गायन वादन की एक विशिष्ट शैली है। संगीत का साधन माननी आवाज है जो रूप की भाँति भिन्न-भिन्न है। यही आवाज जब योग्य गुरू द्वारा संस्कारित करता है और यही आवाज जब भिन्न-भिन्न अलंकारों द्वारा स्वर बन जाती है, तब यहीं से घरानों का आविर्भाव होता है।

घरानों का उद्‌भव

प्राचीनकाल से लेकर आधुनिक काल तक एक लंबी यात्रा करते हुए भारतीय संगीत ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। संगीत में पहले बानियाँ थीं। बानी शब्द का प्रयोग 16 वीं शताब्दी में रचित ध्रुपदों में मिलता है। उस युग में ध्रुपद की चार बानियाँ थी। बानियों का मूल स्थान गीतियां ही रही होगी। गीति से बानी, अथवा प्रणाली और प्रणालियों से खानदान, सम्प्रदाय तथा घराना इत्यादि शब्दों की स्थापना हुई अर्थात् इन शब्दों को घराना का पर्यायवाची ही माना जा सकता है। चार वाणियों से पूर्व भी भरतमत, शिवमत, हनुमत मत, नारदमत जैसे चार मत प्रचलित थे जो कि घरानों के समान ही थे। अनेक विद्वानों के मतानुसार संगीत के घरानों की नींव 8वीं से 12वीं शताब्दी के बीच राजपूत काल में पड़ चुकी थी। संगीतकारों को राजदरबारों में आश्रय मिला था। कुछ विद्वानों के मतानुसार संगीत के घरानों का प्रारंभ मुगलकाल के अंतिम समय में हुआ। संगीत में रूचि रखने वाले मुगल शासकों ने अपने दरबार की शोभा बढ़ाने के लिए राजदरबारों में संगीतज्ञों को आश्रय प्रदान किया।

घरानों की उत्पत्ति के मुख्य कारण इस प्रकार है-

घरानों के नियम

विद्वज्जनों के घरानों की परस्पर भिन्नता को देखते हुए कुछ नियम बनाये जो 'घराना' शब्द का निर्वाह करने के लिए आवश्यक समझे जाते हैं।

1. किसी घराने के लिए कम से कम तीन पीढ़ियों की आवश्यकता।
2. प्रत्येक घराने के शिष्य अपने गुरू की आवाज और गायन शैली का अनुकरण करे यह आवश्यक है।

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

3. हर घराने के कुछ मुख्य राग होते हैं और बंदिशें जिन्हें उस घराने का गायन प्रचलित करता है।
4. घरानों की मौलिक गायकी तथा उनकी गायकी के मुख्य सिद्धांतों का पालन होना आवश्यक है।

राग के गायन के ढ़ग को शैली कहते हैं और यह शैली अलग-अलग घरानों में अलग-अलग हुआ करती है। शैली के अंतर्गत निम्नलिखित बातें आती है।

1. गीत की बंदिश
2. आवाज लगाने का ढंग
3. राग-विस्तार अथवा आलापकारी
4. तानों और बोलतानों का प्रयोग
5. ताल एवं लयकारी
6. राग की पसन्दगी

ख्याल गायकी के घराने

ख्याल गायकी के निम्न घराने आज भारत में प्रचलित हैं जैसे रामपुर, दिल्ली, लखनऊ, ग्वालियर, पटियाला, आगरा, किराना, जयपुर, मेंवाती, भिंडी बाजार, मनरंग घराना, गोखले घराना इत्यादि इन सभी घराना में आगरा, ग्वालियर, दिल्ली, लखनऊ, घराने सबसे प्राचीन हैं और शेष घराने किसी न किसी रूप में इन घरानों की शाखाएँ है।

प्रचलित घरानों में कोई घराना किसी विशेषता के लिए अधिक महत्व रखता है और कोई घराना कम इसका अर्थ यह नहीं है कि एक घराना उच्च है, और दूसरा तुच्छ। प्रत्येक घराने की अपनी कुछ न कुछ विशेषताएँ है।

संगीत की प्रगति तथा संरक्षण में घरानों का योगदान

घरानों का अस्तित्व संगीत जगत में संगीत की सुरक्षा, विकास व समृद्धि की पहचान है। घराना गायकी के संवर्धन के लिए एक उच्चकोटि का विद्यालय साबित हुआ। घराने हमारे मार्ग-दर्शक अथवा पथ प्रदर्शक रहे हैं। यदि घराने ना होते तो संगीत की पैतृक संपत्ति सुरक्षित ना रहती। घरानों का निर्माण ना होने पर हमारी संगीत की परंपरागत विद्या अवश्य ही मध्ययुग में तथा अंग्रेजों के युग में नष्ट हो गयी होती। घरानों ने ही हमारी सांगीतिक संस्कृति की रक्षा की तथा कला के रक्षक का उत्तरदायित्व निभाया है। उचित स्वरलिपि के अभाव में इन घरानों ने भारतीय संगीत का प्रकाश स्थित रखने का कार्य किया।

आज आवश्यकता है संस्थागत शिक्षा प्रणाली घराना पद्धति की नींव पर पल्लवित हो सके क्योंकि आधुनिक युग की परिस्थितियों के अनुरूप आज ऐसी सुसंगठित पद्धति की आवश्यकता है जो गुरूकुल और घराने की विशिष्टाओं पर आधारित हो तथा वर्तमान परिवेश की सीमाओं के अंतर्गत शास्त्रीय परंपरा की अनेक विद्याओं की पुनः रचना को प्रोत्साहित कर सके।

आधुनिक युग की परिस्थितियों और आवश्यकताओं के अनुरूप अब एक ऐसी सुसंगठित पद्धति की जरूरत है जो गुरूकुल और घराने की विशिष्टताओं पर आधारित हो और वर्तमान परिवेश की सीमाओं के अंतर्गत शास्त्रीय परंपरा की अनेक विद्याओं की पुनः रचना को प्रोत्साहित कर सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. संगीत बोध- डॉ0 शरच्चन्द श्रीधर परांजपे
2. भारतीय संगीत का इतिहास- भगवत शरण शर्मा
3. भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण- प्रो0 स्वतंत्र शर्मा
4. भारतीय संगीत की परंपरा वंशानुक्रम एवं वातावरण- डॉ0 हरिकिशन गोस्वामी
5. हमारा आधुनिक संगीत - डॉ0 सुशील कुमार चौबे

रागांग-राग

भूपेन्द्र कुमार

रागांग शब्द संगीत का पारिभाषिक शब्द है। यह दो शब्दों के मेल से बना है। राग़ अंग। अंग के अनेक अर्थ हैं जैसे शरीर, गात, देह, कलेवर, भाग, अंश, खण्ड, हिस्सा, टुकड़ा, भेद, पक्ष, सहायक आदि। पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे के अनुसार- ''रागांग'' स्वरों का ऐसा समुदाय होता है। जो राग रूपी शरीर का मुख्य भाग होता है तथा इन भागों या अंगों के आधार पर जो वर्गीकरण किया जाता है उसे 'रागांग वर्गीकरण' कहा जाता है। रागांग के बिना रागों की स्वतंत्र विशेषता नहीं रहती। रागांग के आधार पर ही समान स्वर वाले रागों को पृथक पहचाना जा सकता है। रागांग पद्धति को मध्यकाल में मेल पद्धति कहा जाता था।

डॉ0 कृष्णा विष्ट के अनुसार-

"Raganga should be understood as an essential phrase of a Raga, which phrase could well be characteristic of a group of Ragas."

डॉ0 रातान्जनकर जी का दृष्टिकोण विशेष स्वर संगीत पर केन्द्रीभूत है- ''रागांग यानि ऐसी एक विशेष स्वर संगति जो बहुत से रागों में मिलकर उनका अंग बन जाता है और जिसके जरिये यह सब राग एक ही प्रकार के समझे जाते हैं।''

रागांग शब्द 'राग' और अंग इन दो शब्दों से बना है। राग का अर्थ तो 'रंजयति इति रागः', कहकर ग्रंथकारों ने परिभाषिक किया ही है और 'अंग' का अर्थ विभिन्न शब्द कापों के अनुसार शरीर, भाग, अंग, खण्ड, टुकड़ा, अवयव तथा पक्ष आदि माने गए हैं। अतः इस प्रकार रागांग शब्द का संयोजन से है जिसके अंतर्गत विभिन्न स्वररूप एवं लय प्रयोग अवयव-अवयवी संबंध रखते हुए एक ऐसे सांगीतिक स्वरूप का निर्माण करते हैं जिसकी एक भावात्मक मुखाकृति एवं प्रवाहात्मक अभिव्यक्ति होती है।

रागांग का सर्वप्रथम प्रयोग मतंग रचित 'बृहद्देशी ग्रंथ के रागाध्याय में देशी रागों को वर्गीकृत करते हुए कहा गया है'-

'रागांगादिनी देशीरागा इति इत्युच्यते'

(संगीतरत्नाकर, द्वितीय-भाग, सिंह भूपालकृत टीका, पृष्ठ-16)

अर्थात् रागांगादि रागों को देशी राग कहा जाता था।

''ग्रामोक्तानाम तु रागाणाम् छात्रामातम् भवेदिति।

गीतज्ञैः कथिताः सर्वे रागांगास्तेन हेतुना।।''

(संगीतरत्नाकर, द्वितीय -भाग, सिंह भूपालकृत टीका, पृष्ठ-15)

अर्थात् जिन रागों में ग्राम रागों की छाया दिखाई दे परंतु ग्राम राग के नियम को भंग करके कुछ मिश्रण अथवा परिवर्तन करके जिन नये रागों का निर्माण किया जाय, उन्हें ही रागांग वर्ग के अंतर्गत रखा जा सकता है।

शोध छात्र संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

मध्यकालीन रागांग पद्धति के अनुसार- राग वर्गीकरण के लिए मुख्य तीस रागांग अथवा राग अंग माने गये थे। जैसे भैरव, भैरवी, कल्याण, बिलावल, खमाज, काफी, पूर्वी, मारवा, तोड़ी, सारंग, भीमपलासी, आसावरी, ललित, पीलू, सारंग, विभास, नट, शंकरा, श्री, बागेश्री, केदार, कान्हड़ा, मल्हार, हिंडोल, विहाग, कामोद, आसा, भूपाली, दुर्गा और भटियार। रागांग रागों के उपयुक्त तीस मुख्य रागों से मिलते जुलते अन्य रागों को भी उनका अंग मान कर उन्हें मुख्य रागांग राग के अंतर्गत रखा गया है।

राग वर्गीकरण की इस पद्धति के अंतर्गत वर्गीकरण के लिए रागांग रागों की इतनी अधिक संख्या होने के कारण यह पद्धति बहुत प्रचलित नहीं रही। राग वर्गीकरण की इस पद्धति के अंतर्गत रागों के स्वरूप पक्ष से साम्य को अवश्य ध्यान में रखा गया परंतु राग के विशेष चलन को इतना महत्व नहीं दिया गया।

उपर्युक्त रागांग रागों के कुछेक राग अंगों का वर्णन आज भी किया जाता है परंतु राग वर्गीकरण की यह पद्धति अपने मौलिक स्वरूप में आज प्रचलित नहीं है।

रागांग पद्धति का अस्तित्व हमें प्राचीन और मध्यकाल में भी मिलता है। परंतु शारंगदेव के रागांग रागों को भातखण्डे जी ने शुद्ध शास्त्रीय तथा प्रथम वर्ग के राग कहा है।

पं0 भातखण्डे के अनुसार- "यह मुझे भी दिखाई दिया की प्रचार में कुछ स्वरूप आते हैं परंतु कुल मिलाकर उन रागों के चलन एवं रचना को देखते हुए मेरी समझ में उनमें पृथक वर्ग करने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होते यह वर्ग निश्चित हो जाने के कारण इन समस्त रागों के वर्गीकरण हेतु दस मेल अथवा थाटों को मैंने हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की नींव मानना पसंद किया।"

आधुनिक काल से हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति में रागांग वर्गीकरण को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। कुछ आधुनिक विद्वान जैसे कृष्णधन बैनर्जी, एस0 एम0 टैगोर ने भी इस पद्धति के महत्व को समझाया है परंतु प0 भातखण्डे ने इस पद्धति में विशेष योगदान दिया है। उन्होंने हिन्दुस्तानी संगीत में प्रचलित मुख्य रागों में से कुछ स्वर समूह को चुना तथा उनके आधार पर रागों का वर्गीकरण किया। पं0 भातखण्डे अनुसार रागांग में अंग ऐसा भाग है, जो रागों में अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। किसी राग के आरोह में नियमित स्वर छोड़ना, किसी के आरोह तथा अवरोह विशेष प्रकार के रखना किसी राग की स्वर रचना विशिष्ट प्रकार की रचना आदि। उदाहरण स्वरूप इस काफी थाट के अंगों में समझा जा सकता है-

पं0 भातखण्डे जी ने काफी थाट के पाँच अंग माने है, काफी अंग, धनाश्री, कान्हड़ा, सारंग और मल्हार अंग। इन रागों से विशेष प्रकार का स्वर समूह चुनकर उनका प्रयोग जिन रागों में होता है, उन्हें उस रागांग से जाना जाता है। जैसे मल्हार अंग में 'म रे प' का पुनः प्रयोग होता है, अतः यह स्वर समूह प्रयुक्त होने वाले रागों में शुद्ध मल्हार, गौड़ मल्हार मियां मल्हार आदि। मल्हार प्रकारों का समावेश होता है तथा यह मल्हार अंग के रागों के नाम से जाने जाते है।

आधुनिक युग में पं0 नारायण मोरेश्वर खरे ने रागांग के प्रचार के लिये सक्रिय प्रयत्न किये। उन्होंने हिन्दुस्तानी संगीत के समस्त रागों को 26 रागांगों के अंतर्गत वर्गीकृत किया है। यह रागांग तथा उनमें समाविष्ट मुख्य राग इस प्रकार है-

राग	रागांग
1. भैरव-	भैरव, कालिंगड़ा, जोगिया, गुणक्री, गौरी, शिवमत, भैरव रामकली अहीर भैरव, प्रभात भैरव, मंगल भैरव, शोभावरी इत्यादि।
2. बिलावल-	शुद्ध बिलावल, अल्हैया बिलावल, सरपरदा बिलावल, कुकुभ बिलावल, लच्छासाग बिलावल, शुक्ल बिलावल, यमनी बिलावल, देवगिरी बिलावल इत्यादि।
3. कल्याण-	कल्याण, शुद्ध कल्याण, यमन, चन्द्रकांत, पहाड़ी, हेमकल्याण, जयंत कल्याण इत्यादि।

4. खमाज- खमाज, झिंझोटी, तिलंग, मांड, खंभावती।
5. काफी- काफी, सिंधुरा, आनन्द भैरवी।
6. पूर्वी- पूर्वी, पूरिया, धनाश्री, परज।
7. मारवा- मारवा, भटियार।
8. तोड़ी- मियाँ की तोड़ी, गुर्जरी तोड़ी, बिलासखानी तोड़ी, छाया तोड़ी, मुल्तानी इत्यादि।
9. भैरवी- भैरवी, मालकंस, सिंधु भैरव आदि।
10. शंकरा-शंकरा, मालश्री, बिहाग, हंस, ध्वनि इत्यादि।
11. कान्हड़ा- दरबारी कान्हड़ा, अड़ाना, सुघराई, शहाना, सूहा, नायकी, गुंजीकान्हड़ा, शुद्ध कान्हड़ा, हुसैनी कान्हड़ा, कौसी कान्हड़ा आदि आभोगी कान्हड़ा इत्यादि।
12. मल्हार- मियां की मल्हार, रामदासी मल्हार, सूर मल्हार, गौड़ मल्हार, मेघमल्हार, नट मल्हार, शुद्ध मल्हार इत्यादि।
13. हिंडोल- हिंडोल, सोहनी, भिन्नषड्ज इत्यादि।
14. भूपाली-भूपाली, देशकार, जैत इत्यादि।
15. आसा- आसा, दुर्गा।
16. आसावरी- आसावरी, जौनपुरी, गांधरी, देवगंधार, कोमल आसावरी तथा देशी इत्यादि।
17. सारंग- वृन्दावनी सारंग, शुद्ध सारंग, मधुसाद सारंग, सामंत सारंग, मियां की सारंग इत्यादि।
18. धनाश्री- धनाश्री, भीमपलासी, धानी पटदीप, प्रदीपकी, हंसकिंकणी इत्याद।
19. ललित- ललित, बसंत, पंचम, ललितागौरी इत्यादि।
20. पीलू- पीलू, बरवा इत्यादि।
21. सोरठ- सोरठ, देश, तिलक कामोद, जैजैवन्ती इत्यादि।
22. विभास- विभास, रेवा, जैतश्री इत्यादि।
23. नट-शुद्ध नट, छायानट इत्यादि।
24. श्री- श्री, त्रिवेणी, चैती, दीपक।
25. बागेश्री- बागेश्री, रागेश्री, बहार, कौसी कान्हड़ा इत्यादि।
26. केदार- केदार, केदारनट, कामोद जलधर केदार इत्यादि।

रागांग पद्धति की नींव शुद्ध छायालग तथा संकीर्ण अथवा मिश्र रागों पर आधारित है। क्योंकि हिन्दुस्तानी संगीत का प्रत्येक राग केवल अपने स्वतंत्र अंगों पर टिका हुआ नहीं है। ऐसे बहुत कम राग हैं, जिनका अपना अलग स्वतंत्र स्वरूप है।

संगीत सदैव परिवर्तनशील रहा है। लोकरूचि के अनुसार इसमें निरंतर परिवर्तन होता है। अतः समय-समय पर विद्वानों का अपना मत प्रस्तुत करना स्वभाविक है। समय-समय पर प्रचलित राग वर्गीकरण की सभी पद्धतियों में से 'थाट राग पद्धति' ही सर्वाधिक सरल तथा वैज्ञानिक होने के कारण आज प्रचलित है।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. प्रचलित समप्रकृतिक रागों का तुलनात्मक अध्ययन- कालड़ा डॉ0 शशि
2. संगीत के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धांत- रानी डॉ0 सुभाष
3. संगीत चिंतामणि आचार्य वृहस्पति
4. वृहद्देशी मतंग
5. संगीत निकुन्ज- सक्सेनाडॉ0 कमलेश , सक्सेना राकेश

संगीत शिक्षा में गुरू-शिष्य परम्परा का महत्व

मनु प्रकाश पांडे

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ में गुरू शब्द के अनेक अर्थ मिलते हैं, जैसे- महान, दीर्घ, महत्वपूर्ण, प्रचण्ड, सम्मानित, प्यारा, पिता, बूढ़ा, बुजुर्ग, अध्यापक, मंत्र दाता, बृहस्पति, द्रोणाचार्य, गुरूजन, पूज्य पुरूष, आचार्य आदि। इसी प्रकार हिन्दी विश्वकोष में गुरू का तात्पर्य सम्प्रदाय प्रवर्तक, धर्मोपदेशक अथवा किसी कला में निष्णात् उस्ताद तथा हिन्दी शब्द सागर में गुरू का अर्थ आचार्य, किसी मंत्र का उपदेष्टा, किसी विद्या या कला का शिक्षक, सिखाने वाला या पढ़ाने वाला बताया गया है। संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ के अनुसार शिष्य का तात्पर्य विद्यार्थी, शासितृ, चेला, किसी गुरू सम्प्रदाय की शिष्य परम्परा और शिष्यानुक्रम से बताया गया है।

एक शिष्य वह होता है जो अपने गुरू से प्राप्त शिक्षा को अपने शिष्यों को देकर उसका प्रचार-प्रसार करता है।

भारत में वैदिक काल से ही संगीत के क्षेत्र में गुरू शिष्य परम्परा का उद्भव हुआ। इस काल में यज्ञानुष्ठान में वेद मंत्र तथा अन्य संकीर्तनों की गायकी की शिक्षा गुरू अपने शिष्यों को एक विशिष्ट शैली के अंतर्गत देता था। इसी यज्ञिक गायन-वादन की शिक्षा द्वारा ही संगीत में गुरू-शिष्य परम्परा का आरम्भ हो सकता है। इस परम्परा में संगीत शिक्षा गुरू मुख से दी जाती थी। गुरू अपने सुयोग्य और मुख्य शिष्यों को संगीत शिक्षा अपने घराने के नियमों-कायदों और पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही परंपरा के अनुसार देता था। शिष्य अपने गुरू में आस्था रखते हुए उसके द्वारा प्रदत्त शिक्षा को ही सर्वोपरि समझते थे और उसके समक्ष बैठकर कड़ी मेहनत व लगन से, धैर्य व संयम से, व्यवहारिक और अनुशासित होकर संगीत शिक्षा को आत्मसात करते थे। उन दिनों शिष्यों को गुरू द्वारा बनाये हुए कठोर नियमों का पालन करना पड़ता था और नियमों के अंतर्गत रह कर ही उसे गुरू द्वारा बताए हुए मार्ग के अनुरूप ही संगीत साधना करनी पड़ती थी। गुरू अपने शिष्य की समझ एवं योग्यता शक्ति के अनुसार ही उसे संगीत शिक्षा देता था। गुरू-शिष्य परंपरा के अंतर्गत गुरूजन किसी भी व्यक्ति को अपने शिष्य के रूप में ग्रहण करने से पूर्व उसकी कठोर से कठोर परीक्षा लिया करते थे। जो भी उस परीक्षा में सफलता प्राप्त कर लेता था उसे ही गुरू से संगीत सीखने का सुअवसर प्राप्त होता था। इस परंपरा के अंतर्गत संगीत शिक्षा प्राप्त करने का कोई निश्चित समय नहीं होता था। शिष्यों को सर्वप्रथम नित्य प्रातःकाल उठकर गुरू घर का सारा काम-काज करना पड़ता था उसके बाद ही यदि थोड़ा समय शेष बचता था तो ही उसमें गुरू अपने मन के अनुकूल ही शिष्यों को संगीत शिक्षा देता था अन्यथा नहीं।

गुरू-शिष्य परंपरा वैदिक और पौराणिक ग्रंथों में तो प्रचलित थी ही साथ ही जैन और बौद्धों ने भी इस परंपरा को स्वीकार किया। मध्यकालीन सम्प्रदायों में तो गुरू का महत्व इतना बढ़ गया कि उसे ईश्वर तुल्य या इससे भी बड़ा समझा जाने लगा।

वर्तमान युग में गुरू- शिष्य परंपरा के अंतर्गत गुरू के शिष्यों को 3 वर्गों मे विभाजित किया जा सकता है-

1. खासुलखास, उसके अंतर्गत गुरू के स्वयं के पुत्र-पुत्रियाँ आते हैं, जिन्हें वह संगीत शिक्षा देता है।

शोध छात्र, संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

2. खास, इसके अंतर्गत वे शिष्य आते हैं, जो गुरू के सगे-संबंधी हों या फिर जो अपनी योग्यताओं और श्रद्धा द्वारा गुरू का मन जीतकर संगीत शिक्षा प्राप्त करें।
3. इस वर्ग के अंतर्गत वे शिष्य आते हैं, जिन्हें गण्डाबंध शिष्य कहते हैं। गुरू किसी व्यक्ति को गण्डा बाँध कर अपना शिष्य बनाता है। गुरू द्वारा गण्डा बाँध कर अपने शिष्य के रूप में ग्रहण करना एक प्रथा भी है। ऐसे शिष्य प्रायः गुरू से शिक्षा तो बहुत कम ही लेते हैं, परन्तु स्वयं को घरानेदार कहलाने के लिए गुरू से गण्डा बँधवाते हैं।

किसी भी विद्या के क्रियात्मक या प्रायोगिक पक्ष को पीढ़ी दर पीढ़ी चलाने को ही परम्परा कहा जाता है। परम्परा संगीत का आधार है। गुरू-शिष्य परंपरा का सांगीतिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान है। इस परंपरा के अंतर्गत शिष्य विशेष मर्यादा में रहते हुए गुरू से एक राग को कई सालों तक सीखता है, जिससे वह उस राग की बारीकियों को भली भाँति समझते हुए उस राग में निपुण हो जाता है। इसके अतिरिक्त वह उस घराने की गायन-वादन शैली को भी अच्छी तरह से समझ जाता है जो एक बाहरी व्यक्ति नहीं सीख पाता है। शिष्य इस परंपरा में गुरू द्वारा एक रागों में अनेक पुरानी-पुरानी और सुन्दर बन्दिशों को सीखता है, जो कि पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही होती है। गुरू-शिष्य परंपरा के अंतर्गत शिष्य को गुरू के समक्ष बैठकर उसकी गायन या वादन शैली को ध्यान पूर्वक सुनने का सुअवसर प्राप्त होता है जिसे वह अपनी बुद्धि द्वारा ग्रहण कर कण्ठ या वाद्य द्वारा स्वयं में आत्मसात करने का प्रयास करता है और जब गुरू शिष्य को वह गायन या वादन शैली सीखाता है तो वह जल्द ही उसे सीख लेता है। इसके अतिरिक्त गुरू-शिष्य परंपरा की मुख्य विशेषता यह भी है कि इस परंपरा में गुरू के समक्ष बैठकर संगीत शिक्षा लेने से और रियाज करने से शिष्य गलत अभ्यास करने से बच जाते है और उस गायन या वादन शैली की शुद्धता को भली-भाँति सीखते हैं। इस परंपरा के अंतर्गत एक शिष्य अपने गुरू से विशिष्ट शैली, संस्कार और मर्यादा के अंतर्गत सांगीतिक शिक्षा प्राप्त करता है और उसी विशिष्ट शैली, संस्कार और मर्यादा का पालन करते हुए वह शिष्य संगीत शिक्षा अपने सत्पात्र शिष्य को प्रदान करता है और वह शिष्य अपने शिष्यों को।

इस गुरू-शिष्य परंपरा के अध्ययन के पश्चात् प्रमुख 'शैली' शब्द 'घराना' कहलायी। लोग पीढ़ी दर पीढ़ी चली आ रही विशिष्ट गायन-वादन शैली को एक विशेष घराने का नाम देने लगे जिससे घरानेदार संगीत पद्धति का निर्माण हुआ। यूँ कहा जाए तो गुरूकुल पद्धति ही आगे चलकर 'घराना' में परिवर्तित हो गयी।

'घराना' शब्द का प्रचार 18वीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ, किन्तु सांगीतिक ग्रन्थों में 'घराना' शब्द का उल्लेख 19 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से मिलता है जो वर्तमान काल तक प्रचलित है। लेकिन 'घराना' शब्द का प्रयोग और महत्व मुख्य रूप से ध्रुपद की बानियों की वृद्धावस्था और ख्याल के बाल्यावस्था से प्रारम्भ हुआ।

उमेश जोशी जी के अनुसार, "घरानों की बुनियाद राजपूत काल में पड़ चुकी थी, लेकिन वह ब्रिटिश काल में उभर कर आई।" घराने का विकास कम से कम तीन पीढ़ियों की परम्परा से प्रारम्भ हुआ जो धीरे-धीरे उस घराने के श्रेष्ठ एवं प्रसिद्धि प्राप्त कलाकारों द्वारा विकसित होने लगा जिससे आगे चलकर अनेक घराने प्रचार में आए। सभी घरानों का अपना-अपना विशिष्ट तत्व होता है जिसके आधार पर घरानों के महत्व में वृद्धि होती है। घरानेदार संगीत पद्धति द्वारा शिक्षा प्राप्त करने से शिष्य को विशेष रूप से स्वर या आवाज लगाने का ढंग, राग की बढ़त और आलापचारी करने का ढंग, अत्यंत शुद्ध तथा साफ सांगीतिक शिक्षा तथा उस घराने की पुरानी-पुरानी बंदिशों को सीखने का अवसर प्राप्त होता है। जैसे-जैसे यह पद्धति और आगे बढ़ती गई इसमें कई दोष पाए जाने लगे जैसे-

(क) किसी विशेष घराने का शिष्य केवल अपने घराने की ही गायन-वादन शैलियों एवं बन्दिशों को जान पाने लगे तथा अन्य घरानों की शैलियों एवं सौन्दर्य तत्वों से अपरिचित रहने लगे।
(ख) घरानेदार संगीत पद्धति में शिष्यों को अपने गुरू द्वारा प्रदान की गई शैलियों को दृढ़ रखना पड़ता था, उसे उस शैली में अपनी तरफ से कुछ नयी चीजें जोड़ने का स्वतंत्रता नहीं

प्राप्त होती थी। जिस कारण से उसकी प्रतिभा दब जाती थी।

(ग) इस परंपरा में गुरू द्वारा वृद्धावस्था में गाई जाने वाली गायकी का शिष्य अंधानुकरण करने लगे थे, अर्थात् वे गुरू की वृद्धावस्था में निकलने वाली गायकी की आवाज को अपने गले में उतारने लगे।

(घ) एक आश्चर्यजनक दोष यह भी सामने आया कि शिष्य गुरू को अधिक गुरू दक्षिणा (रिश्वत) देकर उनसे शिक्षा प्राप्त करते थे तथा साथ में यह शर्त भी रखते थे कि यह विशिष्ट शिक्षा वह किसी और को न दे।

धीरे-धीरे ऐसा स्वरूप हो गया कि स्वर सेवा कम और गुरू सेवा ज्यादा होने लगी। इस दोषों के कारण ही धीरे-धीरे घरानेदार संगीत पद्धति विलुप्त होने लगी और इसकी जगह लोग विश्वविद्यालयीय एवं संस्थागत शिक्षण प्रणाली की तरफ उन्मुख होने लगे।

संस्थागत शिक्षा प्रणाली का उद्गम 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में तथा विश्वविद्यालयीय शिक्षा पद्धति का प्रचलन 20वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ। संगीत के दो महानुभावों पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर एवं पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे जी द्वारा अनेक सांगीतिक विद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई, जिनमें गांधर्व महाविद्यालय (लाहौर) एवं भातखण्डे संगीत विश्वविद्यालय (लखनऊ) मुख्य है। वर्तमान समय में इन संस्थाओं एवं विश्वविद्यालयों में गायन-वादन की क्रियात्मक एवं शास्त्र पक्ष की विधिवत् शिक्षा दी जाती है, जिससे एक ही स्थान पर कम समय व कम कीमत में एक साथ अनेक विद्यार्थी अनेक घरानों के कुशल शिक्षकों द्वारा संगीत की शिक्षा प्राप्त करते हैं, जिससे वे एक ही घराने में न बँधकर कई घरानों की गायन-वादन शैलियों से परिचित हो जाते हैं। साथ ही यहाँ पर माध्यमिक स्तर से लेकर स्नातकोत्तर स्तर तक के पाठ्क्रमों को निर्धारित कर दिया गया है, जिसमें अनेक रागों के साथ-साथ भजन, ठुमरी, दादरा, ध्रुपद, धमार आदि विधाओं को संकलित कर दिया गया है और विद्यार्थियों की योग्यता एवं बुद्धिमता को जाँचने एवं परखने के लिए समय-समय पर उनकी परीक्षाओं की भी व्यवस्था कर दी गई है जिससे उनकी प्रतिभा को निखरने का अवसर प्राप्त होता है।

इस प्रकार संस्थागत एवं विश्वविद्यालयीय शिक्षा का मुख्य उद्देश्य शास्त्रीय संगीत का प्रचार-प्रसार करना एवं उसको अन्य विषयों के समकक्ष स्थान प्राप्त कराना और समाज में उसका सम्मान बढ़ाना है।

इस विषय से हमें यह ज्ञात होता है कि गुरू-शिष्य परम्परा हमारे लिए महत्वपूर्ण है। इस परम्परा से शिष्यों को गायन-वादन की अनेक विधाओं का ज्ञान होता है। इस परंपरा में गुरू और शिष्य का एक-दूसरे के प्रति ईमानदार होना तथा उन दोनों के बीच आपसी सामंजस्य का भाव होना आवश्यक है।

प्राचीन समय में गुरू को ईश्वर तुल्य समझा जाता था। उस समय गुरूकुल पद्धति होती थी जिसमें शिष्य गुरू के पास रहकर संगीत शिक्षा ग्रहण करता था तथा दक्षिण के रूप में उनकी सेवा करता था। जिस प्रकार एक कुम्हार मिट्टी के बर्तन को सुन्दर आकार देता है, उसी प्रकार गुरू भी एक कुम्हार की भाँति शिष्य को सांगीतिक शिक्षा देने के साथ-साथ उसके आंतरिक मनोभावों को सँवारता है एवं उसे व्यवहारिक रूप से सुन्दर रूप प्रदान करता है। आगे चलकर गुरूकुल पद्धति से ही कई घरानों का निर्माण हुआ। घरानों के प्रचार-प्रसार एवं उन्हें आगे बढ़ाने के लिए गुरूओं द्वारा घरानेदार शिक्षा सर्वप्रथम अपने पुत्र-पुत्रियों को फिर रिश्तेदारों एव सगे संबधियों को तथा अंत में सुयोग्य एवं ईमानदार शिष्यों को दिया जाने लगा।

यद्यपि किन्हीं कारणों से घराना शिक्षण पद्धति में कुछ दोष भी पाए गए जिससे यह परम्परा धीरे-धीरे विलुप्त होने लगी और साथ ही संस्थागत और विश्वविद्यालय शिक्षा को भी बढ़ावा मिला। इस शिक्षण पद्धति में एक साथ कई विद्यार्थियों को एक ही स्थान पर कई घरानों के कुशल शिक्षकों द्वारा संगीत सीखने का सुअवसर प्राप्त हुआ।

वास्तव में वर्तमान समय में एक संगीत साधक अपनी साधना एवं उसकी गहराई को आँकने के लिए एक अच्छे गुरू के शरण में ही जाना चाहता है। एक सच्चा संगीत साधक वही है जो अपने गुरू द्वारा बताए नियमों एवं आदर्शों पर चलकर सर्वथा संगीत साधना में तल्लीन रहे।

संगीत और भाषा का अन्तः सम्बन्ध

शालिनी

संगीत अनादि काल से ही भावाभिव्यक्ति का एक महत्वपूर्ण साधन रहा है। प्राचीन समय में जब मानव पशुओं की भाँति छोटे-बड़े गुटों में नंगा घूमा करता था उसके पास कहने को करने को बहुत कुछ था जिन्हें व्यक्त करने की आवश्यकता उसे पड़ती थी लेकिन उसके पास आज की भाषा नहीं थी। केवल सहजात संगीत ही अभिव्यक्ति का माध्यम हुआ करता था। जहाँ संगीत स्वर, लय, शब्द और ताल का संगम है, वहीं भाषा अक्षर, काकू, ध्वनि और लय ये तीनों ही दोनों के अंग हैं। हालाँकि संगीत और भाषा दोनों में किसकी उत्पत्ति पहले हुई इस सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हैं। कुछ विद्वानों के कथनानुसार संगीत की उत्पत्ति पहले हुई तो कुछ के अनुसार भाषा का जन्म पहले हुआ। जैसे :-

मि0 लिवार्ड का कथन है- "संगीत से पूर्व विश्व में भाषा आ चुकी थी। बिना भाषा-बोध के संगीत का जन्म होना कठिन है"।

· मि0 हुलपार्डी के अनुसार -

"भला ये कैसे सम्भव है कि भाषा से पूर्व से ही मानव को संगीत का ज्ञान हो चुका होगा। इस सन्दर्भ में **मि0 ओलीवर ब्रिफिल्ड की राय है** -

"मानव को प्रथम ज्ञान भाषा का और उसके उपरान्त संगीत का हुआ। संगीत ज्ञान ने भाषा का मार्ग निर्देशित नहीं किया होगा अपितु भाषा ने ही मानव को संगीत का पावन पथ निर्देशित किया होगा। क्या बालक गीत गाते हुए पैदा होता है या वायलिन या सितार बजाते हुए? ऐसा आज तक कभी नहीं हुआ तो फिर कसे सम्भव है कि भाषा के पूर्व ही संगीत का ज्ञान हो चुका होगा।

मि0 प्रिंस हार्ड कोबिन का मत है कि "मानव की बुद्धि का ज्यों-ज्यों विकास हुआ त्यों-त्यों उसने अपने जीवन को सुन्दर बनाने वाली कलाओं पर ध्यान दिया होगा।

संगीत से वे अपने जीवन को सुन्दर व कलात्मक बना सकते हैं, इसी बात का ज्ञान भी तो मानव को भाषा के माध्यम से हुआ होगा। **मि0 वर्नहार्ट** भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं।

उन्होंने 'भाषा और कला के इतिहास' में लिखा है कि "संगीत जैसी उत्कृष्ट एवम् पावन कला को बिना भाषा ज्ञान के मानव कैसे प्राप्त कर सका होगा? क्योंकि संगीत एक उत्कृष्ट कला है और बिना भाषा के जो वस्तु मस्तिष्क में आएगी वह अपनी धमिल अवस्था में होगी।

इसके विपरीत कुछ विद्वानों के मतानुसार संगीत का जन्म भाषा के पहले हो चुका था।

जैसे :- **मि0 जॉर्ज फोम्स** की पुस्तक 'संगीत और भाषा' के अनुसार -भाषा से पूर्व ही संगीत का जन्म हो चुका था। संगीत का जन्म सृष्टि के साथ हुआ। सृष्टि के प्रत्येक कण-कण में संगीत झंकृत हो रहा था। संगीत ज्ञान के कई युग बाद ही भाषा का ज्ञान मानव को हुआ होगा। जब बालक जन्म लेता है तब वह कोई भाषा नहीं बोलता, उसे किसी भाषा का ज्ञान नहीं होता। वह या तो रोता है या हँसता है और रोना या हँसना भी तो संगीत की महत्वपूर्ण अभिव्यक्ति है। **डॉ0 वर्न्स के अनुसार**"

शोध छात्र संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

जब मनुष्य भय की परिस्थितियों से आतंकित होता है, तब उस वक्त बोलना रुक जाता है, स्वर सजीव रहते हैं।'' **मि0 विलियम गेयनर** ने भी इसी मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि- ''संगीत से पूर्वभाषा की कल्पना बिना अग्नि के भोजन बनाने का निश्चय करने के समान है। जब मनुष्य दुनिया में आया होगा, उसे समीर की सरसराहट पत्तों की खड़खड़ाहट, नल की कल-कल ध्वनि, चिड़ियों की चहचहाहट से विभिन्न स्वर सुनाई दिये होंगे, इन स्वरों को सुनकर उसने उनकी नकल करना चाहा होगा, इस प्रकार से उसे स्वर का ज्ञान हुआ होगा।

किन्तु **कैप्टन जॉर्ज ग्रांट** के अनुसार- ''इन दोनों की उत्पत्ति साथ-साथ हुई है न कोई आगे उत्पन्न हुआ न कोई पीछे। इतिहास की कमी के कारण तथा प्रमाण न मिलने के कारण यह ठीक से ज्ञात न हो सका कि किसकी उत्पत्ति पहले हुई।

निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि संगीत और भाषा दोनों ही अभिव्यक्ति का माध्यम होने के कारण आपस में परस्पर जुड़े हुए हैं। हाँलाकि संगीत की वास्तविक शक्ति इस सत्य में है कि वह भावनात्मक जीवन के लिए उस रुप में सत्य है, जिस रुप में भाषा नहीं हो सकती है। संगीत वहाँ स्पष्ट है जहाँ शब्द अक्षम है। किन्तु संगीत में शब्दों का प्रयोग सांगीतिक प्रतीकों का अर्थ निश्चित कर देता है। जब भाषा और संगीत का गठबन्धन होता है तब इस प्रतीकत्व में वे बातें भी जुड़ जाती हैं जो भाषा द्वारा ही सम्भव होती हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची :-

1. संगीत, (काव्य संगीत अंक), जनवरी 1969
2. संगीत, नवम्बर 1977
3. संगीत विशारद, वसन्त, जनवरी 2002

गुरू-शिष्य परम्परा एवं संस्थागत शिक्षण पद्धति

डॉ0 सरिता रेवी

भारत का संगीत समस्त भूमण्डलीय संगीत में अपनी अलग विशेषता लिए हुए है। मनुष्य मन में विभोर कर मोक्ष के द्वार तक पहुचाने वाला संगीत सागर की गहराई और आकाश की उचाई तक विचरने वाला भारतीय संगीत विश्व भर में अपनी असीम मधुरता प्रभावशीलता तथा महानता के लिए सर्वविदित है।

प्राचीन भारत में साधारणतः संगीत शिक्षा 'गुरू-शिष्य' सम्बन्ध पर ही केन्द्रित थी। भारतीय संगीत के प्रत्येक काल में गुरू को पूजनीय स्थान प्राप्त रहा है। गुरू शब्द के हमें अनेक अर्थ मिलते हैं। जैसे- महान, दीर्घ, महत्वपूर्ण, प्रचण्ड, उस्ताद, प्राचार्य आदि। साधारण अर्थो में भारत की सांस्कृतिक एवं धार्मिक पृष्ठ भूमि में गुरू उस आचार्य को कहते है, जो शिक्षक का कार्य करता है।

गुरू शिष्य परम्परा संगीत शिक्षण की सबसे प्राचीन काल एवं सर्वश्रेष्ठ प्रणाली मानी जाती है। वेदों के समय से ही संगीत शिक्षा गुरू-मुख से दी जाती थी। गुरूकुल में रहकर गुरू की सेवा करके कठोर अनुशासन नियमित एवं संयमित जीवन बिताते हुए एवं सतत् साधना करते हुए गुरूं द्वारा दी गई सम्पूर्ण शिक्षा को पूरी तरह कंठस्थ करना ही शिक्षा का साधन था।

भारतीय संगीत में जो सुघड़ता एवं शास्त्र बद्धता है, वह अनुपम है। इस संगीत के सतत् विकास का श्रेय गुरू शिष्य परम्परा को है। गुरू ने अपनी तपस्या, साधना और प्रयोगों से जितना जाना वह सब उसने अपने शिष्यों में बांट दिया। शिष्यों अपने गुरू द्वारा ग्रहण की हुई इस विधि को सहेजा, संवारा और उसे अपनी साधना और प्रयोगों द्वारा अधिक पल्लवित एवं विकसित किया। गुरू-मुख से सुन समझकर ही किसी भी विद्या का सही ज्ञान सम्भव है। अतः इसे गुरू मुखी विद्या भी कहते है। गुरू-मुख से संगीत प्राप्त होता है।

भारतीय संगीत में गायन, वादन और नृत्य विधाओं की परम्पराए संगीत के विभिन्न घरानों के रूप में विकसित हुई। घराना शिक्षण पद्धति में संगीत शिक्षण गुरू की देख-रेख में जब तक संतोषजनक नहीं हो जाता था, तब तक गुरू उन्हें संगीत सभाओं में गाने की अनुमति नहीं देते थे। घराना शिक्षण पद्धति में यदि किसी को गायकी विशेष स्वीकार करना हो तो उसे गुरू या उस्ताद के हाथों अपनी कलाई पर डोर बांधकर, पवित्रा मंत्रों के उच्चारण में "गंडा" बंधवाना पड़ता है। छात्रा अपने गुरू को पदावंदन करता है, और गाने में सा, रे, ग, म, एवं तबला वादन में बोलो के वर्गों की प्रारम्भिक शिक्षा से उसकी विधिवत शिक्षा प्रारम्भ की जाती है। गुरू और शिष्य के बीच इस प्रकार स्थापित हुए सम्बन्धों को आजीवन निभाना होता है।

घरानों की शुरूआत से लेकर आज तक यही मान्यता रही है कि शिष्य जब तक घराने की रीति का कठोर अनुशासन के साथ अनुसरण करेगा तब तक घराने की महत्वपूर्ण विशेषता यही रही कि उसे सुरक्षित रखने के लिए कोई भी शिष्य घराने की लीक से हटकर अपनी स्वतन्त्र कल्पना या प्रतिभा का उपयोग नहीं कर सकता था। एक घराने के शिष्य को दूसरे घराने का संगीत सुनने की अनुमति नहीं थी।

सहायक प्रवक्ता महिला महाविद्यालय (पी0जी0) कॉलेज सतीकुण्ड कनखल, हरिद्वार

संस्थागत संगीत शिक्षण पद्धतिः- संगीत का संस्थागत शिक्षण दो प्रकार की संस्थाओं के माध्यम से होता है-

1. केवल संगीत की शिक्षा देने वाली संस्थाए।
2. अन्य विषयों के साथ संगीत की शिक्षा देने वाली संस्थाए।

प्रथम में संगीत विद्यालय, विश्वविद्यालय आते हैं और दूसरे वर्ग में सामान्य विद्यालय तथा महाविद्यालय जिनमें दूसरे विषयों के साथ-साथ संगीत की शिक्षा भी दी जाती है। दोनों का क्षेत्र अलग होते हुए भी ये सभी किसी न किसी प्रकार एक दूसरे से समन्वय स्थापित रखते हैं। गुरुकुल पद्धति के स्थान पर संगीत शिक्षा को संस्था के माध्यम से देने के मुख्य चार प्रयोजन है-

1. अन्य विषयों के समकक्ष लाना।
2. अनियमितता और मनमौजीपन को दूर करना।
3. यथा संभव अधिक सुलभ बनाना।
4. समाज में संगीतज्ञ को पुनः सम्मान दिलाना।

संदर्भ ग्रंथ सूचीः-

1. संगीत शिक्षा के विविध आयामः- अभितोष डॉ० कु० ।
2. भारतीय संगीत के विविध आयामः- मिश्र पंडित विजेय शंकर ।
3. संगीत कला विहारः- अगस्त 2011
4. संगीतः- जून 2011
5. भारतीय शास्त्रीय संगीत शिक्षा समस्यायें एवं समाधानः- पत्तनीटकर डॉ० अतकनेया।

रागांग राग की अवधारणा

डॉ0 ज्योति विश्वकर्मा

अनूप संगीत रत्नाकर में जिन राग-प्रकारों का उल्लेख है, उनमें से अनेक रूपविधान की दृष्टि से अब भी प्रचलित हैं इसका अभिप्राय यह है कि रागांग वर्गीकरण ऐसी परम्परा अनुमोदित पद्धति है जिसमें राग के सूक्ष्म तत्वों को और उनकी व्यक्तिगत रूपरेखा को ध्यान में रखा गया है। जिन दिनों मेलराग और राग-रागिनी वर्गीकरण दोनों का प्रचार था तब भी यह तीसरी प्रणाली के रूप में विद्यमान थी। राग-रागिनी अपनी सीमाओं के कारण समाधिस्थ हुई, मेलराग-वर्गीकरण यदा-कदा परिवर्तनों का सामना करता रहा और उत्तर भारतीय संगीत में जब इसका प्रचार थाट-राग-वर्गीकरण के रूप में हुआ तो इसे अपनी व्यापकता के लिए, थोड़े में बहुत होने के लिए रागांग का सहारा लेना पड़ा। भावभट्ट ने तो 18 मुख्य रागों के अन्तर्गत 198 रागों का वर्गीकरण किया है।

रागांग वर्गीकरण के सम्बन्ध में एक उद्धरण डॉ0 रातान्जनकर ने देकर मूल रागांगों की संख्या 16 मानी है जो इस प्रकार हैं- कान्हड़ा, सारंग, साख, मल्हार, नाट, बिलावल, बिहाग, बहार, भैरवी तोड़ी ललित, गौरी सोरठा, गौर, कल्याण, केदार। इन समस्त 16 प्रकारों में से कुछ मोरेश्वर खरे के मूल वर्ग रागों से पृथक हैं।

संगीत रत्नाकर में पूर्व प्रसिद्ध रागांग और आधुनाप्रसिद्ध रागांग का उल्लेख मिलता है।

पूर्व प्रसिद्ध रागांग-

(i) रागांग- शंकराभरण, घण्टारव, हंसक, दीपक, रीति, कर्णटी, लाटी, पांचाली ये आठ रागांग कहे गये हैं।

(ii) भाषांग- गाम्भीरी, वेहारी, वसिता, उत्पली, गोली, नादान्तरी, नीलोत्पली छाया, तरंगिणी, गान्धारगतिका, बैरंजी।

(iii) क्रियांग- भावक्रो, स्वभावक्रो, शिवक्रो, मकरक्रो, त्रिनेत्रकी, कुमुदक्रो, दनुक्रो ओजक्रो, इन्द्रक्रो, नागकृति, धन्यकृति, विजयक्रो।

(iv) उपांग- पूर्णाती, देवाल, गुरुजी ये तीन उपांग हैं।

रागशब्द संगीत का एक परिभाषिकशब्द है जो राग, अंग इन दोशब्दों से मिलकर बना है। संगीत के क्षेत्र में रागांगशब्द का प्रयोग प्राचीन काल से ही देखने को मिलता है उस समय रागों के वर्गीकरण विशेष के अर्थ में लिया जाता था। सर्वप्रथम तो मतंग ने वृहद्देशी के रागाध्याय में ही रागांग का जिक्र किया है। संगीत रत्नाकर के टीकाकार काल्लिनाथ और सिंह भूपाल ने टीका में स्पष्ट किया है कि रागांगों को देशी रागों में माना है। राग और अंग इन दोनों का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का है जैसे एक आदर्श व्यक्ति और उसका चरित्र अंग का अर्थ वह महत्वपूर्ण अनुभूति है जो किसी विशिष्ट राग की विशिष्ट स्वर संगति से अनुभूति की जा सकती है।[1] प्रत्येक रागांग की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है, जो उस अंग के सभी रागों में पाई जाती है अथवा कुछ प्रमुख रागों में ऐसे स्वर समूह होते हैं, जिनसे उनकी स्वतंत्र छवि अथवा पहचान बनती है। ऐसे ही स्वतंत्र छवि बनाने वाले स्वर समूह को 'रागांग' कहते हैं और स्वतंत्र अंग वाले राग प्रमुख राग माने जाते है। रागांग के संदर्भ में पं0 ओंकारनाथ ठाकुर के विचारों से यह निष्कर्ष

असि0 प्रोफेसर, जगत्गुरू रामभद्राचार्य विकलांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट, उ0 प्र0

निकाला जा सकता है कि वह 'अंग' का अभिप्राय को वह उनके नाम के अनुरूप ग्रहण करते हैं- रागांग का सम्बन्ध मूल ग्राम रागों से, भाषा का सम्बन्ध तत्कालीन प्रचलित क्षेत्रीय भाषाओं से, क्रियांग का सम्बन्ध गमक आदि काकु प्रयोगों से और उपांग के सम्बन्ध में अभिव्यक्त उनकी धारणा वर्तमान रागांग-वर्गीकरण के अधिक अनुरूप है।[2]

रागांग का स्वरूप निर्धारित करते समय डॉ0 कृष्णाबिष्ट का मत है- *"It would not be out of place here to discuss the elements which an Anga Contains. These are Nyasa or Intermediary pause, Cramak or embellishment and chala or Pace*

अधुना प्रसिद्ध रागांग-

रागांग-मध्यमादि, मालवश्री, तोडी, बंगाल, भैरव, वराटी, गौड़, कोलाहल, वसन्त, धन्यासी, देशी, देशाख्या, गुर्जरी।

भाषांग-डोम्बरी, सावरी, वेलावली, प्रथम मंजरी, आडिकामोदी, नागध्वनि,शुद्धवराटी, नट्टा, कर्णाटबंगाल नव। क्रियांग- रामकृति, गौडकृति, देवक्रो।

उपांग- ये सत्ताईस हैं जो उच्यते कहे जाते हैं। इनमें से स्यात् वराटी 6 उपांग कौन्तली, द्राविडी, सैंधवी, अपस्थान वराटी, हतस्वरवराटती प्रताप वराटी हैं।

रागांग वर्गीकरण का प्रभाव मेल सिद्धान्त के अन्तर्गत रागों को वर्गीकृत किये जाने के पश्चात भी दिखाई देता है। पं0 भातखण्डे एक मेल के अन्तर्गत अनेक रागांगो का समावेश कहते हैं। मेलराग वर्गीकरण पद्धति में भी इस वर्गीकरण का प्रबल प्रभाव है। इस प्रबलता का प्रमुख कारण यही है कि राग की सामान्य पहचान तो स्वरों के द्वारा हो जाती है, परन्तु सूक्ष्म पहचान विशिष्ट स्वर समूहों के माध्यम से ही होती है। किसी स्वर-समूह की यही मुख्य पहचान 'रागांग' कहलाती है। पं0 विनायक राव पटवर्धन के अनुसार 'बहुत सी रचनाए स्वतंत्र होती है इन स्वतंत्र रागों की छाया जिन रागों में हो, उन्हें रागांग कहना चाहिए स्वतंत्र रागों का तो मूल नाम ही है, इनसे निकलने वाले उपरागों को रागांग कहा जाएगा इन सब रागों के वर्गीकरण को रागांग-पद्धति नाम दिया जाता है।

रागांग को ही मध्यकाल में 'भेद-पद्धति' कहा जाता था विद्वानों का मानना है कि आधुनिक काल में पं0 नारायण मोरेश्वर खरे रागांग-राग वर्गीकरण पद्धति के सूत्रधार व प्रचारक रहे हैं। उन्होंने स्वर-साम्य एवं स्वरूप-सादृश्य में से स्वरूप-सादृश्य को अधिक महत्व दिया। उन्होंने 26 अंग रागों का उल्लेख किया है- 1. भैरव, 2. बिलावल, 3. कल्याण, 4. खमाज, 5. काफी, 6. पूर्वी, 7. मारवा, 8. तोड़ी, 9. भैरवी, 10. आसावरी, 11. सारंग, 12. धनाश्री, 13. ललित, 14. पीलू, 15. सोरठ, 16. विभास, 17. नट, 18. श्री, 19. बागे वरी, 20. केदार, 21.शंकरा, 22. कानड़ा, 23. मल्हार, 24. हिंडोल, 25. भूपाली, 26. आसा। कुछ विद्वान मोरेश्वर खरे द्वारा वर्णित 26 तो कुछ 30 रागांग बताते हैं। आजकल कुछ अन्य अंग भी प्रचलित हो गए हैं यथा-मुल्तानी, बहार, कौंस।

उत्तर भारतीय संगीत में रागांग का विशेष महत्त्व है। तभी तो जहा दक्षिणी संगीत में एक स्वरावली से एक ही राग उत्पन्न होता है, वहीं हिन्दुस्तानी संगीत में समान स्वरों के होने पर भी उनके चलन-वैशिष्ट्य के कारण कई राग प्राप्त होत हैं, यथा-'स रे ग म ध नि' से पूरिया, मारवा तथा सोहनी; 'स र ग म प ध नि' से भैरव, कालिंगड़ा, गौरी इत्यादि। ऐसे और भी कई उदाहरण हमें उत्तर भारतीय संगीत में प्राप्त हो जाते हैं। अब यदि रागांग-पद्धति की वर्तमान स्थिति की बात की जाए, तो वह क्रियात्मक रूप से थाट-पद्धति के समकक्ष अथवा सम्भवतः उससे कहीं अधिक ही व्यवहारित की जा रही है। रागांग ने न केवल थाट-पद्धति को व्यापकता प्रदान की है, अपितु उसे महत्वपूर्ण स्थान देकर अपना भी एक निजी अस्तित्व संगीत-जगत् में कायम कर रखा है। यहा तक कि अपनी निजी विशेषताओं के कारण हीशायद आजकल थाट राग-वर्गीकरण की अपूर्णता के सम्बन्ध में अनेक विद्वानों के द्वारा अपनी प्रतिक्रियाए व्यक्त की जा रही हैं, जो कहीं-न-कहीं तथ्यगत प्रामाणिकता लिए हुए हैं, यथा-आजकल ऐसे कई प्रचलित-अप्रचलित राग हैं, जो हमारे 10 थाटों के अन्तर्गत नहीं रखे जा सकते। उनके थाट निर्धारण देखकर ऐसा प्रतीत होता है, जैसे उन्हें अनाव यक रूप से समझौता-सा

करते हुए थाट विशेष में स्थान दे दिया गया हो, जैसे-अहीर भैरव, मधुवंती।

सर्वप्रथम कल्याण थाट ने वर्गीकृत रागों पर विचार किया जाए, तो 'भातखण्डे संगीतशास्त्र' में भातखण्डे ने इसके अन्तर्गत तीव्र मध्यम तथाशेष सभीशुद्ध स्वर लगने वाले राग रखे हैं। उन्होंने कल्याण थाट में यमन, भूपाली,शुद्ध कल्याण, हमीर, केदार, छायानट, कामोद, याम, हिंडोल, गौड़ सारंग, मालश्री, यमनी, चन्द्रकान्त-ये 13 राग मुख्य बताए हैं, भले ही उन्होंने इन वर्गीकृत रागों के आधार पर थाट के तीन वर्ग बना दिए, यथा-(1) मध्यमपूर्णतः वर्जित भूपाली,शुद्ध कल्याण, चन्द्रकान्त, (2) आरोह-अवरोह में तीव्र मध्यम लगने वाले-यमन, हिन्डोल, मालश्री, (3) दोनों मध्यम लगने वाले-हमीर, केदार, छायानट इत्यादि। किन्तु ध्यान दिया जाए, तो इस थाट का स्वर-वैशिष्ट्य ही तीव्र मध्यम है, तीव्र मध्यम कल्याण थाट की आत्मा है। अगर वही ही किसी राग में वर्जित होगा, तो वह राग कल्याण थाट का प्रतिनिधित्व किस प्रकार कर सकेगा? भूपाली, जैत-कल्याण में मध्यम वर्जित है, फिर भी कल्याण थाट का राग है, कारण है अंग-प्रबलता। छायानट में तीव्र मध्यम का प्रयोग अल्प है तथा आजकल कोमल निषाद अधिक प्रयोग में लाया जा रहा है। इस आधार पर इसे बिलावल थाट का होना चाहिए।

बिलावल थाट में सभी स्वरशुद्ध माने गए। इसमें शुद्ध बिलावल, अल्हैया बिलावल, नट बिलावल, पहाड़ी, देशकार, माड, शंकरा, दुर्गा, हंस ध्वनि, सरपदा, लच्छासाख, कुकुभ, मलुहा, केदार, गुणकली, शुक्ल बिलावल इत्यादि राग माने गए हैं। पर इसमें वर्गीकृत कुछ राग थाट के स्वर-वैशिष्ट्य को दर्शाते हुए नहीं लगते। इस आधार पर बिहाग को कल्याण थाट में होना चाहिए, क्योंकि भातखंडे जी ने कल्याण थाट में दोनों मध्यम का एक वर्ग बनाया ही है, फिर बिहाग को कल्याण थाट में न रखकर बिलावल थाट में क्यों रखा? और फिर जिस तरह मधुवन्ती को मुल्तानी अंग तथा मुल्तानी को तोड़ी थाट जन्य होने के कारण मधुवन्ती को भी तोड़ी थाट का मान लिया गया। इस आधार पर मारूबिहाग को बिहाग व कल्याण दोनों अंग से गाते हैं। ऐसा माना जाता है कि इसका चलन बिहाग अंग का है और बिहाग बिलावल थाट का है। अतः मारूबिहाग भी बिलावल थाट में होना चाहिए, जो उपयुक्त-सा नहीं लगता। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि कोई भी कारण बताकर दस थाट व्यवस्था को प्रयुक्त होते दर्शा दिया गया है। बिलावल थाट मेंशुद्ध निषाद होने के बावजूद भी इसमें दोनों निषाद वाले रागों को रख लिया गया, यथा-अल्हैया बिलावल, बिहागड़ा इत्यादि। क्योंकि उनमें बिलावल अंग प्रबल है, अतः रागांग की प्रबलता स्वतः ही दृष्टिगोचर होती है।

इसी प्रकार खमाज थाट में मात्र कोमल निषाद प्रयुक्त है। झिंझोटी, खमाज, तिलंग, खम्बावती, बड़हंस, नारायणी, प्रतापराली, नागस्वरावली, सोरठी, जयजयवन्ती, देस, तिलक कामोद, गौड मल्हार, दुर्गा, रागेश्री, गारा इत्यादि राग रखे गए हैं। इस थाट में कोमल निषाद प्रयुक्त होने पर भी ऐसे कई राग हैं, जिनमेंशुद्ध निषाद का प्रयोग भी है, यथा-देस, तिलक कामोद।

अब यदि भैरव थाट को देखें, तो थाटाधार तो कोमल एवं कोमल धैवत ही बताए गए हैं, किन्तु अहीर भैरव (शुद्ध धैवत, कोमल निषाद), आनंद भैरव (रिषभ कोमल, धैवतशुद्ध), नट भैरव (ऋषभशुद्ध, धैवत कोमल) आदि भी भैरव थाट में हैं, जो थाटाधार के अनुसार उपयुक्त नहीं लगते। मात्र भैरव का प्रकार एवं भैरव अंग से गाए जाने के कारण इन्हें भैरव थाट में रखा गया। इससे ऐसा स्पष्ट होता है कि आधुनिक समय में भी मध्यकालीन भेद अथवा 'प्रकार पद्धति' का पर्याप्त प्रचलन है।

पूर्वी थाट ऋषभ, धैवत कोमल तथा मध्यम तीव्र वाले राग बताए गए हैं। इसके रागों में पूर्वी, श्री, गौरी, रेवा, मालवी, त्रिवेणी, पूरिया धनाश्री, जैतश्री, दीपक, परज, बसन्त व विभास इत्यादि हैं। इनमें से राग त्रिवेणी में ऋषभ, धैवत तो कोमल हैं, किन्तु मध्यम वर्जित है। इस स्वर वैशिष्ट्य से यह भैरव थाट का होना चाहिए, पर पूर्वी थाट में रखा गया है। इसी प्रकार रेवा में भी र ध कोमल, किन्तु मध्यम वर्जित है। अतः इसका थाट निर्धारण भी औचित्यपूर्ण-सा नहीं लगता।

इसी तरह मारवा थाट में ऋषभ कोमल एवं मध्यम तीव्र निश्चित किया गया है। इसके अन्तर्गत

भातखण्डे जी ने मारवा, पूरिया, ललित, जैत, मालीगौरा, वराटी साजगिरी, सोहनी, पंचम, भंखार, भटियार एवं विभास इत्यादि राग बताए हैं। राग जैत में ऋषभ कोमल एवं मध्यम, निषाद वर्जित है। हमारे 10 थाटों में मात्र र कोमल युक्त कोई थाट नहीं है, अतः इसे अनाव यक ही मारवा थाट में रखा गया है, ऐसा प्रतीत होता है।

काफी थाट, जिसमें गांधार, निषाद स्वर कोमल लगने वाले राग अवस्थित हैं, में भातखण्डे जी ने 5 अंगों के रागों को माना है- काफी, धनाश्री, कानडा, सारंग एवं मल्हार। सर्वप्रथम तो यह थाट-व्यवस्था में परोक्ष रूप में रागांग राग-वर्गीकरण की व्याप्ति का उत्तम उदाहरण है कि थाट के अन्तर्गत रागांग का भी समावेश किया हुआ है, पर प्रत्यक्ष नहीं है। किन्तु भातखण्डे जी के इसी तथ्य पर यदि विचार किया जाए, तो दरबारी कानड़ा, जो मुख्य कानड़ा-प्रकार है, काफी थाट में न मानकर आसावरी थाट में रखा गया है।

वहीं भैरवी थाट में र ग ध नि स्वर कोमल बताकर इसके अन्तर्गत भातखण्डे जी ने भैरवी, बिलासखानी तोड़ी, मालकौंस, भूपाल तोड़ी इत्यादि राग बताए हैं। इस स्वर-वैशिष्ट्य से मालकौंस में ग ध नि स्वर कोमल हैं, अतः यह आसावरी थाट में होना चाहिए। सम्भवतः इसे भैरवी में इसलिए रखा होगा, क्योंकि इसका चलन भैरवी राग के समान है। किंतु इस आधार पर बिलासखानी तोड़ी अंग से गाया जाता है, अतः इन्हें तोड़ी थाट में होना चाहिए। ये सभी स्थितिया विवाद उत्पन्न कर थाट व्यवस्था की अस्पष्टता प्रदर्शित करती हैं तथा कहीं-न-कहीं रागांग को ही महत्वपूर्ण बताती है।

आसावरी थाट के रागों के स्वर-विशिष्टय ग ध नि स्वर कोमल बताए गए हैं। इसके अन्तर्गत आभेरी, अड़ाना, दरबारी कानड़ा जैसे राग बताए हैं। किन्तु दरबारी व अड़ाना कानड़ांग होने के कारण काफी थाटान्तर्गत होने चाहिए, तथा आभेरी राग में र ग ध नि स्वर कोमल प्रयुक्त होने के कारण इसे भी भैरवी थाट में होना चाहिए था। इसी क्रम में अन्त में यदि तोड़ी थाट के रागों पर विचार किया जाए, तो इसके रागों का स्वर-विशिष्टय रे ग ध कोमल तथा मध्यम तीव्र बताया गया है। नियमानुसार जब भैरव के सभी प्रकारों में स्वर साम्य न होने पर भी उन्हें भैरव थाट में रखा गया है, यथा-अहीर भैरव, नट भैरव, तो इसी विधि से तोड़ी के सभी प्रकार भी तोड़ी थाट में ही होने चाहिए थे, जबकि ऐसा नहीं है। बिलासखानी तोड़ी एवं भूपाल तोड़ी को स्वयं भातखण्डे जी ने ही तोड़ी थाट में स्थान नहीं दिया, जो स्वतः ही असमंजस की स्थिति उत्पन्न करता है।

उपरोक्त तथ्यों के स्पष्टीकरण से ऐसा अनुमान लगा लेना उचित भी नहीं है कि भारतीयशास्त्रीय संगीत में थाट-पद्धति का कोई औचित्य नहीं है। बल्कि अपने कार्यक्षेत्र में वह भी अपनी विशेष भूमिका रखती है। यथा-प्रारम्भिक स्तर के संगीत के विद्यार्थियों को रागांग के आधार पर शिक्षा देना कठिनकर साबित होता है, वहीं उसी जगह थाट-व्यवस्था उन्हें एक स्थूल आधार के रूप में निर्देशित करती है। पर बड़े स्तर के विद्यार्थियों अथवा मंचीय कलाकारों हेतु रागांग-पद्धति ही अधिक उपयुक्त ठहरती है। राग की समझ रागांग द्वारा प्राप्त होती है न कि थाट द्वारा। थाट मात्र एक स्केल (सप्तक) है, जबकि रागांग राग-विशेष का दर्पण। इतने पर भी थाट की महत्ता को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता।

संदर्भ-सूची

1. संगीतांजलि भाग 6- ठाकुर ओमकारनाथ ।
2. संगीत के प्रमुख शास्त्रीय सिद्धान्त-चौधरी सुभाष।
3. संगीत मैनुअल- शर्मा डॉ0 मृत्युन्जय ।
4. राग विज्ञान- पटवर्धन विनायक राव ।
5. संगीत रत्नाकर सरस्वती टीका- चौधरी सुभद्रा ।
6. संगीत पत्रिका राग रागिनी ध्यान अंक जनवरी 2014, पृ0 50-51।

गुरु शिष्य परम्परा एवं संस्थागत संगीत शिक्षण पद्धति

रितु सिंह

भारतीय संगीत अत्यन्त प्राचीन है। जब सम्पूर्ण पाश्चात्य विश्व अज्ञान के अंधेरे में सो रहा था तब भारतीय तपोवन में वैदिक ऋचाओं के साथ साम संगीत गुंजायमान हो रहा था। संगीत शिक्षण की परम्परागत पद्धति का प्रचलन भारत में प्राचीन काल से ही चली आ रही है, जिसमें गुरु का शिष्य को शिक्षा प्रदान करना और शिष्य द्वारा शिक्षा ग्रहण करने की परम्परा विद्यमान थी। शिक्षा का आदान-प्रदान गुरु के द्वारा संचालित होना ही प्राचीन काल की संगीत शिक्षण की मुख्य विशेषताओं में से एक है। जिस प्रकार वेद, स्मृति, दर्शन, उपनिषद् आदि सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य लोकों के रूप में कंठस्थ किया जाता था, उसी प्रकार संगीत जिसे प्रधानतः मौखिक एवं क्रियात्मक कला माना जाता था, गुरुमुख से ही सीखा जाता था। हमारे भारतीय संस्कृति एवं परिवेश में गुरु का स्थान सर्वथा सर्वोच्च माना गया है। कबीर दास जी ने कहा है-

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूं पायं।
बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय।।
इसी प्रकार संस्कृत में एक लोक है, यथा-
गुरु ब्रह्मा, गुरु विष्णु, गुरुर्देवोः महेश्वरः।
गुरु साक्षात् परब्रह्म, तस्मै श्री गुरुवै नमः।।

हमारे यहाँ 64 कलाएँ मानी गयी हैं, जिनमें से श्रेष्ठतम पाँच ललित कलाएँ हैं। इन पाँच ललित कलाओं में भी संगीत का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। प्रत्येक काल में संगीत की अपनी एक विशिष्ट भूमिका रही है। आदि काल से वर्तमान काल तक हमारा संगीत एक लम्बा सफर तय करते हुए कई पड़ावों से होकर गुजरा है तदुत्परान्त उसका यह प्रतिष्ठित स्वरूप निखर कर आज हमारे सम्मुख उपस्थित हुआ है। भारतीय संगीत के शास्त्रीय स्वरूप को बनाए रखने में संगीत के शिक्षिक पक्ष की महत्ता को नकारा नहीं जा सकता। शिक्षा की प्रक्रिया युग सापेक्ष होती है। युग की गति एवं उसके नए-नए परिवर्तन के आधार पर प्रत्येक युग में शिक्षा के साथ-साथ शिक्षण का स्वरूप एवं दृष्टिकोण भी बदलता रहता है।[1]

संगीत एक क्रियात्मक कला है जिसे प्रत्यक्ष अनुभव द्वारा ही क्रियात्मक प्रदर्शन के माध्यम से सीखा एवं समझा जाता है। इसी कारण प्राचीन काल से ही संगीताचार्य अपने शिष्यों को संगीत की शिक्षा सीना ब सीना देते थे। इन्हीं से आगे चलकर गुरुओं के नाम व उनके निवास स्थान पर अनेक सम्प्रदाय एवं मत स्थापित हो गए। जैसे-भरत सम्प्रदाय अथवा भरत मत, हनुमत मत, कल्लिनाथ मत, शिवमत इत्यादि। इसके पश्चात ध्रुपद की गोहार, डागुरी, नोहार, खण्डारी बानी तथा गायन एवं वादन के विभिन्न घरानो का विकास भी गुरु-शिष्य परम्पराओं के आधार पर ही हुआ है।

यदि हम संगीत शिक्षण की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि पर दृष्टिपात् करें तो स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है कि संगीत शिक्षा की मौखिक परम्परा वैदिक युग से ही चली रही है। वैदिक युग में संगीत की शिक्षा गुरु मुख से दी जाती थी।

गुरू-शिष्य परम्परा के अन्तर्गत गुरुकुल में रहकर गुरु की सेवा करके कठोर अनुशासन, नियमित एवं संयमित जीवन बिताते हुए एवं सतत्

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

साधना करते हुए गुरु द्वारा दी गई सम्पूर्ण विद्या को पूरी तरह आत्मसात् करना ही शिष्य का परम कर्तव्य होता था। इस परम्परा में गुरु अपनी तपस्या, साधना, और प्रयोगों से जितना जानता था सब कुछ वह निर्भेद रूप से अपने शिष्य को देता था। शिष्य भी अपने गुरु द्वारा दी गई विद्या को अपनी मेहनत, लगन एवं साधना से उसे और भी अधिक पल्लवित, पुष्पित एवं विकसित करता था।

इस प्रणाली में गुरु अपने शिष्य को सिखाने का पूरा उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेता था। इस प्रकार गुरु शिष्य का हर समय का साथ उनके संबंधों में मधुरता व प्रगाढ़ता लाता था। संगीत सीखने के लिए शिष्य को कोईशुल्क नहीं देना पड़ता था, बल्कि उसका स्वभाव एकाग्रता व कठिन साधना के प्रति तत्परता ही गुरु के प्रति सच्ची भेंट थी।[2]

भारतीय संगीत में जो सुघड़ता एवं शास्त्रबद्धता अभी तक कायम है, उसका सम्पूर्ण श्रेय गुरू-शिष्य परम्परा को है। संगीत में प्राचीन काल से ही प्रत्यक्ष मुखमुख शिक्षा का महत्व रहा है। अन्य साधन एक तो उपलब्ध नहीं थे और गुरु के सम्मुख बैठकर तालीम लेने से गायन या वादनशैली के मूल रूप में परिवर्तन होने की सम्भावना भी कम होती थी।[3]

जिस प्रकार आजकल घरानेदार शिक्षण पद्धति में किसी को गायकी विशेष को स्वीकार करना हो तो उसे उस्ताद या गुरु के हाथों अपनी कलाई पर डोर बाँधकर, पवित्र मंत्रों के उच्चारण में गंडा बंधवाना पड़ता है। छात्र अपने गुरु को पदावंदन करता है और स, रे, ग, म की प्रारम्भिक शिक्षा से उसकी विधिवत् शिक्षा प्रारम्भ की जाती है। उसी प्रकार प्राचीन काल में भी इस विधि का बड़ा महत्व था। "नये विद्यार्थी की व्यावहारिक शिक्षा आरम्भ करने के लिए एक विशिष्ट परम्परागत प्रथा 'गंडा-समारोह' का आयोजन होता था। जिसमें उस्ताद अपनेशागिर्द की कलाई पर एक गंडा बांधता था और कुछ पवित्र मंत्रों का उच्चारण करता था। इसके पश्चात ही गुरु अपने शिष्य को संगीत की शिक्षा देना प्रारम्भ करता था। यह समारोह एक पवित्र अनुष्ठान समझा जाता था तथा उस्ताद औरशागिर्द के बीच हुए संबंधों को आजीवन निभाना होता था। इस समारोह के फलस्वरूप शिष्य को भी कुछ अधिकार मिल जाता तथा उसके सार्वजनिक प्रस्तुतिकरण में उसे अपने उस्ताद तथा उसके संबंधियों का संरक्षण समर्थन प्राप्त हो जाता था।

घराना या सम्प्रदाय गुरु तथा शिष्य के संयोग से बनता है। यह गुरु-शिष्य परम्पराशास्त्र तथा कला दोनों के लिए आवश्यक मानी गई है। संगीत कला के संबंध में योग्यता की परख रसिकों के सामने सफल प्रदर्शन में है। संगीत शास्त्र में योग्यता की कसौटी विद्वानों के परितोष में है। शास्त्र तथा कला के सूक्ष्म अंगों का ग्रहण तब तक सम्भव नहीं, जब तक योग्य आचार्य से शिक्षा न ली जाए। विद्या वही सफल होती है जो सही रूप से सीखी जाती है। विद्या या कला की सफलता में जितना योगदान योग्य शिष्य का है, उतना ही योगदान योग्य आचार्य का भी। भरताचार्य ने आचार्य के अनेक गुणों में एक 'शिष्य निष्पादन' बताया है। अच्छे शिष्य ही गुरु-परम्परा को वास्तविक रूप में सुरक्षित रखने में समर्थ होते हैं और ऐसे शिष्य को तैयार करने की क्षमता अच्छे आचार्य की अपेक्षा रखती है। विद्यादान करने वाले गुरु और प्रतिभाशाली शिष्य के होने पर ही संप्रदाय या घराने का जन्म होता है।

गुरू-शिष्य परम्परा में शिक्षण अत्यन्त गहन और वास्तविक होता था। इसी कारण इसमें शिक्षित शिष्य भी कुशल कलाकार बनकर निकलते थे। उन्हें गुरु के समक्ष घंटों बैठकर सीखने का मौका मिलता था और इस प्रकार उनकी कमियां भी साथ-साथ दूर होती रहती थी। इस परम्परा में 'गंडा बंधन' समारोह के बाद प्रथम पाठ स्वर-साधना से प्रारम्भ होता था जिसमें सुर का भरना आवाज लगाने का ढंग, आवाज का उतार-चढ़ाव, स्वर प्रयोग आदि की शिक्षा दी जाती थी। इसके बाद राग ज्ञान, राग विस्तार, लयकारी की विविध प्रयोग, आलाप तान, बोलतान आदि की शिक्षा प्रदान की जाती थी। एक ही राग को पूरे तौर पर सीखने में वर्षों लग जाते थे। घरानेदार गुरुओं का दृढ़ विश्वास था कि एक ही राग के सीखने से दूसरे राग स्वतः ही आ जाते हैं। 'एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाये।' इस

प्रकार इस पद्धति में शिष्य की कंठ ध्वनि का संस्कारित करने अथवाशास्त्रीय संगीत के अनुकूल चमकदार या प्रभावशाली बनाने में गुरु शिष्य दोनों का ही बहुत समय गुजर जाता था, पर इससे साधना पक्ष अवश्य ही सुदृढ़ हो जाता था।[4]

गुरू-शिष्य परम्परा के द्वारा संगीत की संवृद्धि तो हुई, किन्तु राजपूत काल तक आते-आते इस परम्परा के नाम पर घरानों का सूत्रपात हुआ जिससे कि संगीत को थोड़े से व्यक्तियों में सीमित कर उसकी प्रगति को घरानों के माध्यम से अवरूद्ध कर दिया गया। घरानों में संगीत शिक्षा अधिकांशतः गुरु या उस्ताद के वंशजों को ही दी जाती थी। बाहर के व्यक्तियों को शिष्यत्व प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती थी। प्रत्येक घराने के गुरु या उनके शिष्य-प्रशिष्य अपने घराने की विद्या को गुप्त रखते थे और प्रायः अपनी पूरी विद्या को शिष्यों को नहीं देते थे। उन्हें हर समय यह भय रहता था कि कहीं कोई शिष्य उनसे अधिक अच्छा कलाकार न बन जाए। परिणामतः उनकी विद्या का उन्हीं के साथ अंत हो जाता था। प्रत्येक घराने का दूसरे घराने की अपेक्षा अपने आपको सर्वश्रेष्ठ मानना पारस्परिक वैमनस्य का कारण बन जाता था। प्रायः शिक्षा गुरुओं की मनः स्थिति के अनुसार ही दी जाती थी। शिक्षा प्रदान करने की भी कोई निश्चित प्रणाली नहीं थी।

संगीत के इस उपेक्षित अवस्था में अंग्रेजी शासन की ओर से राजाश्रय प्राप्त न होने के कारण संगीत कला का पतन हुआ। तत्कालीन बदलती सामाजिक व राजनैतिक माँग के अनुसार बीसवीं शताब्दी में संगीत शिक्षा पद्धति में युगान्तकारी परिवर्तन आया। संगीत को समाज में पुनः प्रतिष्ठित करने तथा सम्मानजनक स्थिति प्रदान कर उसे जनसामान्य तक पहुँचाने हेतु पं0 विष्णु नारायण भातखण्डे तथा पं0 विष्णु दिगम्बर पलुस्कर ने जगह-जगह संगीत विद्यालय एवं महाविद्यालय खोले। इन विभूतियों के अथक प्रयास एवं परिश्रम से संगीत घराने के चारदीवारी से बाहर निकलकर स्कूलों, विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में प्रवेश कर गयी।

जनसाधारण के जीवन को कलात्मक बनाने एवं उसमें संगीत के प्रति प्रेम संचारित करना और विद्यार्थियों को संगीत का समुचित ज्ञान प्रदान करना ही इन महापुरूषों के जीवन का मुख्य उद्देश्य बन गया। संगीत को यथा विधि एवं सुव्यवस्थित बनाने के लिए संगीत महाविद्यालयों में निर्धारित पाठ्यपुस्तक, उचित पाठ्यक्रम, सरल एवं साध्य स्वरलिपि आदि की व्यवस्था की गई तथा परीक्षा और उसके उपरान्त उपाधि देने की भी व्यवस्था की गई।

मानविकीय एवं विज्ञान विषयों के समान संगीत की शिक्षा भी गुरु-शिष्य परम्परा के साथ-साथ स्कूलों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों में सामूहिक रीति से प्रारम्भ हो गई जिसके कारण जन सामान्य तक उसकी पहुँच सरल हो गई। संस्थागत शिक्षण आज एक प्रकार से युग की मांग बन गया है। संगीत के प्रत्येक जिज्ञासु के लिए देश की विभिन्न संस्थाओं मेंशास्त्रीय संगीत, लोक संगीत, एकल गायन, वादन नृत्य वृन्द वादन आदि के प्रशिक्षण का प्रावधान हो गया है। इस प्रकार शिक्षण संस्थाओं के माध्यम से अब संगीत का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। संगीत विषय में अन्य विषयों के समान परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने वाले विद्यार्थियों को उपाधियाँ भी दी जाने लगी। पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकों को उचित मात्रा में उपलब्ध कराना, प्रवेश से लेकर परीक्षा पद्धति और योग्यता परीक्षण विधि में आज की आवश्यकता के अनुसार परिवर्तन, संगीत को लोकप्रिय बनाना आदि सैद्धान्तिक एवं क्रियात्मक दोनों पक्षों से संबंध अनेक समस्याओं के समाधान के लिए सेमिनारों एवं गोष्ठियों का आयोजन आदि पर पूरा ध्यान दिया जाने लगा है। विश्वविद्यालयों में सांगीतिक अनुसंधान की व्यवस्था पूर्ण रूपेण उपलब्ध हो गई है। संस्थाओं में सामूहिक शिक्षण की व्यवस्था होने से संगीत के विकास की कुछ नवीन दिशाओं पर भी विचार होना प्रारम्भ हो गया हैं। संगीत के प्रति बदलते हुए दृष्टिकोण के कारण आज के कलाकारों की व्यक्तिगत शिक्षा या समूहिक शिक्षण से अथवा इन दोनों के सम्मिश्रण से

गायन-वादनशैलियों में भी अन्तर होने लगा है। वर्तमान कालीन कलाकार पुरानी घरानेदार गायकी के अंधानुकरण के स्थान पर स्वतंत्र रूप से गा बजा रहे हैं। फिल्मों में भी जो नए प्रयोग दिखाई दे रहे हैं उनसेशास्त्रीय संगीत के साथ-साथ लोक संगीत को भी नई दिशाए मिल रही हैं।

आज हमें संगीत शिक्षा के नवीन उपक्रम, नूतन परीक्षा विधि, निर्धारित पाठ्यक्रम, पाठ्य पुस्तकें तथा संगीत के प्रचार-प्रसार एवं विकास की नूतन तकनिक के साधन सुलभ है। जिसके फलस्वरूप भारतीयशास्त्रीय संगीत ने घरानों की चारदिवारी से निकल कर जनसामान्य के आगन को अपना कीड़ा स्थल बना लिया।

यद्यपि संस्थागत शिक्षण प्रणाली वर्तमान प्रजातान्त्रिकशासन व्यवस्था का सच है, किन्तु गुरु-शिष्य परम्परा भी पं0 रातांजनकर जैसे शिक्षा विदो के अनुसार श्रेष्ठ शिक्षा है।[3] इनमें से कोई भी एक शिक्षण प्रणाली दूसरी प्रणाली का प्रतिस्थापन नहीं कर सकती है। एक युग की माग गुरु-शिष्य परम्परा थी तो आज के युग और परिस्थितियों की माग दूसरी संस्थागत-शिक्षण प्रणाली है, परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि दोनो में से किसी एक को अधिक उपयोगी और दूसरी प्रणाली को कम उपयोगी कहा जा सकता है। इन दोनो व्यवस्थाओ की अपनी-अपनी विशेषताए है। गुरु-शिष्य पद्धति का प्रभाव पैना और गहरा है तो संस्थागत-व्यवस्था का प्रभाव व्यापक है। इसी प्रकार पहली पद्धति श्रम और समय की दृष्टि से लम्बी है तो दूसरी खर्चाली और सतही है। संगीत शिक्षण में दोनो ही पद्धतियो की वर्तमान समय में आवश्यकता है।

अतः निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि गुरुशिष्य परम्परा एवं संस्थागत शिक्षण पद्धति दोनो ही एक-दूसरे के पूरक है तथा संगीत के सतत् उन्नयन हेतु दोनो ही पद्धतियो का सम्यक् रूपेण संचालन अति आवश्यक है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. भरवी, संगीत पत्रिका, नारायण डॉ0 पुष्पम अंक-9, वर्ष 2014, पृ0 15
2. रानी, डॉ0 भावना, शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगीतिक संस्थाओ का महत्व, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, प 0 20
3. श्रीखण्डे, डॉ0 सुरेश गोपाल, हिन्दुस्तानीशास्त्रीय गायन की शिक्षा-प्रणाली, अभिषेक पब्लिकेशन, चण्डीगढ़-7, प्रथम संस्करण-1993, प 0 70
4. रानी, डॉ0 भावना,शास्त्रीय संगीत की लोकप्रियता में सांगीतिक संस्थाओ का महत्व, संजय प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2008, प 0 28, 29, 30
5. पटवर्धन, डॉ0 सुधा, संगीत कला : सिखाए न बने संगीत, संगीत पत्रिका, अप्रैल 2011, पृ0 47

रागांग पद्धति का क्रियात्मक पक्ष

शिवानी

1. रागांग का अर्थ एवं अभिप्राय

रागांग का अर्थ है- रागवाचक स्वर समुदाय। रागांग दो शब्दो के मेल से बना है 'रागअंग। अर्थात राग का जो अंग विशेष रूप से दृष्टिगत हो, वह 'रागांग' है। राग और अंग इन दोनों का सम्बन्ध ठीक उसी प्रकार का है जैसे एक आदर्श व्यक्ति और उसका चरित्रा।

रागः राग से भाव रंजकता उत्पन्न करने वाले स्वर समूह से है सर्वप्रथम राग शब्द का उल्लेख हमें मतंग के बृहदेशी में मिलता है-

"यौऽसो ध्वनिविशेषस्तु स्वरवर्णविभूतिः।
रंज्जको जनचितानां स च राग उदाहृत।।"[1]

अर्थात स्वर एवं वर्णो से विभूति विशिष्ट ध्वनि जो लोगों के चित्त का रंजन करती है उसे राग कहते है।

According to Mr. Fox Strangeways- "Raga is an arbitrary series of notes characterized, as far as possible as individual by proximity to or remoteness from the note which makes the tessitura (general level of melody), by a special order in which they are usually taken, by the frequency or the reverse with which they occur by glance or the absence of it, and by relation to tonic usually reinforced by a drone". [2]

(ii) अंगः अंग से भाव पं0 भातखण्डे जी ने रागो का वर्णन करते हुए अंग का अर्थ इस प्रकार दिया है, "अंग अर्थात ऐसा भाग जो रागो में अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। किसी राग में नियमित स्वर छोड़ना, किसी के आरोह या अवरोह विशेष प्रकार के रखना, किसी राग की स्वर रचना विशिष्ट प्रकार की रखना आदि।"[3]

According to Dr. Bimal Roy:- Ang: Svarabhangi or tonal pattern of a particular Raga; e.g. Kalyan Ang. And special character and swara arrangements of particular Raga".[4]

अतः राग के विशिष्ट अंगो एवं अंग संचालन के आधार पर किया गया वर्गीकरण ही आधुनिक काल में 'रागांग वर्गीकरण' के नाम से जाना जाता है।

2. रागांग पद्धति की प्राचीनता

रागांग पद्धति वर्तमान युग की कोई नई उपलब्धि नही है, अपितु शताब्दियों पहले चली आ रही परम्परा का पुनरोद्भव मात्रा है। रागांग का सर्वप्रथम प्रयोग मंतग कृत बृहदेशी में देसी रागो के अन्तर्गत किया गया है यथाः-

"उक्तानां ग्रामरागाणां छायामात्रां भजन्ति हि
गीतज्ञैः कथिताः सर्वे राऽगऽस्तेन हेतुना।"[5]

परन्तु उस समय अंगो पर आधारित राग वर्गीकरण का प्रचार नही था परन्तु 'राग भेद' या 'राग प्रकार' 7वीं 8वीं शताब्दी में बनने लगे थे। हमें तो रागांग का अभिप्राय संगीत रत्नाकर के दशविध राग वर्गीकरण में भी आभासित होता है। जिनमें छः मार्गरत और चार देशी राग रूप है। देशी रागो के चार प्रकारो में रागांग का उल्लेख है यथाः-

---

शिवानी, शोधकर्ती, संगीत विभाग, गुरु नानक देव यूनिवर्सिटी, अमृतसर

ग्रह, अंश, न्यास, अपन्यास, तार, मन्द्र, अल्पत्व, बहुत्व, षाडवत्व, औडुवत्व, सम्पूर्णत्व, सन्यास, विन्यास, अन्तर, अल्पत्व, बहुत्व, मार्ग, कोशल, क्रिया, भाषा, विभाषा, उपांग, इन सभी प्रकारों के साथ अंग का अभिप्राय इन सभी के प्रतिनिधि राग विशेष की वह विशेषताएं होगी, जिन्होंने अपने वर्ग के अन्य रागों का निर्माण किया होगा। 'भेद' और 'प्रकार' की एक मूल राग के विशेष प्रकार के निर्माण की प्रक्रिया भी रत्नाकर काल में विद्यमान थी। ''रत्नाकर में वराटी, तोड़ी आदि के प्रकारों का उल्लेख है यथा- 1.पञ्च कौन्तालीवराटी 2. प्रताप वराटी 3. द्राविड़ी वराटी 4. सैन्धवी वराटी 5. अपस्थान वराटी 6. हतस्वर वराटी और छाया तोड़ी, तुरुष्क तोड़ी, महाराष्ट्र गुर्जरी, दक्षिणी गुर्जरी और द्राविड़ी गुर्जरी।''[7]

इन राग प्रकारों अथवा राग भेदों का सम्बन्ध क्षेत्रों से भी है और स्वर प्रयोगों से भी। कुछ भी हो इस 'प्रकार-निर्माण प्रक्रिया' का सम्बन्ध भी संगीत-परम्परा से जान पड़ता है। डॉ0 कृष्णा बिष्ट के शब्दों में-

"The Prakara Paddhati of the Ragas has a systamatic history of about five hundred years. Matang was the first Sanskrit authority on music to describe Raga as we understand it today. But neither his Brhaddesi nor Sharangdeva's Sangita Ratnakara indicates the possibility of Bheda Paddhati being prevalent in ancient times. However, there are some Ragas with common suffixes e.g. Kauntali Varati, Dravidi Variti, Turushka Gauda and Dravida Gauda- Although they have not been mentioned specifically as Bhedas, nor have the common characteristic phrases been clearly indicated."[8]

संगीत रत्नाकर के पश्चात देशी रागों के निर्माण में और विविधता आई, लेकिन फिर भी प्रकार-निर्माण की प्रवृत्ति बराबर चलती रही। पौराणिक अनेक ग्रन्थों में तोड़ी, कान्हड़ा, कल्याण, बिलावल, भैरव, गुर्जरी, कामोद, मल्हार, गौड़, आसावरी, सारंग, केदार आदि के अनेकानेक प्रकारों का उल्लेख है। आज जितने प्रचलित रागों के प्रकार उपलब्ध है जैसे भैरव, कान्हड़ा, तोड़ी आदि इनकी परम्परा भी कोई नई नहीं है यदि इसे कम से कम दो सौ साल पुरानी मान लिया जाए, तो उस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस समय यही धारणा राग-प्रकार के निर्माण में कार्यरत रही होगी।

इसके अतिरिक्त ''जौनपुर के सुल्तान हुसैन शर्की ने भी रागांग पद्धति के आधार पर राग के प्रकारों का वर्णन किया है जैसे श्याम के 12 प्रकार- गौर श्याम, मल्हार श्याम, भूपाल श्याम, कान्हड़श्याम, सोहुश्याम, पूर्वी श्याम, सम्पूर्ण श्याम, मेघश्याम, बसंतश्याम, श्यामबेरारी, श्यामगोदाई तथा गौड़श्याम।''[9]

3. रागांग का पुनरावलोकन

संगीत के क्षेत्र में 'रागांग' शब्द का प्रयोग रागों के वर्गीकरण विशेष के अर्थ में लिया जाता था। सर्वप्रथम मतंग ने रागांगो को देशी रागों में माना है मतंगानुसार ''ग्राम रागो की छाया जिनमे दिखाई दे, वे रागांग है''[10] इसका तात्पर्य यह है कि ग्रामरागो के नियमो को भंग, मिश्रण अथवा उनमें विकार से जो राग उत्पन्न होते है, वे रागांग है। मतंग के रागांग शब्द के इसी रूप का प्रयोग शारंगदेव सहित मध्यकालीन ग्रन्थकारों द्वारा भी यत्र तत्र देखने को मिलता है। परन्तु आज के रागांग का स्वरूप मतंग मुनि और शारंगदेव से भिन्न है। प्रो0 कृष्णा बिष्ट के अनुसार ''आज रागांग, राग के अन्तर्गत प्रयुक्त होने वाले उस विशिष्ट स्वर समुदाय से है जो किसी खास राग की एक खास पहचान बन जाता है, फिर यही राग वाचक अंग कहलाने लगता है। जैसे केवल 'नी प; ग़ म रे स' इन स्वरो से कान्हड़ा का बोध होने लगता है। और यह अंग कान्हड़ा के लगभग सभी प्रकारों में दिखाई देता है इसी प्रकार

'स रे ग प ध' स्वरो से भूपाली, देशकार, जैत कल्याण, शुद्ध कल्याण आदि रागों का रूप झलकने लगता है। दक्षिणी संगीत में ऐसा दिखाई नही देता, वहाँ एक स्वरावली से केवल एक ही राग बनता है। जैसे उपर्युक्त स रे ग प ध स्वरावाली से मोहनम् राग ही बनता है। जबकि उघरी संगीत पद्धति में केवल एक ही स्वरावली का प्रयोग कई रागों में दिखाई देता है जैसे 'स ऱ ग ध नी' यह स्वरावली मारवा, पूरिया, सोहनी को उत्पन्न करती है इसी प्रकार भैरव की स्वरावली 'स ऱे ग म प ध़ नी भैरव, कलिगड़ा और गौरी में है। यह केवल खास अंगो की विशेषता के कारण ही संभव हुआ है।''[11] आज राग वर्गीकरण की रागांग पद्धति में यह विशेषता है कि जिस राग में वह खास अंग विशिष्ट रूप से झलकता है उसी राग के नाम से उस अंग को निर्देशित किया जाता है तथा जिन अन्य रागों में भी इस अंग का प्रयोग होता है, उनमें भी प्रायः उस राग के नाम का समावेश कर दिया जाता है। जैसे- राग तोड़ी का 'ऱे ग़ ऱ स' जिन अन्य रागों में भी यह अंग दिखाई देता है उनमें भी प्रायः तोड़ी उपनाम प्रयुक्त दिखाई देता है। जैसे गुर्जरी तोड़ी, बिलासखानी तोड़ी, भूपाल तोड़ी इत्यादि लेकिन फिर भी यह कोई कठोर नियम नहीं है क्योंकि रागांग नाम के बिना भी रागांग युक्त राग पाए जाते है।

''आज हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में रागो के स्वरो में समानता होते हुए भी केवल भिन्न रागांगों के प्रयोग से उनमे भिन्नता आ जाती है। उदाहरण स्वरूप बिलासखानी तोड़ी और कोमल ऋषभ आसावरी दोनो के स्वर समान है तथापि बिलासखानी तोड़ी का रागांग होने से वह कोमल ऋाभ आसावरी से अलग रहता है''[12] यह रागांग पद्धति की एक प्रमुख विशेषता है।

4. रागांग के गठन में आवश्यक मूलभूत तत्त्व

रागांग के गठन में न्यास, गमक, मींड, आन्दोलन, कण, स्थान, चाल इत्यादि तत्वों का महत्वपूर्ण स्थान है इन तत्वों के अभाव अथवा प्रयोग से ही एक ही स्वरावली विभिन्न रागांग हो सकती है 'रे प' सर्वसम्मति से मल्हार अंग समझा जाता है। परन्तु इसका प्रयोग अन्य रागों में भी हो सकता है जैसे सारंग में 'रे प, म रे,' कामोद में 'मरे प, ग म प ग म रे स,' देस में 'रे प म ग रे' इत्यादि। किन्तु इस 'रे प' का प्रयोग मल्हारो में एक विशेष प्रकार से ही किया जाता है। 'रे' पर मध्यम का कण लगाकर थोडा झुलाया जाता है तथा 'प' को 'रे' से मींड के साथ लिया जाता है म, म, प 'प रे' भी कई रागों के मुख्य स्वरावली के अंगीभूत है। जैसे छायानट तथा शुद्ध कल्याण। छायानट में यह मींड से 'रे ग, ग म' में गधार के खटके के साथ 'रे' का प्रयोग होता है। जयजयवन्ती में भी 'प रे' की संगति मान्य है, 'मन्द्र 'प' से मध्य 'रे' 'ग' के कण से लिया जाता है यथा 'प^{ग} रे'।

इसके अतिरिक्त डॉ कृष्णा बिष्ट ने भी बात पर अपनी सहमति जताई है उनके अनुसार- The notes Ni dha ma ga re sa are admissible to both the Ragas puriya and Marwa. Pauses after Ni and Ga will Make Puriya while after Dha and Re will make Marwa similarly Megh should have Gramak (In the Modern sense) to keep it distinct from Madhyamad Sarang".[13] अर्थात् नी ध म ग ऱ स दोनों रागों में प्रयोग लाए जाते है नी और ग पर ठहराव अथवा न्यास पूरिया तथा ध, ऱे पर ठहराव मारवा बनाता है इसी तरह मेघ में गमक का प्रयोग उसे मधमाद सारंग से भिन्न रखता है। अतः कहने का भाव यह है कि न्यास, गमक, मींड, आन्दोलन, कण, चाल, इत्यादि तत्वों का रागांग के गठन में अपना विशेष महत्व है।

संदर्भ

1. मतंग, बृहदेशी, लोक न0 281, पृ0 81
2. Strangeways Mr. Fox , Ragas of Hindustan. Page No. 107.

3. भातखण्डे विष्णु नारायण, भातखण्डे संगीत शास्त्र, पृ0 29
4. Roy Dr. Bimal , Sangeet Sabda Kosh, Page No. 243.
5. क्षीर सागर डॉ. डी.बी. हिन्दी अनुवादक, मतंगकत बहदेशी, पंचम अध्याय, लोक 349, पृ0 220
6. Shringy Dr. R.K. Sangeetratnakra of Sharangdev (Text and Eng Translation), Vol II, द्वितीय प्रकरणम, पृ0
7. Shringy Dr. R.K. , Sangeetratnakra of Sharangdev (Text and Eng Translation), Vol II, द्वितीय प्रकरणम, पृ0 108-111
8. Bisht Dr. (Mrs.) K. . Significance of Ragang in Hindustani Music, Vol. XLIV, Page No. 211.
9. द्विवेदी श्री हरिहरनिवास , मानसिंह और मानकुतूहल, राग दर्पण, द्वितीय सर्ग, पृ0 77
10. क्षीर सागर डॉ. डी.बी. (हिन्दी अनुवादक), मतंगकृत बृहदेशी, पंचम अध्याय, श्लोक 349, पृ0 220
11. Bisht Dr. Krishna . A Significance of Rangang in Hindustani Music, Page No. 210.
12. जैन डॉ. रेनू , स्वर और राग, पृ0 200
13. Bisht Dr. (Mrs) Krishna , Significance of Ragang in Hindustani Music, Page No. 215

संगीत चिकित्सा

डॉ. श्रुति होड़ा

संगीत है शक्ति ईश्वर की,
हर स्वर में बसे हैं राम।
रागी जो सुनाए रागिनी,
रोगी को मिले आराम।

समस्त ललित कलाओं में संगीत का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अध्ययन और अभ्यास से मनुष्य लौकिक तथा अलौकिक दोनों प्रकार से सुख प्राप्त कर सकता है। संगीत कला के माध्यम से कलाकार एवं श्रोताओं में प्रत्यक्ष संबंध स्थापित होता है तथा कलाकार अपनी कला के आकर्षण से श्रोताओं को कला की रसधारा में बहा ले जाता है।

"Music gives a soul to universe, wings to the mind, flight to the imagination and life to everything."

हिन्दुस्तानी संगीत अब संगीत जगत में केवल उत्सवों और श्रोताओं के मंच पर ही शोभायमान नहीं अपितु वैज्ञानिक गवेषणागार में भी अपना प्रवेश ले चुका है। इतिहास साक्षी है कि प्राचीन काल से संगीत का प्रयोग मनोरंजन के अतिरिक्त अन्य रूपों में भी किया जाता है। संगीत प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मानव में स्वस्थ मस्तिष्क, शरीर एवं आत्मा के विकास में सहायक होता है।
वेद साहित्य में संगीत द्वारा

चिकित्सा के अनेक प्रमाण मिलते है। वैदिक काल से ही सामवेद में रोगों के निवारण के लिए राग गायन का विधान मिलता है। भारतीय संगीत में नाद की सर्वोच्च शक्ति पर बल दिया गया है जिसके माध्यम से एक उपचार पद्धति का प्रादुर्भाव हुआ जो सामान्य रूप से सगीत चिकित्सा पद्धति के नाम से जानी जाती है।

संगीत के आचार्य सृष्टि-रचना का मूल पदार्थ नाद को मानते है। ओउम् का उच्चारण नाद ही है। ओउम् ईश्वर का मुख्य नाम है। नाद से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पति हुई है। मानव शरीर भी इन्हीं तत्वों से बना हैं इसलिए नाद का उसके मन मस्तिष्क और शरीर के अंगों पर शीघ्र प्रभाव पड़ता है। सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रों की गति से सदैव ध्वनि निकलती है यह ध्वनि ओउम् है। सृष्टि की रचना नाद से हुई है इसलिए नाद ब्रह्म कहलाता है।

प्रत्येक संगीत और ध्वनियां रोगियों के मन पर अलग-अलग प्रभाव डालती है। ध्वनियाँ भी गर्म, ठण्डी व शुष्क होती है। शब्द के परमाणुओं पर वातावरण का प्रभाव शीघ्र पड़ता है। इसलिए नाद का गुण व प्रभाव वातावरण के अनुसार होता है। इसलिए नाद का गुण व प्रभाव वातावरण के अनुसार होता है। वास्तव में ध्वनि की उत्पति कंपन व अन्दोलन से होती है। ध्वनि दो प्रकार की होती है। एक ध्वनि वह जो उत्पन्न होकर शान्त हो जाती है तथा जिसमें कम्पन लगातार नहीं होते। दूसरी ध्वनि वह होती है जो उत्पन्न होकर कुछ देर ठहरने के बाद शान्त होती है तथा इसमें कम्पन लगातार होते है और कंपन समाप्त होने के बाद ध्वनि शान्त होती है। यह ध्वनि संगीतोपयोगी होती है तथा इसे नाद कहा जाता है। नाद ही संगीत का आधार है तथा यही कारण है कि इस नाद का विभिन्न रोगो की चिकित्सा में महत्वपूर्ण योगदान है। 9 अगस्त 2009 के दैनिक जागरण में "संगीत के सुरो से होगा" नामक लेख में लिखा था, दिल्ली-मुम्बई जैसे महानगरों की भाग दौड़ भरी जिन्दगी में हाई ब्लड प्रेशर, डिप्रेशन, तनाव और हृदय रोग आम बीमारी बन गए है लेकिन इनका इलाज संगीत से किया जा सकता है। उभरते तबला-वादक मुस्तफा

हुसैन ने कहा कि मनुष्य प्रजाति एक-दो-तीन-चार की ताल में हो रही है। यही मूलभूत में है और पूरी सृष्टि इसी पर आधारित है। संगीत सुकून तो देता ही है इसमें तनाव, हाई ब्लड प्रेशर हृदय रोग, डिप्रेशन जैसी तमाम बीमारियों को दूर करने की अचूक ताकत भी है।

शारंगदेव ने बाईस श्रुतियों का सम्बन्ध मानव हृदय की बाईस नाड़ियों से स्थापित किया है। यदि संगीतज्ञों द्वारा इन श्रुतियों का उचित प्रयोग किया जाए तो इस से हृदय रोगों के उपचार में सहायता मिलती है। इस प्रकार स्वर के विषय में नारद जी ने लिखा है कि षड्ज में अद्भुत और वीर दो रस है। ऋषभ में रौद्र रस, गन्धार में शाँत रस, मध्यम में हास्य रस, पंचम में श्रृंगार रस, धैवत में विभत्स रस और निषाद में करूणा रस विद्यमान है। इसी कारण रोगी की प्रकृति एवं प्रवृति के अनुसार सुनाया गया संगीत रोगी पर तुरन्त प्रभाव डालता है। ताल द्वारा वात प्रधान रोगों के उपचार में सहायता मिलती है। इसमें तीन ताल और चार ताल का वादन उत्तम रहता है। गर्मी के प्रभाव से उत्पन्न रोगों में ताल की धीमी गति सहायता करती है। चिंता से या अमाशय की खराबी से उत्पन्न रोगों को दूर करने के लिए ताल द्रुतलय में बजाई जाती है।

नृत्य केवल एक कला ही नहीं है अपितु यह रोग दूर करने का माध्यम भी है। नृत्य कला में स्वास्थ्य लाभ का गहरा गुण छिपा है। यह शरीर एवं मनोमस्तिष्क में घर बनाने वाली हानिकारक ग्रन्थियों को दूर करता है, इससे दिमाग तनाव मुक्त होता है, रक्त प्रवाह सुधरता है, शरीर लचीला बनता है, जड़ों में मजबूती आती है और उनका दर्द दूर होता है। दिमाग तनाव एंव अवसाद मुक्त होकर तेज होता है व शरीर में ऊर्जा का संचार होता है। साथ ही नर्तक का मन प्रसन्न रहता है इसलिए उसका स्वास्थय अच्छा रहता है। नृत्य की संगति में जो वाद्य बजते है उनका प्रभाव भी रोगी दर्शक पर पड़ता है। गायन का मुख्य अंग कंठ स्वर है। इस साधना से गले, पेट और श्वसन-नली की बीमारियां ठीक होती है। तानों का अभ्यास एक गुण तथा दुगुण में किए गए इस अभ्यास से शरीर में स्फूर्ति आती हैं

रोगों की चिकित्सा में जहां विभिन्न राग, स्वर, ताल, लय, नृत्य आदि रोगी को स्वस्थ करने में सहायक सिद्ध हो सकते है वहीं मृदंग, तबले का वादन, सितार का वादन भी रोग चिकित्सा में सहायक होते हैं। प्रत्येक मनुष्य की हथेलियों, अंगुलियों तथा पैर के तलवों में ऐसे केन्द्र होते है जिन का सम्बन्ध विभिन्न अंगों से होता है। मृदंग का वादन, तबले का वादन दोनों हाथों की हथेलियों और अंगुलिया से होता है। मृदंग की दाहिनी और बाईपुड़ी पर खुले पंजे से थाप लगाने पर लगभग सभी केन्द्रों पर दबाव पड़ता है। बाएं पर आटा लगा होने पर बाई हथेली के सभी केन्द्रों पर कोमल दबाव पड़ता है। वर्तमान समय में मृदंग दो मुँह का होता है। इसके बायें को षड्ज से तथा दायें को पंचम से मिलाते है। षड्ज, मध्यम और पंचम के नाद वात, पित और कफ प्रधान होते है। इसी प्रकार सितार वादन के समय भी रोग को दूर करने वाले स्वरों को बजाने पर रोगी पर स्वरों का प्रभाव पड़ता हैं।

वर्तमान युग में संगीत चिकित्सा एक नवीन अध्ययन एवं अनुसंधान की एक नवीन शाखा के रूप में उभरे है। विश्व प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक Dr. Sigmund Frend ने अपनी पुस्तक Discontents of modern civilization में लिखा है कि इस समय समूचे विश्व में हाहाकार, तबाही और अस्थिरता, असुरक्षा और भय की भावना बड़ी तीव्र गति से फैल रही है। स्पष्टतः इन नकारात्मक उपादानों का सीधा-सीधा प्रभाव मानव मन पर पड़ रहा है। जिनके कारण नित्य नई मानसिक बीमारियों जिन का नाम भी हम ने कभी नहीं सुना, उभर कर सामने आ रही है। फलस्वरूप इसके चिकित्सा-विज्ञान की एक नई शाखा साइकोसोमैटिक नयोइनस का उदय हुआ है। यही वह विशेष क्षेत्र है, जहाँ केवल और केवल म्यूजिक थैरपी ही कारगर सिद्ध हो सकती हैं इस विषय में अनेक शोध हुए है तथा हो रहे हैं जैसे - चिकित्सा वैज्ञानिक डॉ. ए. जब्बर खान ने अलीगढ़ के एक अधिवेशन में कहा है - हिन्दुस्तानी मार्ग संगीत मानव देह के संवहन चक्र के सुसंचाल में सहायता करता है। वह ऋतु दिन और घंटों के साथ संतुलन और संगति रखता है। इस कारण म्युजिक थैरपी की शुरूआत हुई।

नई दिल्ली स्थित शक्ति विकास प्रकल्प के संस्थापक व अध्यक्ष ई. कुमार ने संगीत चिकित्सा पर गहन अध्ययन किया है। उनका दावा है कि -

"वे संगीत की स्वर लहरियों से सैंकड़ों रोगियों को ठीक कर चुके है। उनका मानना है कि संगीत प्रकम्पनों से जटिल रोगों को भी ठीक किया जा सकता है जैसे - पागलपन की सीमा तक जा चुके रोगियों को स्वस्थ किया जा सकता है, एवं दर्द मुक्त प्रसव भी कराया जा सकता हैं वे कहते है कि तनाव ही रोगों का मूल कारण है। तनाव से बायोरिद्म में असंतुलन आ जाता है जिससे तरह-तरह की विसंगतियां पैदा हो जाती है। संगीत द्वारा विशेषकर शास्त्रीय एवं संकीर्तन आदि से बायोरिद्स स्थापित हो जाती है और रोगों से राहत मिलती है।"

दिल्ली के अपोलों अस्पताल के मनोवैज्ञानिक डॉ. संजय के अनुसार - "संगीत के माध्यम से उपचार की प्रक्रिया के तहत मैंने कई लोगों का इलाज किया है। खास कर उन लोगों का जो डेमिटिया, डायलेक्सिया या किसी मानसिक तनाव के दौर से गुजर रहे है। वे मानते है कि संगीत और भावनाओं में मजबूत संबंध है। उनके अनुसार जिन बच्चों में सीखने एवं सामन्जस्य बिठाने की क्षमता न्यून थी वे बच्चे संगीत की विशेष निर्धारित रचनाओं को सीखने एवं प्रतिक्रिया देने में सहज हो जाते है। इस के अतिरिक्त प्रारम्भिक स्तर पर शिष्य को जब स्वर साधना की शिक्षा दी जाती है, तब उनके एक सैकेंण्ड में श्वास अन्दर खींचने, दो सैकेण्ड तक उसे अन्दर रोकने और चार सैकेण्ड में धीरे-धीरे नाक के माध्यम से उसे बाहर निकालने की क्रिया सिखाई जाती है। यही 1:2:4 का अनुपात कायम रखते हुए योगी योग साधना करते है और प्राकृतिक चिकित्सक श्वास संबंधी व्यायाम कराते है। इस प्रकार जब हम ओउम् की साधना करते है तो ओउम् शब्द के उच्चारण के समय सम्पूर्ण शरीर में, शब्द के उच्चारण के समय मस्तिष्क में कम्पन होता है जो हमारे शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्याधिक उपयोगी है। इस प्रकार गायन से न केवल फेंफड़ों में वरन उदर, वक्ष, मांसपेशियों में भी सक्रियता आती है। रक्त संचार के बढ़ने से स्फूर्ति रहती है, चित प्रसन्न रहता है।

मानसिक रोगियों पर संगीत दवा के समान कारगर है। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में मानसिक रोग विशेष डॉ. संजय गुप्ता का कथन है - "संगीत सुनने के दौरान मस्तिष्क से न्यूरो ट्रासमीटर नामक तरल श्रावित होता है जिससे सुनने वाला शीघ्र ही तनाव रहित हो जाता है।" सन् 1944 में एक बार गांधी जी के अस्वस्थ होने पर भी महान संगीतज्ञ मनहर बर्वे ने संगीत द्वारा स्वस्थ किया था। गांधी जी ने कहा था - "आपका संगीत तो मेरे लिए औषधि है।"

प्रयोगों द्वारा यह भी सिद्ध हुआ है कि यदि माता शास्त्रीय संगीत का श्रवण करती है तो उस का गर्भस्थ शिशु गणित विषय में विशेष रूप से पारंगत होता है। उक्त रक्त चाप, तनाव अनिद्रा इत्यादि मनोदैहिक रोगों पर संगीत का स्पष्ट साकारात्मक प्रभाव पड़ता है। प्रमुख शोधकर्ता जो नार्थन स्किनर ने शोध में पाया है कि बुजुर्गों के स्वास्थय व लम्बी आयु के लिए कम्युनिस्ट डांस बेहद लाभदायक है। यह बुजुर्गो को ऊर्जा प्रदान करता है। यह उन्हें बीमारियों से दूर रखने के इलावा हँसने, खेलने और जीने का मकसद देता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सभी रोगों के उपचार हेतु संगीत आवश्यक रूप से प्रभाव है। संगीत साधकों के पास संगीतिक ज्ञान रूपी अतुल्य औषधि के भंडार है जिसे वह इन रोगियों में बांट कर सेवा का लाभ प्राप्त कर सकते है तथा संगीतज्ञों एवं संगीत चिकित्सकों ने संगीत के प्रभावों को देखते हुए उसे दैनिक दिनचर्या में अपनाने का सुझाव दिया है। आज कल विश्व के अनेक विद्वान तथा चिकित्सक संगीत के रहस्यपूर्ण तत्वों के अनुसंधान कर्त्ताओं को उत्साहित कर रहे है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संगीत मस्तिष्क तथा शरीर पर एक स्वस्थ प्रभाव छोड़ता है। संगीत चिकित्सा का वांछित प्रभाव है, परन्तु यह वांछित प्रभाव तभी पड़ता है जब वांछित संगीत का प्रयोग किया जाए। निस्संदेह संगीत मनुष्य के लिए संजीवनी बूटी है।

अतः हम कह सकते है कि हमारे भारतवर्ष में संगीत की एक समृद्ध परम्परा रही हैं आज संगीत को चिकित्सक के रूप में स्थापित करने में भले ही विदेशों से भले ही हम थोड़ा पीछे है, परन्तु भविष्य में निश्चित रूप से शारीरिक तथा मानसिक व्याधियों में पीड़ित व्यक्तियों को रोग मुक्त कर संगीत एक अद्भुत चिकित्सक के रूप में सम्पूर्ण विश्व को एक ऊर्जामय तथा स्वस्थ रूप अवश्य प्रदान करेगा।

शास्त्रीय संगीत का उद्देश्य तथा उससे लक्ष्य प्राप्ति

डॉ0 आनन्द कृष्ण ज्योतिषी

योग का स्वाभविक अर्थ होता है जोड़ना जैसे अंक गणित में हम कहते हैं (2+3) = 5 अर्थात् एक संख्या में दूसरी संख्या का जुड़ना योग कहलाता है। उसी प्रकार भगवान ने गीता में जीवात्मा को परा (चेतन) प्रकृति और संसार को अपरा (जड़) प्रकृति कहा है।

इन परा और अपरा के संयोग से ही सम्पूर्ण प्राणी पैदा होते हैं। वे प्राणी चाहे मनुष्य लोक के हों, चाहे स्वर्ग लोक के हों, चाहे नरक के हों, चाहे चौरासी लाख योनियों के हों, चाहे भूत-पिशाच आदि योनियों के हों वे सभी परा-अपरा के सम्बन्ध से ही पैदा होते हैं (7/6)।

इसी बात को तेरहवें अध्याय के छब्बीसवें लोक में कहा है कि सम्पूर्ण स्थवर-जंगम प्राणी क्षेत्र और क्षेत्र के संयोग से ही पैदा होते हैं।

संयोग करने की, संबंध मानने की योग्यता का सामर्थ्य चेतन में ही है, जड़ प्रकृति में नहीं। सम्बन्ध को स्वीकार करने अथवा न करने में, मानने अथवा न मानने में यह स्वयं सर्वथा स्वतन्त्र है। जब यह अविवेक के कारण प्रकृति और उसके कार्य शरीर के साथ अपना सम्बन्ध मान लेता है, तब इसको अपने में कमी का अनुभव होने लगता है।

इस जीवात्मा की परमात्मा के साथ एकता स्वतः है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह दृढ़ता से परमात्मा के साथ एकता को मानकर साधन-परायण हो जाए तो उसे परमात्मा के साथ योग का अनुभव हो जाए। संगीत शास्त्र भी जीवात्मा का परमात्मा से योग का एक मार्ग है। इसकी उत्पत्ति सामवेद के उपवेद गान्धर्व-वेद से हुई है।

संगीत के प्राचीन ग्रंथों में स्वर को समझाने से पहले नाद की व्याख्या की गई है। स्वर का आधार नाद है। व्यापक अर्थ में 'नाद' के बारे में कहा है-

चैतन्यं सर्वभूतानां विवृत्तं जगदात्मना।
नादब्रह्म तदानन्दमंद्वितीयमुपास्महे।।1।।
नादोपासनया देवा ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।
भबन्त्युपासिता नूनं यस्मादेते तदात्मकाः।।2।।
संगीत रत्नाकर (62-63) 1/3/62

यत्स्वरूपं परं ज्ञत्वा चैतन्यं परमनुते।
चिदात्मानमहं वन्दे नादं ब्रह्मादिवन्दितम्।।
संगीत रत्नाकर (2/1/1/3)

अर्थात् समस्त भूतों में चैतन्य स्वरूप और जगत् रूप में निर्वतित, आनन्दमय तथ अद्वितीय नादब्रह्म की (हम) उपासना करते हैं। नाद की उपासना (साधना) करने से ब्रह्मा, विष्णु तथ महेश्वर देव स्वतः ही पूजित हो जाते हैं। क्योंकि ते नादस्वरूप हैं।

जिस नाद के निष्ठ स्वरूप को जानकर चैतन्य (जीव) श्रेष्ठता को प्राप्त करता है, ब्रह्मादि द्वारा पूजित होता है। उस चिदात्मक नाद की मैं वन्दना करता हूँ।

नाद के व्यापक रूप में सभी प्रकार की ध्वनि आ जाती है। जब किसी प्रकार के आघात या घर्षण से जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह 'आहत नाद' होता है। इसमें मनुष्य, पशु-पक्षी की आवाज, झरने की कलकल ध्वनि आदि इस जगत् में सुनाई देने वाली प्रत्येक ध्वनि आ जाती है। अनाहत नाद स्थूल या भौतिक नहीं, इस कारण वह इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता।

संगीत में आहत नाद का ही उपयोग होता है। ध्वनि दो प्रकार की मानी जाती है- (1) संगीतोपयोगी ध्वनि (2) वह ध्वनि जो संगीत के लिए उपयोगी न हो। जिस ध्वनि में कंपन प्रति सेकेण्ड में नियमित गति से होते हैं, वह ध्वनि संगीतोपयोगी होती है, अन्यथा नहीं। जिस ध्वनि में नियमितता, स्थिरता और अनुरणन होता है, वही ध्वनि मधुर होती है। इसी मधुर-ध्वनि से स्वर उत्पन्न होते हैं।

'स्वर' इस नाम से ही 'स्वयं राजते इति स्वरः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार उसकी निरपेक्ष सत्ता का बोध होता है। उसी प्रकार व्यंजन नाम में ही व्यक्तता अर्थात् स्फुटता धर्म आन्वित है। संगीत के षड्जादि स्वर और व्याकरण के आकारादि स्वर इन दोनों में क्या संबंध है, यह जिज्ञसा सहज ही हो सकती है इसका उत्तर है, संगीत का स्वर भी व्याकरण के स्वर की भंति निरपेक्ष है, किन्तु इसमें रंजकता धर्म विशेष है। इस कारण षड्जादि स्वरों में 'स्वतो रंजयति' भी निहित है। उच्चता-नीचता, मन्द्रता-तीव्रता, अनुरणनात्मकता,स्निग्धता, कालमान विशेष गुण इत्यादि के द्वारा जो नाद रंजक होता है, उसे स्वर कहते हैं।[1] 'स्वर' शब्द का प्रयोग वेद में कंठ स्वर की उच्चता, नीचता या मध्यावस्था के लिए हुआ है। जिसकी उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ये वैदिक स्वर की संज्ञायें हैं।

सामवेदात् स्वरा जाताः स्वरेभ्यो ग्रामसम्भवः।
द्वावेतौ च इमौ ज्ञेयौ षड्जमध्यमलक्षितौ।।

अर्थात् सामवेद से 'स्वर' उत्पन्न हुए, स्वरों से 'ग्राम' प्राप्त हुआ। ये दोनों ग्राम षड्जग्राम तथ मध्यम ग्राम नाम से जाने जाते हैं।

स्वर तथ वर्ण विशेष के द्वारा विभूषित ऐसी ध्वनि जिससे चित्त का रंजन होता है। उसे सज्जनों ने राग कहा है।

किसी भी राग को गाए जाने पर 'राग' के माधुर्य का प्रभाव लोगों के चित्त पर पड़ने से सत्व गुण की बहुलता होती है, और सत्वगुण का स्वरूप निर्मल, प्रकाशक तथा अनामय है। जिससे शान्त रस की उत्पत्ति होती है। चूकि रस का आधार भाव है, इस कारण जब संगीत का साधक दीर्घकाल तक इस अभ्यास में लगा रहता है, तो मन धीरे-धीरे एकाग्रता को प्राप्त होकर 'नाद' के व्यापक अर्थ में चित्त तल्लीन होने लगता है और साधना के परम लक्ष्य आनन्द की प्राप्ति हो जाती है। इसके लिए तैत्तिरीयोपनिषत् कहता है-

आनन्दो ब्रह्मति व्यजानात्।
आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।
आनन्देन जातानि जीवन्ति।
आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्तीति।।

(तैत्तिरीयोपनिषत् 3.6)

अर्थात् आनन्द ब्रह्म है, ऐसा जानो। आनन्द से समस्त भूत उत्पन्न होते हैं। आनन्द से उत्पन्न होने पर, जीते हैं। आनन्द में ही वापस प्रविष्ट होते हैं।

वर्तमान समय में संगीत केवल रसास्वादन के लिए नहीं है अपितु इसके रागों का उपयोग मानसिक रोग जैसे अवसाद, क्रोध आदि विकारों पर किया जा रहा है। इस प्रकार के रोगों की चिकित्सा में यह देखना पड़ता है कि रोगी को किस प्रकार की समस्या है, उसे किस प्रकार के वातावरण में काम करना पड़ता है। उसके अनुरूप ही राग का चयन करना पड़ता है तद्अनुरूप गायन अथवा वादन की कैसेट् रोगी को सुनवाई जाती है। वर्तमान समय में संगीत चिकित्सा काफी लोकप्रिय हो रही है तथ इसमें अधिक शोध की आवश्यकता है।

राग गायन में बंदिश की भूमिका

डॉ0 पुष्पम नारायण

राग शब्द की उत्पत्ति संस्कृत शब्द 'रंज' से है जिसका अर्थ रंगना।[1]

संगीत दर्पण के लेखक ने राग की उत्पत्ति शिव तथा शक्ति अर्थात् पार्वती दोनों के योग से बतायी है। शिव के मुख से पाँच राग श्री, बंसंत, भैरव, पंचम तथा मेघ प्रस्फुटित हुए एवं प्रसन्नचित पार्वती के श्री मुख से नट-नारायण राग की उत्पत्ति हुई यथा-

"शिव-शक्ति समायोगाद्रागाणां भवेत्
पंचास्यात् पंच रागाः स्युः षठस्तु गिरिजामुखात्"[2]

रंजकता ही राग का आंतरिक तत्व है। विभिन्न शब्दकोषों के अनुसार राग शब्द के अनेक अर्थ वर्ण, रंग, रंजकत्व, लालिमा, प्रेम, स्नेह, प्रणयोन्माद, भावना, संकेत, सहानुभूति, संवेदना, हर्ष, आनन्द, प्रिय, सौन्दर्य शास्त्रीय संगीत में निर्धारित राग संगीत माधुर्य, लालच, ईर्ष्या आदि बताए गए हैं। परन्तु रंजक तत्व से संबंध रखने वाले अर्थ ही संगीत की रसात्मकता के संदर्भ में महत्वपूर्ण जाने जा सकते है। जिनमें रंग, भाव तथा संगीतात्मक माधुर्य से युक्त ध्वनि विशेष रूप से समन्वित है।

भरतमुनि ने नाट्य शास्त्र में राग शब्द को रंजकता के अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा है-

यथा वर्णाद्रृते चित्रं न शोभोत्पादेन भवेत्
एवमेंव बिना गानं नाट्यं रागं न गच्छति।

अर्थात् जिस प्रकार रंगों के बिना कोई चित्र शोभायमान नहीं होता, उसी प्रकार गान (संगीत) के बिना नाट्य रंजकत्व को प्राप्त नहीं होता।

यहाँ 'राग' शब्द का प्रयोग रंजकत्व अथवा सौन्दर्य के रूप में किया गया है। ज़बकि अन्य स्थान पर 'राग' का प्रयोग रागत्व, प्रियता या प्रेमरस के रूप में करते हुए उन्होंने कहा है-

अपटाक्षेपकृता चेदात्ययिका हर्षरागशोकाथाः
विच्छेदस्तत्र समः कार्यस्तज्ञैः प्रवेशे तु।।[3]

राग शब्द परिभाषित रूप से सर्वप्रथम मतंगकृत 'वृहद्देशी' में प्रयुक्त हुआ है। मतंग ने राग परिभाषा को भिन्न-2 रूप से प्रयुक्त किया है। मतंग के अनुसार राग परिभाषा इस प्रकार है-

"स्वर वर्ण विशेषण ध्वनिभेदन ना पुनः
रज्यते येन यः कश्चित सरागः संमतः सताम्"

अर्थात् विशिष्ट स्वर वर्ण अथवा ध्वनि भेद के द्वारा जो जन रंजन में समर्थ है, वह राग है। इसके पश्चात् 'मतंग' ने राग परिभाषा के संदर्भ में और स्पष्ट किया है जो इस प्रकार है-

"योऽसौ ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ण-विभूषितः
रंजको जन चिन्तानां स च राग उदाहतः।।

अर्थात् षड़ज इत्यादि स्वरों तथा स्थाई इत्यादि वर्णो से विभूषित ऐसी ध्वनि की रचना जिससे मनुष्य के मन का रंजन होता है, उसे राग कहा है।

'संगीत समय सार' में राग की परिभाषा इस प्रकार से दी है-

"स्वर वर्ण विशिष्टेन ध्वनि भेदन ना पुनः
रन्जयते पेन सच्चितं से रागः सम्भतः सताम्।।"

अध्यक्ष, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 वि0 वि0, दरभंगा

अर्थात् स्वर और वर्ण विशेष अथवा ध्वनि भेद से जिसके द्वारा सज्जनों के चित्त का रंजन हो वह राग है। सोमनाथ के अनुसार-

"स्वर वर्ण भूषितो यो ध्वनि भेदो रंजका से रागइह"

पं0 व्यंकटमखी ने राग की परिभाषा इस प्रकार से दी है- "जो स्वर प्रबंध श्रोताओं के मन का रंजन करते हैं, उन्हें राग कहते हैं।

पं0 अहोबल ने राग का इस प्रकार उल्लेख किया है-

"रंजकः स्वर संदर्भो राग इत्याभिधीते"

अर्थात् रंजक स्वर संदर्भ राग है।[4]

संगीत दर्पण में राग की परिभाषा इस प्रकार दी गई है-

"योऽयं ध्वनि विशेषस्तु स्वर वर्ण विभूषितः
रंजको चित्तानां स रागः कथितो बुधैः।।

अर्थात् स्वर वर्ण से विभूषित ध्वनि विशेष जो जन-चित्त रंजक है उसे विद्वान ने राग कहा है।[5]

जिससे मनुष्यों के मन का रंजन होता है विशिष्ट स्वर वर्ण से अथवा ध्वनिभेद के द्वारा जो जन-रंजन में समर्थ है वह राग है। जो राग स्थायी, आरोह, अवरोह, संचारी, वर्णों से शोभन हो, वह सब कुछ (वर्ण चतुष्टय) जहाँ दिखाई देता हो, वे राग कहे गए हैं जिनके द्वारा तीनों लोकों में विद्यमान प्राणियों के हृदय का रंजन होता है भरत इत्यादि मुनियों ने उन्हें राग कहा है।[6]

कल्लिनाथ के अनुसार-

"चतुर्णामपि वर्णानां यो रागः शोभनों भवेत्
स सर्वो दृश्यते येषु तेन रागा इति स्मृताः।"

अर्थात् जिनके द्वारा तीनों लोकों में विद्यमान प्राणियों के हृदय का रंजन होता है भरत इत्यादि मुनियों ने उसे राग कहा है।

"यैस्तु चेतंसि रंजयन्ते जगत्त्रितय वर्तिनाम्
रागा इति कथ्यन्ते मुनिभिर्भरतादिभिः।"[7]

राणाकुम्भा के अनुसार जिस ध्वनि की रचना में विचित्र (अर्थात् भिन्न-2) वर्ण, अलंकार हो, जिसमें ग्रहादि स्वरों का संदर्भ हो या जो रंजक हो वह राग है-

"विचित्र वर्णलंकारों विशेष (षो) यो ध्वेनरिह।
ग्रहादि स्वर संदर्भों रंजकों राग उच्चते।।[8]

मध्यकालीन ग्रंथकार श्रीकंठ के अनुसार सुन्दर ध्वनि विशेष जिसमें सभी वर्ण विराजित हों तथा वह मानव के मन को रंजित कर दे, राग है।

"रम्यध्वनि विशेषस्तु सर्ववर्ण विराजितः।
सरागो गीयते तज्ज्ञैर्जगन्मानस रंजकः।।[9]

पं0 व्यंकटमुखी के अनुसार- जो स्वर-प्रबंध श्रोताओं के मन का रंजन करते हैं, उसे राग कहते हैं।

"रंजयन्ति मनांसीति रागाः"[10]

प्रो0 बा0 र0 देवधर ने मनोरंजन और रस पैदा करने वाला खास नियमाधीन स्वर समुदाय को "राग" कहा है।[11]

श्री परांजपे के अनुसार "राग वह स्वर रचना अथवा धुन है, जिसमें स्वर संवाद परस्पर संबंध रखते हैं और रंजकता के कारण एक विशिष्ट, प्रभाव श्रोता के मन पर अंकित करते हैं।[12]

हिन्दी शब्द राग के अनुसार- "षड़ज आदि स्वरों, उनके वर्णों और अंगों से युक्त मनोरंजन के लिए गायी जाती हो, राग कहलाता है।[13]

आभूषित स्वर वर्ण सों ध्वनि रचना है राग।
जन मन रंजन करत है, थाट जनक तेहिं लाग।।

राग ध्वनि की ऐसी विशिष्ट रचना है जिस में स्वर और वर्णों के कारण सौन्दर्य होता है और जो सुनने वालों का मन रिझाती है। राग थाट से उत्पन्न होता है। अतः थाट जनक और राग जन्य है।[14]

राग गायन लगभग तेरहवीं शताब्दी से पूर्ण रूपेण प्रचार में आ गया था एवं शास्त्रोक्त सिद्धांतों के अनुसार अपना आकार प्राप्त कर चुका था इसके साथ ही इन रागों में बंदिशें भी प्रचार में आ चुकी थी। जहाँ तक बंदिशों के महत्व की बात है वह इसी से प्रमाणित हो जाती है कि एक प्रतिष्ठित गुणी, बंदिश प्राप्त करने के लिए शिष्यत्व ग्रहण करने में

जरा भी हिचकता नहीं था। संगीत जगत में बंदिशों को 'अकबरी मोहर' के समान महत्व दिया है। वर्तमान में भी गुणीजन बंदिशों को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

राग एक निर्धारित मनोरंजक स्वर संगति है, जो शास्त्रोक्त नियमों के अंतर्गत ही गाई जाती है। इस स्वर संगत में वे सभी तत्व सम्मिलित हैं जो राग के स्वरूप को स्पष्ट करते हैं, जैसे-वादी संवादी कोमल तीव्र वर्ज्यावर्ज्य आदि। इन तत्वों से जो भी स्वरूप बनता है उसे वर्ण की सहायता से गाया जाता है, जिसे राग गायन की संज्ञा दी जा सकती है। राग गायन को आलाप, स्वर विस्तार, कण मींड, गमक, तान आदि सभी तकनीकि विशेषताओं से संवारा जाता है।

राग गायन में जब ताल जोड़ा गया जो उसमें अनुशासन आया, एक निश्चित लय प्राप्त हुई एवं इसी मिले जुले रूप को हम बंदिश या रचना के नाम से जानते है। बंदिशों में राग, ताल, शब्द एवं लय की खूबसूरती अलग रूप से देखी जा सकती है। बंदिशों का वर्गीकरण इस प्रकार है।

1. स्वर प्रधान बंदिशें
2. शब्द प्रधान बंदिशें
3. ताल एवं लय प्रधान बंदिशें
4. पारम्परिक बंदिशें जो राग को खास स्वर-संगतियों के लिए प्रमाण स्वरूप है।
5. संकर बंदिशें

स्वर प्रधान बंदिशें- इस प्रकार की बंदिशों में सम्पूर्ण रागों की सरगम या स्वरमालिका को रखा जाता है, बंदिश केवल स्वर एवं ताल से गठित है एवं शब्दों का प्रयोग वर्ज्य है। यदि शब्द जोड़ दिये जावें तो बंदिश का रूप ही बदल जायेगा। इस वर्ग में सरल से लेकर कठिनतम बंदिशें (सरगम) के लिए भातखण्डे जी की 'क्रमिक पुस्तक तीन' में बिहाग की सरगम, वृन्दावनी सारंग की सरगम आदि।

शब्द प्रधान बंदिशें- इन बंदिशों में शब्दों को ज्यादा से ज्यादा प्रयोग में लाया जाता है। इस वर्ग में परम्परागत एवं स्वनिर्मित बंदिशें सुनने को मिलती है। इन इन्दिशों की विशेषता यह है कि अक्षरों की ह्रस्व एवं दीर्घ मात्राओं का विशेष ध्यान रखा गया है, जो बहुत कम प्रमाण में प्रभावित हुआ है।

उदाहरण- (राग खमाज) सखि सॉवरों गिरिधर गोपाल जकि मोर मुकुट कुंडल कान मुरली अधर मन लुभाय मुस्कान।''

(राग खंबावती) लाज शरम तोको नाहि आवे निलज डार दीनी मारी जलकी गगरिया निपट निठुर ठइोरी करत नित नित।

ताल एवं लय प्रधान बंदिशें- लगभग सभी बंदिशें किसी न किसी ताल में बंधी हुई होती है। ताल बंदिशों का अनिवार्य तत्व है। बिना ताल की सहायता के बंदिश का रूप सम्भव नहीं। इनमें वे बंदिशें महत्वपूर्ण मानी जाती है जों ताल के वनज से हटकर अपना अलग रूप बनाती एवं लय बदलते हुए सुन्दरता से सम पर आ जाती है राग देस की बंदिश में यही विशेषता है।

''धन, गरज, गरज, बरस, बरस, चमक, दमक, मोहे डरावे री।
सजनी, जिया मोरा तरसे, सूनी सेज पे, मोहे डर लागे री।

यह बंदिश त्रिताल में निबद्ध है। कुछ बंदिश सार्वजनिक ताल (त्रिताल) में बंधी हुई होती है। परन्तु उनमें सम को छिपाने का सार्थक प्रयत्न किया जाता है जो संगतकार को आश्चर्य में डालता है। अतः ऐसी बंदिशों को संगीत जगत में विशेष स्थान मिलता है। उदाहरण- राग खमाज-'' कान्हा देखो ठाडे हैं ब्रिज की ओर कैसे के जाऊँ पनिया भरन मोरी आली मोरी सरकी चुनरिया की छोर।''

पारम्परिक बंदिशें, जो राग की खास स्वर-संगतियों के लिए प्रमाण स्वरूप ह- इस वर्ग में अधिकतर परम्परागत बंदिशों का ही महत्व है यह बंदिशें परम्परा के रूप में जैसी की तैसी चली आ रही है इनमें किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं देखने को मिलता। राग की कुछ खास स्वर-संगतियों के लिए ऐसी बंदिशें प्रमाण मानी जाती है जिनके

आधार पर राग गायन का क्षेत्र बढ़ता है। इस प्रकार की बंदिशें राग देस, बिहाग, गौड मल्हार, बागेश्री आदि रागों में पाई जाती है इस प्रकार की बंदिशों से राग गायन में विविधता, वैचित्र्य एवं कल्पनाशीलता का बोध होता है।

संकर बंदिश- इस प्रकार की सभी बंदिशों में अन्य बंदिशों के अंगों का मिश्रण ही पाया जाता है बंदिशों के नाम ही इसी प्रकार चुनकर गुणीजनों ने रखे हैं जैसे चतुरंग, त्रिवट, राग माला आदि। इन बंदिशों की विशेषता है कि उपरोक्त वर्णित सभी बंदिशों के अंश इसमें समाहित किये गए है। जैसे-चतुरंग में- सरगम, शब्द, तबला, पखावज के बोल एवं तराने के बोल सभी को बखूबी संजोया गया है। त्रिवट में तबला पखावज के बोल, शब्द एवं स्वर इन तत्वों का समावेश है। रागमाला में- इस बंदिश की विशेषता यह है कि बोलचाल की भाषा का प्रयोग नहीं किया गया, वरन् रागों के नामों का प्रयोग करके उसी के अनुरूप स्वरों को गठित किया है जैसे- ''राग -बहार'' शब्द का प्रयोग राग बहार के स्वरों के साथ, 'बसंत' शब्द का प्रयोग राग बंसत के स्वरों के साथ इत्यादि। इस प्रकार इन बंदिशों का रूप मिश्रित है जिसके कारण इसे संकर कहा गया है। इस प्रकार सम्पूर्ण बंदिशों के पांच वर्ग राग गायन को संवारते हैं।

उपरोक्त बंदिशों के प्रकार यही दर्शाते हैं कि राग गायन की विशेषताओं, विभिन्नताओं एवं राग स्वरूप को स्थायित्व प्रदान करती है, इसलिए एक-एक राग में कई-2 बंदिशों का निर्माण प्राचीन समय से आधुनिक समय तक एवं आगे भी किया जाता रहेगा। अतः राग गायन एवं बंदिश एक दूसरे के पूरक हैं। इन्हें अलग-2 करके विश्लेषण तो किया जा सकता है, परन्तु एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। एक के बिना दूसरा अधूरा ही लगेगा। अतः राग गायन को बंदिशें विभिन्न प्रकार से अलंकृत कर उन्हें स्थायित्व प्रदान कर अपना महत्व सिद्ध करती है।

संदर्भ

1. द्विवेदी डॉ0 रमाकांत, संगीत स्वरित, पृ0 55
2. माथुर डॉ0 सरिता, संगीत सरिता, पृ0 17
3. सक्सेना मधुवाला, राकेश वाला, संगीत मधुवन, पृ0 42
4. द्विवेदी डॉ0 रमाकांत, संगीत स्वरित, पृ0 55-56
5. भटनागर मधुर लता, भारतीय संगीत का सौंदर्य विधान, पृ0 79
6. आचार्य वृहस्पति, नाट्यशास्त्र 28 वॉ अध्याय, पृ0 250
7. पाठक डॉ0 सुनन्दा, हिन्दुस्तानी संगीत में राग की उत्पत्ति एवं विकास, पृ0 3
8. कुमार अरविन्द, राग एक अध्ययन, पृ0 2,3
9. श्री कंठ, रस कौमुदी, पु0 13
10. व्यंकटमखी, चतुर्दन्डि प्रकाशिका, राग प्रकरण, पृ0 56
11. देवधर, रागबोध, भाग प्रथम, पृ0 16
12. परांजपे, डॉ0 शरच्चन्द्र श्रीधर परांजपे, संगीत बोध, पृ0 55
13. दास, श्याम सुन्दर (सं0) हिन्दी शब्द सागर, भाग-8, पृ0 4145
14. गुप्त, सोहन लाल, काव्यमय संगीत विज्ञान, पृ0 33

कथक नृत्य में ठुमरी का प्रयोग

अंजना झा

ठुमरी हिन्दुस्तानी संगीत की वह आधुनिक शैली है जो मुख्यतः श्रृंगार रस से ओत-प्रोत है। ठुमरी की अवतारणा वाद्यों में स्वर, लय तथा ताल के माध्यम से और गायन में इनके साथ-साथ शब्दों के माध्यम से श्रृंगारिक भावनाओं की अभिव्यक्ति होती है। ठुमरी-गायन का मुख्य विषय श्रृंगार रस प्रियतम के प्रति नारी-प्रेम रहता है। ध्रुपद-गायन में पुरूष के प्रति नारी का प्रेम बहुत ही कम, ख्याल में अधिक और ठुमरी शैली में सबसे अधिक पाया जाता है। दूसरे शब्दों में ठुमरी कोमल भावनाओं की प्रतीक है। ध्रुपद पौरूषैय शैली ता ख्याल पौरूषैय और नारी-सुलभ दोनों, किंतु ठुमरी को केवल स्त्रैण शैली कही जाय तो अनुपयुक्त नहीं होगी।

पहली मान्यता यह है कि राजा मानसिंह तोमर (1486-1510ई0) ने दैवयोग से इसका अविष्कार किया। वह ध्रुपदिए थे। कहा जाता है कि वह एक दिन भैरवी गा रहे थे। अनायास ही उनसे एक विवादी स्वर लग गया जिसका प्रभाव बड़ा मनोहर लगा। इस कारण उन्होंने भैरवी में कुछ और विवादी स्वरों का प्रयोग किया और देखा कि उन स्वरों से उनकी सुन्दरता ऐसी बढ़ गयी जिसका उन्होंने पहले अनुभव नहीं किया था। भैरवी में ऐसे स्वरों के प्रयोग से जो स्वरूप बना उसका नाम उन्होंने अपने नाम पर तोमरी रक्खा। तोमरी शब्द धीरे-धीरे बदलते ठुमरी बन गया।[1]

दूसरी मान्यता यह है कि ठुमरी का उद्भव उन भजनों और कीर्त्तनों से हुआ जिन्हें पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में वैष्णव मत के अनुयायी गाया करते थे। उस मत का प्रचार बल्लभाचार्य ने वृंदावन में तथा चैतन्य ने बंगाल में किया। इन वैष्णव संप्रदायों में मुख्यतः कृष्ण-भक्ति पर बल दिया जाता था और ऐसे पद एवं कीर्त्तन गाये जाते थे जिनमें विशेष रूप से कृष्ण की रास-लीला का वर्णन रहता था। ये पद कृष्ण भक्त ऐसी माधुर्य भावना से गाते थे जो उस समय के पूर्व कभी नहीं देखी गयी थी। ऐसा कहा जाता है कि ठुमरी का जन्म इन्हीं भजनों एवं कीर्त्तनों के द्वारा हुआ, विशेषतया जब ये वाराणसी में गाये जाने लगे।[2]

तीसरी मान्यता के अनुसार ठुमरी का उद्भव उन लोक गीतों से हुआ जो नृत्य के साथ-साथ गाये जाते थे। यह कहा जाता है कि 'ठुमरी' 'ठुमक' शब्द से निकला है जिसका अर्थ सुंदर पद क्षेप होता है। इससे ठुमरी और नृत्य का धनिष्ठ संबंध सिद्ध होता है। यह संबंध नृत्य-गान में अर्थात् उन गीतों में दिखाई पड़ता है जब कि नर्तक का शरीर एवं पाव की गति का लय के साथ तादात्म होता है। इन गीतों का उद्येश्य यह था कि इनसे नृत्य का भावनात्मक पक्ष स्पष्ट और प्रभावशाली हो जाये। यह आवश्यक नहीं था कि स्वयं नर्तक गीत गाये। उसका कोई साथी भी गीत गा सकता था। ये बहुत ही साधारण गीत थे और साधारण रीति से गाये जाते थे। जब वे इतने ठीक ढ़ंग से गाये जाने लगे कि उनमें शास्त्रीय संगीत की झलक प्रकट होने लगी तो वे ठुमरी कहलाने लगे।[3]

चौथी मान्यता के अनुसार ठुमरी का उद्भव छोटे ख्याल से संबंद्ध है। इसका जन्म 19वीं शताब्दी में आरंभ हुआ और इसके जन्मदाता गुलाम नबी शोरी थे जो शोरी मिया के नाम से विख्यात थे। वे

शोध छात्रा, विश्वविद्यालय संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0 ना0 मि0 वि0 वि, दरभंगा

गुलाम रसूल के पुत्र थे। गुलाम रसूल अवध के नबाब आसफुद्दौला के दरबार में प्रसिद्ध गायक थे। शोरी मियाँ को उन्होंने ख्याल शैली में शिक्षा दी, परंतु ख्याल, विशेषता द्रुत ख्याल, उस समय भी आजकल की तरह साधारण जटिल और उलझी हुई तानों के साथ-साथ गाया जाता था, जिसमें बाजीगरी तो विशेष रूप से आ जाती थी, परंतु शब्दों के भाव पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता था। दूसरे शब्दों में इसमें कला-पक्ष पर ही विशेष ध्यान दिया जाता था और भाव-पक्ष पर बिल्कुल ही नहीं। शोरी मियाँ इससे सहमत नहीं थे। यह भी कहा जाता है कि उनका कंठ ख्याल को पूर्ण बल से गाने के लिए उपयुक्त नहीं था। उनका स्वर मधुर एवं कोमल था और अपेक्षाकृत हल्की शैली के योग्य था। उन्होंने द्रुत ख्याल की जटिल और भारी तानों तथा स्वर के नटपन को दूर करके और शब्दों पर अधिक बल देकर उस शैली को जन्म दिया जिसकी वे तलाश में थे। इसी शैली का नाम ठुमरी पड़ा।[4]

उपर्युक्त विचार-धाराओं में कौन-सी विचार धारा कहाँ तक ठुमरी के उद्‌भव के संबंध में ठीक है। इसका पता तभी चल सकता जब इनका आलोचनात्मक परीक्षण किया जाय।

पहली मान्यता विचाार-धारा कल्पित ही मालूम पड़ती है। यह इस बात पर आधारित है कि ठुमरी में विवादी स्वरों का प्रयोग मान्य है और सर्वप्रथम इसका प्रयोग राजा मानसिंह तोमर ने किया। परंतु इस संबंध में पहले तो यह बात भुला दी जाती है कि विवादी स्वरों का प्रयोग तीनताल की ठुमरी में साधारणतया नहीं किया जाता था। दूसरी बात यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि राजा मानसिंह का जमाना केवल ध्रुपद का जमाना था और ध्रुपद की एक नियमित एवं नियंत्रित शैली थी। उस समय कोई गायक ध्रुपद में विवादी स्वर लगाने का साहस नहीं कर सकता था। यदि भूल अथवा संयोग से उसका प्रयोग हो भी गया हो तो अपनी गलती पर पश्चाताप करता। फिर राजा मानसिंह जैसे व्यक्ति से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि ऐसे वर्जित स्वरों का प्रयोग करते, क्योंकि वे एक विख्यात कलांवत और संगीत संरक्षक थे। यदि कल्पना भी कर ली जाय कि उन्होंने एक-दो विवादी स्वरों का प्रयोग भैरवी में करके तोमरी को जन्म दिया तो वह 'तोमरी' थोड़े ही दिनों तक जीवित रही होगी। राजा की मृत्यु के पश्चात इसके बारे में कभी कुछ नहीं सुना गया। ठुमरी वास्तव में उनकी मृत्यु के चार शताब्दी बाद प्रचलित हुई क्योंकि शब्द 'तोमरी' और 'ठुमरी' संयोगवश उच्चारण में कुछ समान अवश्य है, किंतु इससे यह परिणाम नहीं निकाला जा सकता है कि 'तोमरी' से 'ठुमरी' की उत्पत्ति हुई।

दूसरी विचार-धारा भी ठीक नहीं लगती। यह ठुमरी की उस आधारशिला पर निर्भर है जो कि इस शैली का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। वैष्णव मत में पदों और कीर्त्तनों के गायन में भावात्मकता बहुत होती है। यह भावुकता भक्त के हृदय में असीम आनंदमय उन्माद उत्पन्न करती है। इस भावनात्मकता से यह परिणाम निकाला जा सकता है कि भजन और कीर्त्तन ठुमरी के मूल रूप थे, परंतु यह विचार युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। भजन और कीर्त्तन की शैली ठुमरी शैली से भिन्न है और इन दोनों की पद रचना भी एक दूसरे से पृथक होती है। भजन और कीर्त्तन की भावमयता ठुमरी से भिन्न होती है। निःसंदेह ठुमरी गायन भजनों को ठुमरी-गायकी में गा सकते है और गाते भी हैं। कुछ भजनों की स्थाई और अंतरा ठुमरी की स्थायी और अंतरा में प्रयुक्त हो सकते हैं। बहुत-सी ठुमरियों में रास-लीला का वर्णन भी मिलता है, परंतु अधिक संभव यही है कि भजन ठुमरी शैली में उस समय गाये जाने लगी अथवा ठुमरी शैली में प्रयुक्त होने लगे और रास-लीला संबंधी ठुमरियाँ रची गयी जब ठुमरी शैली भली प्रकार विकसित हो चुकी थी, उससे पहले नहीं'। यह निश्चित है कि ठुमरी का प्रचार 15वीं शताब्दी तक नहीं हुआ था।

इसके अतिरिक्त भावात्मकता के आधार पर वैष्णवभजन और ठुमरी समान है। यदि दोनों में संबंध स्थापित करना है जो दोनों में समान रूप से पायी जाती है तो इस बात का ध्यान रखना चाहिये

कि भावात्मकता केवल 15वीं शताब्दी के वैष्णव भजनों के साथ ही नहीं, बल्कि बहुत पहले से अन्य शैलियों में भी दृष्टिगोचर होती हैं।

वास्तविकता तो यह है कि भावनात्मकता का जन्म उसी समय हुआ होगा जब संगीत का संसार में आविर्भाव हुआ। भावात्मकता तथा कलात्मकता प्रत्येक ललित कला के दो मुख्य अंग है। उनका विकास कला के साथ ही होता है। भावात्मकता के बाद ही कलात्मकता का जन्म हुआ होगा।

ठुमरी के उद्भव संबंधी तीसरी विचार-धारा उपर्युक्त दोनों विचार-धाराओं से कुछ अधिक ठीक प्रतीत होती है। नृत्य और ठुमरी एक दूसरे से संबंधित रहे हैं। ठुमरी शब्द भी उत्पत्ति ठुमक 'ठुम्मक' शब्द से होना निराधार नहीं है, परंतु इन दोनों में संबंध कब स्थापित हुआ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। संभव हे कि यह संबंध आरंभ से ही रहा हो।

नृत्यं और गीत का संबंध शताब्दियों से चला आ रहा है। परंतु अतीत काल में ठुमरियाँ नृत्य-गीत नहीं थी और उनमें से बहुत सी आजकल ही है। वे विशेषतः लोकगीत थे जो विशेष प्रकार के सरल और रसात्मक गीत थे, जिनमें साधारण लोगों की भावनाएँ व्यंजित होती थी। उनका प्रभाव जन-साधारण पर विशेष रूप से पड़ता था। निःसंदेह जब ये गीत नृत्य के साथ गाये जाते थे तो बहुत ही प्रभावशाली होते थे। नृत्य के साथ गाने से अधिक प्रभावोत्पादक हो जाता था। वे जब कुछ इस प्रकार गाये जाने लगे कि उनसे नृत्य की गतियों के प्रभाव उत्पन्न होने लगे तब वे ठुमरी के बहुत निकट हो गये। इसका अर्थ यह है कि एक प्रकार से ठुमरी के उद्भव की भूमिका तैयार हो गई। बाद में ऐसी ठुमरियाँ रची गयी जो पूर्णतया नृत्य की गतियों के साथ-साथ गायी जा सके जिनसे उनके भावात्मक पक्ष का स्पष्टीकरण हो सके। सभी प्रकार का संगीत भावनाओं पर आश्रित है। बहुत से लोगों की धारणा है कि शास्त्रीय संगीत भी लोक गीत से उत्पन्न हुआ है। अतः यह असंभव नहीं है कि कुछ लोकगीत ऐसे रहे हो जो ठुमरी में सुगमता से प्रयुक्त हो गये हों। इस विचार-धारा से इससे अधिक कुछ सिद्ध नहीं होता।

ठुमरी की उत्पत्ति के संबंध में चौथी मान्यता सर्वोत्कृष्ट लगती है। यह ठुमरी की पूर्णतया व्याख्या करती है। इससे ठीक-ठीक मालूम होता है कि ठुमरी के जन्म का कारण क्या था? ठुमरी ने किस रूप में जन्म लिया और किस वातावरण में पली-बढ़ी?

इस अंतिम विचार धारा के अनुसार ख्याल शैली में शुष्कता के कारण ठुमरी का जन्म हुआ। ख्याल गायकी दुरूह तानों से बोझिल हो गयी थी और उसमें मुद्रा दोष युक्त हाव-भाव भी बहुत आ गये थे। इसके अतिरिक्त इसमें गीत के शब्दों पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि ख्याल गायकी की सुन्दता समाप्त हो गई और यह केवल एक प्रकार का मस्तिष्कीय व्यायाम ही रह गई। अतः यह स्वाभाविक था कि कोई इसके विरोध में आवाज उठाता। इस विचार-परंपरा के अनुसार शोरी मियाँ ही वह व्यक्ति थे जिन्होंने सर्वप्रथम विरोध किया। उन्होंने कदाचित इस कारण भी विरोध किया हो कि उनका कंठ ख्याल गाने के लिए उपयुक्त न था। वास्तव में विरोध का मूल कारण के संबंध में निश्चय के साथ कुछ नहीं कहा जा सकता है। यह भी संभव है कि किसी अन्य ने इसका विरोध प्रारंभ किया हो तथा शोरी मियाँ ने उनका समर्थन किया हो। समुचित अनुसंधान से ही वास्तविक कारण का स्पष्टीकरण हो सकता है। ख्याल गायकी के विरोध के प्रारंभ का मूल कारण जो भी हो, यहाँ इसका स्पष्टीकरण मुख्य विषय नहीं है। यहाँ विचार संगत बात इतनी ही है कि गाने में जो तकनीक को ही महत्व दिया जाने लगा था उसका विरोध प्रारंभ हुआ। यह तो सर्व विदित है कि शोरी मियाँ टप्पा ने जन्मदाता तथा उच्चकोटि के गायक थे और उन्होंने बहुत से टप्पों की रचना की थी।

जहाँ तक ठुमरी के रूप का प्रश्न है इस विचार धारा के अनुसार ठुमरी ने जब जन्म लिया तो उसका रूप द्रुत-ख्याल की अत्याधिक जटिल तानें तथा उसकी बोझिल कलाकारिता हटा दी गयी तथा

छोटी-छोटी मुरकियाँ तथा तानें शामिल कर दी गयी। गीत के शब्दों पर भी ध्यान दिया गया और पूरा गीत साधारण त्रिताल में द्रुत-ख्याल के समान गाया जाने लगा।

ऊपर वर्णित तथ्य इस विषय के विशेषज्ञों के विचार पर आधारित है। उनके मत के अनुसार ठुमरी की प्रकृति बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक इसी प्रकार थी। यह त्रिताल ठुमरी थी जिसकी गायकी कई रागों में होती थी और द्रुत ख्याल के ढ़ंग पर गायी जाती थी। दूसरे शब्दों में प्रारंभ में यह द्रुत ख्याल ही थी जिसमें उस ख्याल की बोझिल कलाकारिता तथा तानबाजी दूर कर दी गयी थी। आजकल भी त्रिताल में ठुमरी देश के सभी भागों में इसी ढ़ंग की पायी जाती है। जत-ठेका की ठुमरी जिसमें विशेषतया बोल बनाव है, उस समय निकली ही नहीं थी। इसका उद्‌भव बीसवीं शताब्दी में बहुत आगे चलकर हुआ।

अब अगर वातावरण की दृष्टि से देखा जाय तो जिसमें ठुमरी ने जन्म लिया, इस विचार धारा के अनुसार ठुमरी का जन्म लगभग 19वीं शताब्दी के प्रारंभ में अवध के नबाबों के दरबार में हुआ। यह ठुमरी का स्वर्णिम काल था। उन्नीसवीं शताब्दी में जब अवध के नबाब मुगल राज्य से स्वतंत्र हुए तब उन्होंने अपने राज्य में बहुत सुव्यवस्थित शासन की स्थापना की। परंतु अधिकार शक्ति आ जाने के कारण उस शताब्दी के अंत तक उनमें बिलासिता बढ़ गयी। विशेषतया यह उस समय हुआ जब अंग्रेजों से उनका समझौता हो गया कि वे बाहरी आक्रमणों से तथा उनके राज्य में आंतरिक क्रांति से उनकी रक्षा करेंगे। इससे उनको अपने राज्य में मनमाने ढ़ंग से शासन करने की छूट मिल गयी। वे विलासिता का जीवन बीताने लगे। मदिरा और स्त्री, नृत्य, शेर, संगीत, शतरंग और पांसे इन्हीं सब में ये अपना साथ व्यतीत करने लगे। ख्याल शैली से उन्हें पूरी मानसिक संतुष्टि नहीं मिलती थी। उस समय ख्याल केवल मस्तिष्क आहार रह गाया था और हृदय पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। इसके अतिरिक्त ख्याल नृत्य के साथ नहीं गया जा सकता था। इससे नृत्य की गति पूर्ण रूप से समझ में नहीं आती थी और नृत्य प्रभावोत्पादक नहीं हो पाता था। इस नबाबों को तो कोई ऐसी गायकी चाहिए थी जो हल्की हो, मन को आकर्षित कर सके और नृत्य के साथ गायी जा सके। ठुमरी ही ऐसी सर्वोत्तम शैली थी जो इन सब आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ थी। यह ललित भावों को प्रकट करने और नृत्य के साथ गाये जाने में समर्थ भी इन्हीं कारणों से ठुमरी शैली का जन्म हुआ।

ठुमरी उत्पत्ति होते ही तीव्र गति से फूलने फलने लगी। 19वीं शताब्दी के मध्य में नबाब वाजिद अली शाह के शासन काल (1848-1856ई0) में यह युवावस्था पर पहुँच गयी। उन्होंने इसको अधिक प्यार किया। वे अवध के नबाबों में सबसे अधिक कला प्रेमी थे और स्वयं भी एक कुशल नृत्यकार, गीत-रचयिता एवं गायक थे। वे ठुमरी के बहुत बड़े संरक्षक थे। ठुमरी की उन्नति में इनसे बहुत ही सहायता मिली और इसको अपने दरबार में इन्होंने विशेष मान्यता प्रदान की। ठुमरी से उनका विशेष अनुराग था।

यहाँ तक कि जब वे गददी से उतार दिये गये और अपने राज्य से बाहर कलकत्ता भेजे जा रहे थे तो उनके साथ उनके दरबारी गायक उन्हीं के द्वारा रचित उनकी प्रिय ठुमरी ''बाबुल मोरा' नैहर घुटो जाय'' गाते जा रहे थे।

इस प्रकार ठुमरी अवध के नबाबी दरबारों में एक प्रिय शैली बनी और उसे विशेष मान्यता प्राप्त हुई। इस संरक्षण के कारण दरबारी गायक इसको अपनाने लगे। विशेषतः नर्तकियों ने इसे अपनाया क्योंकि यह उनके व्यवसाय के अनुकूल थी। इससे उनकी माँग बढ़ने लगी। ठुमरी जनानीं शैली थी और नर्तकियाँ स्त्री होने के नाते उसके भावों को अच्छी तरह से व्यक्त कर सकती थीं, परंतु उस समय इस वर्ग को छोड़कर इसको अन्यंत्र मान्यता न मिली। उस्तादों (अर्थात् ख्याल के गायकों) ने इसका तनिक भी स्वागत नहीं किया। उनकी दृष्टि में यह निम्न कोटि की थी। इसे 'मर्यादाहीन गायन शैली' 'बाईजी का गाना', 'छोटी चीज' 'निरी भावनात्मक वस्तु',

'कामवासनात्मकगान' इत्यादि नामों से पुकारने लगे। इसे गाना वे अपनी प्रतिष्ठा के विरूद्ध समझते थे। उनकी वजह से कुछ 'संगीत-प्रेमी भी इसे निम्नकोटि का समझने लगे।

ठुमरी के प्रति यह व्यवहार लगभग 19वीं शताब्दी के अंत तक चलता रहा और इसका गान पेशेवर गाने तथा नृत्य करने वाली स्त्रियों तक ही सीमित था, फिर भी ठुमरी उन स्थानों में गायी जाने लगी जहाँ लखनऊ का सांस्कृतिक प्रभाव पहुँच चुका था, जैसे वाराणसी, इलाहाबाद, पटना, गया एवं कलकत्ता। कलकत्ता में तो स्वयं वाजिद अली शाह ने लखनऊ से जाने के बाद उसको प्रिय बना दिया।

बीसवीं शताब्दी के आरंभ में धीरे-धीरे उस्ताद एवं संगीतज्ञ भी इसको अच्छी दृष्टि से देखने लगे और जैसे-जैसे समय बीतता गया वे इसे मान्यता देने लगे। वर्तमान काल में तो इसका विरोध लगभग समाप्त है। उस्ताद इसके गाने में किसी प्रकार की अभिरूचि नहीं दिखाते और जनता भी इसके गुणों को समझने लगी है। कभी-कभी कुछ संगीत सभाओं में इसकी फरमाइश भी होती है।

स्वर्गीय अब्दुल करीम खाँ एवं उस्ताद फैयाज खाँ जैसे विख्यात गायकों ने इसे अपनाया। उस समय संगीत सम्मेलन देश भर में होने लगे थे और वे अपने कार्यक्रम में ठुमरी को स्थान देने लगे। अतः आकाशवाणी भी इसे उपशास्त्रीय कार्यक्रम के अंतर्गत प्रसारित करने लगा। इस सब कारणों से ठुमरी देश के प्रत्येक भाग में लोकप्रिय हो गयी। अब बहुत थोड़े गायक है जो इसे गाने से हिचकते हैं। परंतु अब भी कुछ गायक इसे ख्याल की भाँति पूर्ण शैली मानकर गाते हैं, अधिकांशतः इसे ख्याल का एक उपकरण या इसे एक प्रकार का पिछलग्गू समझते हैं, अर्थात् वे इसको ख्याल के बाद गाते हैं। दूसरी ओर संगीतज्ञों का ऐसा वर्ग है जो ठुमरी को बड़े आदर की दृष्टि से देखता है और इसे 'ललित शास्त्रीय संगीत' की संज्ञा देता है।

"ख्याल गायनशैली एवं तबला संगति का समन्वयात्मक स्वरूप"

नीतू कुमारी

ख्याल उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत की प्रचलित विधाओं में एक महत्वपूर्ण और अत्यधिक लोकप्रिय विधा है। भारतीय संगीत जगत के ऊपर इसका एक छत्र राज्य है और जहां कही भी शास्त्रीय गायन की चर्चा चलती है वहां ख्याल विधा का स्वरूप ही मस्तिष्क में उभर जाता है। संगीत की विविध गायन शैलियों में से ख्याल गायन को आधुनिक समय में सर्वाधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है।

ख्याल गायन शैली में अन्य शैलियों की तुलना में भाव निर्माण, भाव प्रदर्शन, राग विशिष्टता तथा गले की अधिकाधिक हरकतें प्रदर्शित करने का अवसर प्राप्त होता है। ख्याल गायन शैली का सम्पूर्ण आकर्षण- रंजकता, राग सिद्धि, उसकी रसाभिव्यक्ति व गायन की सफलता उसकी (गायन) कल्पनाशक्ति, आत्मशक्ति पर ही अवलंबित रहती है। अतः निर्विरोध कहा जा सकता है कि ख्याल शैली में विस्तृत क्षेत्र होने के कारण यदि प्रतिभासम्पन्न व कल्पनाशील गायकों द्वारा शास्त्रों में वर्णित गुण दोषों राग निर्देशों व नियमों का पालन करते हुये 'ख्याल गायन' प्रस्तुत किए जाए तो उसमें सौन्दर्यशास्त्र के सम्पूर्ण तत्व पूर्णतया दृष्टिगोचर हो सकते हैं। ख्याल गायन से पूर्व ध्रुपद गायन की महत्ता थी। ध्रुपद के बाद ख्याल घरानों में समाहित हो गया।

ख्याल गायन शैली में निम्नलिखित घराने हैं जो अग्रलिखित हैं:-

1. दिल्ली घराना
2. आगरा घराना
3. किराना घराना
4. पटियाला घराना
5. ग्वालियर घराना

- **दिल्ली घराने** में मध्यलय के स्वरों का आपसी लड़गुथाव व जोड़ तोड़ का काम इसकी प्रमुख विशेषता है।
- **आगरा घराने** में लयकारी के साथ ही बोल अंग विस्तार तथा बंदिश के बोल के साथ पलटों की बढ़न्त कराना व नोम्तोम् आलाप करने का अनोखा ढंग है।
- **किराना घराने** में स्वरों का सुरीलापन और चैनदारी के साथ गाया जाता है तथा उसकी गायकी में लगाव लोच व मीड़ का काम अधिक देखने को मिलता है।
- **पटियाला घराने** में स्वरों की कोमलता के साथ-साथ व विलम्बित के तोड़े, मध्य व द्रुत से अलग ढांचे के होते हैं और तानों की बंदिश तान के अनुसार अलग-अलग होती है।
- **ग्वालियर घराने** में अष्टांग गायकी का प्रयोग तथा आरम्भिक स्वर आ स्वर में खुला व बुलन्द लगाया जाता है।

ख्याल गायनशैली को और अधिक प्रभावशाली श्रृंगारिक व सौन्दर्यात्मक बनाने के लिए उसे तबला वाद्य की संगति अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

ख्याल गायन एवम् तबला संगतः- ख्याल गायन के दो प्रकार (1) विलम्बित (2) द्रुत लय। प्रधान ख्याल वर्तमान में प्रचलित है। मध्य लय के ख्याल भी यत्र तत्र दृष्टव्य होते हैं।

विलम्बित ख्याल का निर्वहन मुख्यतः तीनताल, तिलवाड़ा, झूमरा, आड़ाचार ताल, झपताल, या रूपक

शोध छात्रा संगीत विभाग दयालबाग संगीत संस्थान, आगरा

इत्यादि तालों में किया जाता है। इस विधा के साथ संगति करते समय वादक द्वारा ठेके के अन्तर्गत उपविभागों का प्रयोग करते हुए ठेके का भराव छोटे-छोटे मोहरें या तिहाईयों का प्रयोग किया जाता है। उदाहरणार्थः-

विलम्बित ख्याल की स्थाई-
राग बिहाग (बड़ा ख्याल)

स्थाई

सा--- नी-सा- सा-ग- म-प-
पाऽऽऽ वेऽऽऽ तुऽमऽ बिऽनऽ
x 0
प ध म प ग मे प नी - - ध प
मो ऽ रा ऽ जि ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ या ऽ
2
ध म प ग ग म प प ध म प ग सा मगम प
मो ऽ रे ऽ पि ऽ य ऽ र ऽ ऽ ऽ वा ऽ ऽ ऽ ऽ
0 3
म ग रे सा म म ग रे सा रे सा पा
ल ऽ ना ऽ ऽ हीं ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ
4 x

प्रस्तुत स्थाई में विलम्बित एकताल का प्रयोग हुआ है जिसमें प्रत्येक मात्रा में चार उपमात्राएँ सम्मिलित हैं जैसे-

धिं--- धिं ----धा -गे- तिरकिट-
x 0
तू---ना --- क ---ता---
2 0
धा- गे-ति र कि ट धी--- ना--- धिं
3 4

यहाँ यह दृष्टव्य है कि एक मात्रा के चार भाग कर दिए गए हैं तथा इन मात्राओं तथा उपमात्राओं से संयुक्त होकर विलम्बित ख्याल की आधारशिला रची गई है किन्तु कोई भी तबला वादक साधारण मात्राओं का ठेका नहीं बजाता अपितु प्रत्येक मात्रा को अपनी सूझबूझ एवं कला कौशल से सौन्दर्य प्रदान करता है तथा साथ ही साथ राग के भावानुसार तथा गायक की रूचि के अनुसार वादन करता है। इस प्रकार की कला पूर्ण संगति तबला वादन के नये आयाम खोलती है। वस्तुतः तबला संगत अपने आप में अत्यन्त समझदारी एवं कौशल का कार्य है। इसके आधार पर ख्याल गायन जहां एक ओर प्रस्तुति की ऊँचाईयों को छूता है वहीं दूसरी ओर विवेक पूर्ण संगत न होने के कारण कई बार प्रस्तुति में असफल भी हो जाता है।

साधारणतया जिस प्रकार मात्राओं का भराव भिन्न भिन्न बोलों द्वारा किया जाता है, उनके कतिपय उदाहरण इस प्रकार है-

विभिन्न बोलों सहित ख्याल गायन के साथ प्रयुक्त एकताल (प्रकार 1)-

धिऽ धिं धिंधिं धि ऽ धिं धिंधि
x
धाऽ धा धागें तिरकि तिरकिट
0
तूऽ तिं तिंतिं कना ना ना नाना
2
कतित् तत् तित् ता ता ता ताके
0
धा ऽ धागे ति र कि तिरकिट
3
धी धिं धिं धिधिं ना क्ऽान तिरकिट
तकता तिरकिट धातिरकिट धातिरकिट धिं
4

एकताल(प्रकार 2):-

धिंतिरकिटधिं तिरकिटधिं तिरकिटधिं
धिंतिरकिटधिं तिरकिटधिं तिरकिटधिं
x
धाऽगे गेगे तिरकि तिरकिट
0
तूकतधाऽ कतधाऽ कतधाऽ
नाधाधातूना धाऽधाधातूनाधाऽ धाधातूना
2
कत-कतधाऽ कतधाऽ कतधाऽ
तातिरकिटधा तिरकिटधा तिरकिटधा
0
धा ऽ गे गेग ति र किट तिर तिर तिरकिट
3

धीधाधातूना धाऽधाधा तूनाधाऽ धाधातूनाना तिरकिटतकतक तिरकिटधाती धाऽधाती धाऽधाती
4 धिं
X

मध्य लय में गायन की बंदिश प्रायः रूपक, झपताल, एकताल, आड़ चारताल व तीन ताल इत्यादि तालों में बंधी होती है। मध्य लय में तबला संगति करते समय सर्वप्रथम संगतिकार को यह देखना पड़ता है कि सम किस शब्द पर आ रहा है। संगतिकार उसके पश्चात 'सम' से कुछ मात्रा पहले मोहरा या टुकड़ा बजाकर सम पर आता है। मध्य लय में भी तबला संगतिकार को बजाने का अवसर कम होता है।

द्रुतलय में गाए जाने वाले ख्याल प्रायः त्रिताल, एकताल, झपताल, रूपकताल, आड़ाचौताल इत्यादि तालों में गाए जाते हैं। इसमें लय की गति अधिक होने से तबला वादक ठेके का भराव, तिहाई, मोहरे इत्यादि के अतिरिक्त गान (साहित्य) के छन्द और गति के अनुसार यथावसर रेले, कायदे आदि संरचनाओं का उचित प्रयोग करते हुए गायन की सौन्दर्य शुद्धि करता है। वस्तुतः जिस प्रकार मात्राओं के भराव के छोटे-छोटे बोल, तिहाई, मोहरा, टुकड़ा, मुखड़ा आदि के द्वारा ठेके को सुन्दर रचना प्रदान की जाती है। उनके कुछ कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं।

द्रुत ख्याल में प्रयुक्त विविध बोल एवं लघु तिहाईयां:-

ख्याल में प्रयुक्त तीन ताल के ठेके का भराव व तिहाईयां:-

(1)धा धिं तिरकिट धा धा धि धिं तिरकिट
X 2
धा तिं तिरकिट ता तिरकिट धिं धिं धा धा
2 3 X

(2) धा धिं धिंधिं धा धा धा धिं धिंधिं धा धा
X 2
तिं तिरकिट ता ताता धिं धिंधिं धा धा
0 3 X

(3) धा त्रक धिं धा धा त्रक धिं धा धा त्रक
X 2
तिं ता ता त्राक धिं धा धा
0 X

(4) धा किट तक धिं धा किट तक धिंता
X 2
किट तक धिं धा किट तक धिंधा
0 3 X

(5) धा गे नक धिं धा धिं धिं धा धा तिं तिं
X 2
ता ता के नक धिं धा
0 3 X

चार मात्राओं की तिहाईया:-

(1) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
X 2
धा तिं तिं ता तिट धाऽ न धा ऽ न धा
3 X

(2) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
X 2
धा तिं तिं ता तिट धाति टधा तिट धा
0 3 X

(3) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
X 2
धा तिं तिं ता धाति धागे धिन गिन धा
0 3 X

(4) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
X 2
धा तिं तिं ता कत धाऽ नधा ऽन धा
0 3 X

आठ मात्राओं की तिहाई:-

(1) धाधिं धिं धा धा धिं धिं धा धाधा तूना धाऽ धाधा
X 2 0
तूना धाऽ धाधा तूना धा
3 X

(2) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
X 2
धिन गिन धाऽ धिन गिन धाऽ धिन गिन धा
0 3 X

(3) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
X 2
तिरकिट तकता तिरकिट धाती
0

धाऽ धाती धाऽ धाती धा
x
3
(4) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
x 2
तिरकिट तकतक तिरकिट
0
धाती धाऽ धाती धाऽ धाती धा
3 x

वैसे तो तबला वादन में दिल्ली, अजराड़ा, फर्रूखाबाद, पंजाब, लखनऊ, बनारस आदि घराने आज पूर्णतया प्रतिष्ठित है, किंतु किस गायन विधा के साथ किस घराने में संगतिकार संगति करे यह निश्चित नहीं होता है। कार्यक्रमों तथा प्रदर्शनी में किसी भी गायक या वादक कलाकार के साथ कोई भी घराने का तबला संगतकार संगति कर सकते हैं और करते भी है इसलिए तबला वादक किसी घराने से सबन्धित हो इसका गायन विधा के साथ या किसी घराने विशेष के साथ या किसी घराने विशेष के साथ कोई प्रतिबन्ध नहीं है। यह तबला वादक की सूझ-बूझ पर निर्भर करता है कि किसी गायक या वादक के साथ किस तरह का वादन करे कि गायक अथवा वादक को सहयोग मिले उसकी कल्पना शक्ति उर्वरक हो तथा अपेक्षित रस की अवतारणा हो सके। यद्यपि ख्याल गायन आदि शैलियों में गायक को स्वतन्त्रता है लेकिन ऐसा नहीं कि संगति के कोई सिद्धान्त अथवा नियम नहीं हैं। उत्तर भारतीय संगीत में विभिन्न घरानों में संबंधित कलाकार तबले पर जो भी वादन करते हैं भले ही वह स्वतन्त्र हो या संगति वह ताल के अन्तर्गत होता है। निश्चित मात्राओं का आवर्तन जिसमें विभाग तथा खाली, भरी निर्धारित रूप से बजाया जाए वह उस ताल का मूल ढांचा या ठेका कहलाता है।

ख्याल के अंतिम चरण में प्रयुक्त कतिपय चक्रदार तिहाईयां:-

(1) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
x 2
किडनगतिरकिट तकताऽतिरकिट धाऽऽऽ
किडनमतिरकिट
0
तकताऽतिरकिट धाऽऽऽ किडनगतिरकिट
तकताऽतिरकिटधा
3 x
(2) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
x 2
धातिरकिटतक तिरकिटतकता
धाऽऽऽ धातिरकिटतक
0
तिरकिटतकता धाऽऽऽ धातिरकिटतक
तिरकिटतकता धा
3 x
(3) धा धिं धिं धा धा धिं धिं धा
x 2
धातिरकिटतक तिरकिटतकता धाऽऽऽ
धातिरकिटतक
0
तातिरकिटतक धाऽऽऽ धातिरकिटतक
तातिरकिटतक धा
3 x

प्रस्तुतशोध पत्र में ख्याल में प्रयोग किये जाने वाले तबले के बोलों एवं तिहाईयों को उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया गया है जिसमें ठेके के भराव के लिए छोटे-छोटे बोल, छोटी-छोटी तिहाईयां एवं चक्रदार तिहाईयों को सम्मुख लाया गया है।

तबला संगति में प्रयुक्त होने वाले पार्श्व लिखित कतिपय उदाहरणों के अतिरिक्त भी अनेक संभावनाएं निरन्तर प्रयुक्त होती रहती हैं जिनमें कलाकार अपनी कला-कौशल, सूझबूझ, कल्पनाशीलता अनेकों रूपों में प्रदर्शित करता है क्योंकि यह कला एक शाश्वत् एवं सृजनशील एवं नवीन आयामों की वृद्धि में निरन्तर अपना योगदान देती रहती है।

"हिन्दुस्तानीशास्त्रीय संगीत में निर्वाहित होने वाली विभिन्न गायन विधाओं के वर्तमान स्वरूप"

सोनल कौशिक

संगीत प्रकृति की एक सुन्दर रचना है। उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत को हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत के नाम से भी जाना जाता है।

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में विभिन्न गायन विधाऐं परिलक्षित होती हैं और इन सभी गायन विधाओं को हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत जगत में विशिष्ट एवं सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। इन विधाओं में जहाँ एक ओर इनकी अपनी विशेषताएं परिलक्षित होती हैं वहीं दूसरी ओर परस्पर भिन्नताएं भी दृष्टव्य होती हैं जैसे-

ध्रुपद गायनशैली को हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में अति विशिष्ट मान्यता प्राप्त है तथा यह एक विभिन्न प्राचीन परम्परा है। इस गायन शैली में गम्भीरता, स्थिरता, मींड एवं कण का यथोचित प्रयोग किया जाता है तथा रचना के माध्यम से राग की स्थापना भी की जाती है और विशेष स्वर संगतियों का बार-बार प्रयोग किया जाता है। यह रागबद्ध एवं शास्त्र युक्त गायकी है। इसके अन्तर्गत आलाप तानों का प्रयोग वर्जित होता है तथा इस गायकी में स्वरों की शुद्धता का प्राबल्य एवं खुले व जोरदार बोलों की तालों का प्रयोग किया जाता है जैसे- सूलताल, तीव्रा आदि ये विशेषताएं इस ध्रुपद गायकी के अन्तर्गत दृष्टव्य होती हैं।

इसी प्रकार धमार गायन शैली भी एक प्राचीन गायन परम्परा है। इसके अन्तर्गत भक्ति गायन का बाहुल्य होता है। धमार गायन शैली में गम्भीरता का अल्प प्रयोग किया जाता है तथा इसमें शब्द युक्त स्वरों का प्रयोग एवं बोल बाँट का प्रदर्शन किया जाता है। इसकी सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि धमार गायन शैली के अन्तर्गत धमार ताल का प्रयोग ही किया जाता है।

ख्याल गायन शैली शास्त्रीय संगीत प्रधान गायन विधा है इस गायन शैली के अन्तर्गत विशेष स्वर संगतियों का अवकाश रहित एवं सावकाश प्रयोग किया जाता है तथा आलाप, तान, कण, खटका, मुर्की, गमक, मींड इत्यादि का प्रयोग यथोचित स्थान पर किया जाता है। इसके अन्तर्गत स्वर सौन्दर्य को विशेष महत्व दिया जाता है और राग के वादी, संवादी आदि स्वरों का विशेष प्रयोग इस गायन शैली के अन्तर्गत दृष्टव्य होता है। ख्याल गायन शैली में श्रृंगार रस आदि की प्रधानता होती है तथा इसके अन्तर्गत विविध तालों का प्रयोग किया जाता है जैसे- एकताल, त्रिताल, झपताल आदि। ये सभी विशेषताएँ ख्याल गायन शैली के अन्तर्गत दृष्टव्य होती हैं।

इसी प्रकार तराना गायन शैली निरर्थक शब्दों से युक्त रचना होती है। यह गायन शैली हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की एक लोकप्रिय विद्या है इसके स्थायी व अन्तरा दो भाग होते हैं। यह गायकी द्रुतलय प्रधान होती है तथा इसमें त्रिताल व एकताल का प्रयोग किया जाता है।

इसी प्रकार टप्पा गायन शैली शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय संगीत प्रधान होती है। यह गायन शैली छोटी-छोटी तानों द्वारा निर्मित होती है। इसका प्रयोग स्थायी व अन्तरा दो भागों में किया जाता है। इस गायन शैली के अन्तर्गत खटका, मुर्की, कण आदि का प्रयोग अधिकता से किया जाता है। यह गायकी श्रृंगार रस प्रधान तथा चंचल व चपल प्रवृति की होती

शोध छात्रा संगीत विभाग दयालबाग शिक्षण संस्थान, आगरा

है। इन्हा गायन शैली के मध्य में कहीं-कहीं दानेदार तानों का प्रयोग भी कर दिया जाता है। यह द्रुत व मध्यलय प्रधान होती है। इसमें छोटी व पेंचदार तानों के साथ-साथ विस्तार आदि भी कर दिया जाता है। इन सभी विशेषताओं के कारण ही ये गायन शैलियाँ परस्पर एक-दूसरे से भिन्न होती हैं।

यूं तो हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में विभिन्न गायन शैलियों का समावेश होता है किन्तु यहाँ प्रमुख रूप से शास्त्रीय संगीत में निर्वाहित होने वाली गायन विधाओं का वर्णन ही किया गया है-

❖ ध्रुपद -

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की सम्पूर्ण गायन परम्पराओं में ध्रुपद को विशिष्ट अथवा सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। प्रबन्ध की आंशिक परिवर्तित शैली 15 वीं शताब्दी में ध्रुपद नाम से विकसित हुई। मानसिंह तोमर द्वारा इसे पल्लवित किया गया। उन्होंने कतिपय ध्रुपदों की रचना भी की थी।

ध्रुपद एक अत्यन्त प्राचीन परम्परा है। जो प्राचीन ध्रुवा का पर्याय है। यह एक आध्यात्मिक, भक्तिपरक संरचना है जिसमें विशुद्ध रागों की ही अत्यन्त विलम्बित लय में संरचना की जाती है। यह विशेषकर भक्ति, शान्त और श्रृंगार रस प्रधान होता है। प्राचीन काल में ऋषि - मुनि ध्रुपद में संस्कृत श्लोकों को गाकर मंदिरों में भगवान की आराधना करते थे। ध्रुपद में स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग ये चार भाग होते हैं तथा यह अधिकतर चौताल, सूलताल, झपताल, तीव्रा, रूद्रताल, ब्रह्मताल आदि में गाये जाते हैं। इसकी संगति पखावज, मृदंग पर असरदार, भारी, जोरदार आवाज द्वारा की जाती है। इसमें तानों का प्रयोग वर्जित होता है तानों के स्थान पर इसमें दुगुन, तिगुन, चौगुन, छैःगुन और भी अन्य लयकारियों की उपज की जाती है। ध्रुपद गायन को प्रचलित हुए 500 वर्षों से भी अधिक समय हो गया है परन्तु इधर कुछ वर्षों से इसका प्रचार कम हो गया है। और ख्याल गायन का प्रचार अधिक हो गया है।

वर्तमान समय में ध्रुपद एक गम्भीर प्रकृति का गायन माना जाता है। इसके गीत प्रायः हिन्दी व उर्दू वर्णमाला से मिलते हैं। यह पुरूष प्रधान गायकी है। इसमें वीर रस, श्रृंगार रस तथाशांत रस इन तीनों का समन्वय प्राप्त होता है। प्राचीन समय से ही यह गायनशैली मन्दिरों व देवालयों में गायी जाती थी। इसलिए आधुनिक समय में इसकी रचनाओं का जो साहित्य प्राप्त होता है उसमें भगवत्वन्दना, मंत्र स्त्रोतों आदि की महिमा परक विषय वस्तु है। इसकी गायकी के प्रवर्तक तानसेन, स्वामी हरिदास, बैजूबावरा, गोपालनायक आदि संगीत जगत के श्रेष्ठ, एवं गुणी गुरू हैं।

प्राचीनकाल में ध्रुपद के चार भाग होते थे।

1. स्थायी।
2. अन्तरा।
3. संचारी
4. आभोग।।

इसमें विभिन्न लयकारियों दुगुन, तिगुन, चौगुन, आदि को प्रयुक्त किया जाता है। यह अधिकतर एकताल, चौताल आदि तालों में ही अधिक गाया जाता है। इसकी संगति पहले पखावज अथवा मृदंग पर की जाती थी।

ध्रुपद मध्यकाल की एक प्रभावशाली गायनशैली है। 200 वर्षों से इसका प्रचार कुछ कम हो गया है और ख्याल गायन का प्रचार अधिक हो गया है। इतना होते हुये भी संगीत कला मर्मज्ञों में ध्रुपद गायकी को श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है।

वर्तमान में शिक्षण संस्थानों में पखावज संगति की अनुपस्थिति में तबला की संगति की जाती है तथा ध्रुपद के दो भाग ही गाये जाते हैं-

1. स्थायी।
2. अन्तरा।

ध्रुपद राग चन्द्रकौंस

स्थायी

सां	नि	ध़	नी	सां	सां	नी	ध़
नि	रें	ऽ	ज	ऽ	न	नि	रा
म	ग़	-	सा				

ऽ क क र
ग़ ग़ म ग़ - सा ग़ म
प र म ह ऽ म्ह प र
ध़ - म म
मे ऽ श्व र
ग़ ग़ म ध़ - नि सां
ए ऽ क ही ऽ अ न
- नी सां - सां
ऽ क हो ऽ य
नी सां नी ध़ नी सां नी ध़
व्या ऽ प्यो ऽ वि ऽ श व
म ग़ - सा
ऽ ऽ म्भ ऽ र

अन्तरा

ग़ ग़ म ध़ - नी सां सां
अ ल ख जो ऽ त अ वि
नी सां - सां
ऽ ना ऽ शी
गं मं गं सां - सां नी सां
जो ऽ ती रू ऽ प ज ग
ध़ नी सां सां
ता ऽ र न
ग़ ग़ म ग़ - सा ग़ म
ज ग ऽ न्ना ऽ थ ज ग
ध़ नी सां सां
त प ति ऽ
नी सां ध़ नी सां सां ग़ ग़
ज ग जी ऽ व न ज ग
म ग़ - सा
ऽ ध ऽ र

❖ **धमार-**

यह भी एक प्राचीन गायन शैली है। होली सम्बन्धित शब्दों से युक्त, ध्रुपद, धमार अंग की गायन शैली को धमार कहते हैं। यह धमार ताल में निबद्ध होती है। इसमें ध्रुपद गायकी के समान ही रागालाप आदि किया जाता है। इसके साहित्य में अधिकतर राधा एवं गोपियों की होली का वर्णन मिलता है। भगवान श्री कृष्ण की रास लीला तथा ब्रज की होली के दृश्यों का वर्णन करना ही इसके काव्य का आधार होता है। इसमें ध्रुपद की तरह नोम-तोम का आलाप तथा लयकारी दुगुन, तिगुन, चौगुन आदि को प्रयुक्त किया जाता है। इसमें तानों का प्रयोग वर्जित होता है तथा इसके साथ पखावज बजाने की भी परम्परा है। इसमें लय की अलग-अलग प्रकार से बोलतान की जाती है एवं शब्दों को विविध स्वर लहरियों के साथ भी गाया जा सकता है।

धमार शब्द की व्युत्पत्ति 'धम' धातु में 'अल्' प्रत्यय के संयोग से मानी जा सकती है। संस्कृत में धातु 'धम्' का अर्थ सुलगना, फूंकना एवं बजाना है।

आचार्य बृहस्पति के अनुसार इसशब्द की व्युत्पत्ति ;धम्ः ऋः अच्द्ध 'धम्' इव ऋच्छति' हो सकती है। जिसका अर्थ है गान का वह प्रकार जो प्रेरित करता हुआ चले।

धमार में धमार ताल का प्रयोग होता है। यह शास्त्रीय संगीत प्रधान विधा है। जिसमें गमक युक्त बोलबाट का प्रदर्शन बाहुल्यता से किया जाता है। इसमें गम्भीरता का प्रयोग कम किया जाता है। यह धमार ताल में निबद्ध राधा कृष्ण प्रधान होली पर्व की भक्ति पदावली से युक्त गायन शैली से लिया गया है। जिसमें होली पर्व का उल्लास, उमंग आदि का विशेष रूप से प्रयोग होता है। धमार ताल का सम धमार में चमत्कार रूप से परिलक्षित होता है। इसमें भक्ति गायन का अधिक महत्व होता है।

वर्तमान में भी धमार का गायन मंच प्रदर्शनों कार्यक्रमों में होता है। जिसमें बोलबाट का कौशल भिन्न-भिन्न प्रकार से दिखाया जाता है किन्तु ताल परिवर्तन का नियम जो भक्ति सम्प्रदाय में प्रयुक्त होता है वह नहीं किया जाता है। धमार केवल धमार ताल में ही निबद्ध रहता है। इसके अतिरिक्त

धमार का प्रयोग शिक्षण संस्थाओं में भी होता है वहा केवल स्थायी व अन्तरा तथा इनमें सरल लयकारियों का प्रयोग किया जाता है।

❖ ख्याल -

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में ख्याल गायन शैली अपना एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान रखती है। वर्तमान में अन्य गायन शैलियों की अपेक्षा यह गायन शैली शास्त्रीय संगीत में प्रमुख मानी जाती है तथा यह एक महत्वपूर्ण और अत्यधिक लोकप्रिय विधा है।

ख्याल एक फारसी भाषा का शब्द है। ख्याल का अर्थ हिन्दी भाषा में 'कल्पना' है। वस्तुतः इस विधा का नाम इसके शैली गत शिल्प या तकनीक के कारण ही पड़ा है। इसके और भी कई अभिधात्मक अर्थ हैं जैसे भावना, ध्यान, विचार, जज़बा, तख़ैयुल आदि सभी मानसिक गुणों अथवा मानसिक विभूतियों का यह एक मनोहर संगठित रूप है, जिसमें प्रतिभावान गायक राग के स्वर कल्पना, भावना तथा सौन्दर्यीकरण का एक पुट पाकर भावाभिव्यक्ति के लिए सजीव हो उठते हैं।

इस विधा का विकास मुख्यतः मुसलमान कलाकारों के द्वारा ही हुआ है। यह ख्याल शब्द अरबी भाषा का शब्द है किन्तु कतिपय विद्वान इसे फारसी-भारतीय मिश्रित गायन शैली कहते हैं। ख्याल के बोलों में कतिपय फारसी शब्द होते हैं लेकिन इस विधा के गायक भारतीय ही रहे हैं, वस्तुतः ख्याल गायनशैली को ध्रुपद शैली का विकसित रूप माना है

ठाकुर जयदेव सिंह का विचार है कि ख्याल गायकी पूर्ण प्रचलित साधारण गीति का ही स्वाभाविक विकास है।

अतः ख्याल गायन शैली ध्रुपद का ही विकसित रूप है तथा सदारंग व अदारंग ने ही इस गायन शैली को पल्लवित किया है। वह अपने शिष्यों को ख्याल गायन ही सिखाते थे।

ख्याल गायन शैली को लयानुरूप दो भागों में बाटा जाता है।

1. विलंबित ख्याल
2. द्रुत ख्याल ।

ख्याल गायन विधा में कण, मुर्की, मींड तथा द्रुत तानों आदि का प्रयोग विशेषकर होता है तथा इसमें स्वर सौन्दर्य को विशेष महत्व दिया जाता है। राग के वादी, संवादी एवं वर्जित स्वरों का ख्याल में विशेष महत्व रहता है। श्रृंगार रस आदि का इसमें बाहुल्य होता है और विशेष स्वर संगतियों का अवकाश रहित एवं सावकाश प्रयोग किया जाता है। विविध प्रकार की तालों का प्रयोग जैसेः एकताल, त्रिताल, झपताल, आड़ाचारताल आदि का भी प्रयोग किया जाता है।

❖ विलंम्बित ख्याल-

विलंम्बित ख्याल में लय-धीमी (विलंम्बित) होती है। इसलिये यह छोटे ख्याल से अधिक गम्भीर प्रकृति का होता है। इस ख्याल की बन्दिशों की रचना छोटे ख्याल की अपेक्षा संक्षिप्त होती है। विलम्बित ख्याल के दो खण्ड होते हैं। इस ख्याल में स्वरों के सजाने की पूरी सम्भावना रहती है। इसके प्रारम्भ में राग के अनुरूप मुख्य स्वरों को एक-दो स्वर समूहों में गाकर बन्दिश प्रारम्भ कर दी जाती है। बन्दिशों की स्थायी एक या दो बार गाकर, आकार अथवा बन्दिश के बोलों को लेकर छोटे-छोटे टुकडों में राग स्वरूप दिखाकर मुखड़ा लेकर सम पर आ जाते हैं। इस प्रकार राग की अवतारणा करते हुए तार सप्तक षड्ज पर पहुँच जाते हैं। तब बन्दिश के अन्तरे का मुखड़ा लेकर पुनः सप्तक के अन्तरांग में राग स्वर विस्तार छोटे-छोटे टुकडों में कर अन्तरा का मुखड़ा लेकर पुनः सम पर आ जाते हैं। अन्त में सम्पूर्ण अन्तरे की बन्दिश गाकर बन्दिश के स्थायी का मुखड़ा लेकर ताल की सम पर आते हैं और उसके बाद तानों एवं लयकारियों का प्रदर्शन करते हैं। विलम्बित ख्याल अधिकतर एकताल में होते हैं। किन्तु झूमरा, आड़ाचारताल, रूपक (विलम्बित) आदि तालों में भी बड़े ख्याल गाये जाते हैं।

वर्तमान में विलम्बित ख्याल इस प्रकार गाया जाता है जैसे-

यमन - विलम्बित ख्याल

स्थायी

मधनी- नी-प- मगरे- – नी रे ग - - - प रे - रे सा
- - - नी - रे - ग - - - म ध नी -
हो पा ऽ ऽ ऽ ऽ र क रो मो री
ध - प - मधनीसां सां नी धप नी ध प- प मगरे
ग (प) रे - सा -
नै या पा र अ ब की बा र

अन्तरा

म ध नी ध स म र थ
सां - सां - नी - रें - सां - - - नी रें गं रें सां
- सां - नीरेंसांनी धपमप नी सां
सां ई तु म हो का न ब ड़ी ये बा त
नी रें सां - सां नी ध प नी ध प - प
मगरे ग प रे - सा -
क रो अ ब ही स म्हा र

❖ छोटाख्याल-

छोटे ख्याल शास्त्रीय संगीत प्रधान होते हैं तथा छोटे ख्याल (मध्यलय) में गाये जाते हैं। छोटे ख्याल की बन्दिर्श बडे ख्याल की अपेक्षा बड़ी होती हैं। अधिकतर छोटे ख्याल की बन्दिशों के स्थायी और अन्तरा दो भाग होते हैं।

छोटे ख्याल की उत्पत्ति के विषय में संगीतज्ञों एवं संगीत शास्त्रियों में मतभेद हैं। कुछ विद्वान "हजरत अमीर खुसरो" को ही छोटे ख्याल का आविष्कारक मानते हैं।

छोटे ख्याल में भी राग के अनुरूप मुख्य स्वरों को दो-चार स्वर समूहों में गाकर बन्दिश प्रारम्भ कर देते हैं। बन्दिश की स्थायी एक बार गाकर आकार में आलाप अथवा बन्दिश के बोलों को लेकर भी आलाप करते हैं। इसके पश्चात् अन्तरा गाकर द्रुतलय में तानों एवं विभिन्न लयकारियों को दिखाते हैं।

छोटे ख्याल श्रृंगार व करूण रस प्रधान होते हैं। इनकी प्रकृति चंचल व चपल प्रकार की होती है। यह मध्यलय व द्रुतलय में गाये जाते हैं। छोटे ख्याल की बन्दिशों को चमत्कार पूर्ण बनाने के लिये उनमें खटका, मींड व कण आदि प्रयोग किया जाता है तथा इसमें तीनताल, झपताल, आड़ाचारताल, रूपकताल, एकताल आदि तालों का प्रयोग अधिक किया जाता है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है-

छोटा ख्याल (त्रिताल)
राग-चन्द्रकौंस स्थायी

ग़ - म ग़ - सा गम धनी सांनि
जा ऽ ओ जा ऽ ओ रऽ ऽऽ ऽऽ
धम गम गसा
सिऽ याऽ ऽऽ
ग़ ग़ म ग़ - सा ग़ म ध़
दे खी तु म्हा ऽ री अ ल ब
- म -
ऽ ली ऽ
ग़ - म ध़ - नी सांनि धनी सांनि
री ऽ त प्री ऽ त कीऽ ऽऽ ऽऽ
धम गम गसा
ऽऽ ऽऽ ऽऽ

अन्तरा

सां - नी ध़ ध़ नी सां - सां
नै ऽ न न ऽ में तु ऽ म
सां - सां
छ ऽ बि
गं - मं गं - सां नी - सां
घ ऽ री प ऽ ल छि ऽ न
सांनि धनी सां-
घऽ ऽऽ रीऽ
सां - नी - ध़ म ग़ - म
दे ऽ ख त ऽ हू मे ऽ तो
ग़ - सा
अ ऽ ब
ग़ - म ध़ - नी सांनी धनी धम
रा ऽ ह तु ऽ म्ह रीऽ ऽऽ ऽऽ
गम गसा निसा
ऽऽ ऽऽ ऽऽ

❖ टप्पा-

उत्तर भारतीय शास्त्रीय संगीत में यह गायन शैली भी अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। टप्पा एक विशिष्ट तथा शास्त्रीय एवं उपशास्त्रीय संगीत प्रधान गायन शैली है जिसमें पंजाबी भाषा के शब्द प्रयुक्त होते हैं। यह ख्याल, ध्रुपद, धमार आदि गायन शैलियों से भिन्न होती है। टप्पे के अर्थ के विषय में विद्वानों ने अपने भिन्न-भिन्न मत दिये हैं।

सुप्रसिद्ध विद्वान श्री गोस्वामी के अनुसार-

"टप्पा" शब्द "टप" धातु से निकला है। यह पंजाब में ऊँट हाँकने वालों के द्वारा गायी जाने वाली धुनों से प्राप्त किया गया है। एक भारतीय विद्वान ने टप्पा का अर्थ "पड़ाव" (मुकाम) ठहराव से दिया है। उन्होंने अपना विचार व्यक्त करते हुए कहा है कि टप्पे में ठहराव होता है इसीलिए इसका नाम टप्पा पड़ा।

टप्पा शब्द इस गायन विधा के समान ही विशुद्ध पंजाबी है। इसका शाब्दिक अर्थ कूदना या उछलना है इसका सम्बन्ध 'तप्पां' से जोड़ते हुये एक विद्वान का कहना है कि सिन्ध नदी के पूर्व का क्षेत्र जो उत्तर दिशा की ओर जाता है जो इसके बीच के भू-भाग को समेटता हुआ ले जाता है वही 'तप्पा' कहलाता है। फारसी भाषा की शब्दावली में भी 'तिप्पा' शब्द प्रयुक्त होता है।

टप्पा के विषय में ऐसा कहा जाता है कि इसकी रचना बेसरा गीति के आधार पर मियां गुलाम नवींशोरी ने की। इस गायन शैली का उद्भव पंजाब के पहाड़ी क्षेत्र में हुआ तथा इसका विकास अवध के दरबार में हुआ है।

टप्पा गायन शैली ध्रुपद, धमार गायन शैलियों की अपेक्षा अत्यधिक संक्षिप्त होती है। इसकी रचना तानों द्वारा निर्मित होती है। इसकी प्रकृति चंचल होती है। इसमें स्वर, शब्द, लय को कहीं भी विश्राम नहीं दिया जाता तथा इसकी गायकी में आलाप नहीं गाये जाते हैं। छोटी-छोटी व पेंचदार तानों के साथ इसका विस्तार किया जाता है तथा दानेदार तानों का प्रयोग भी बीच-बीच म कर दिया जाता है। कण, खटका, मुर्की आदि का प्रयोग टप्पा गायन शैली में अत्यधिक होता है। टप्पा गायन शैली चंचल प्रकृति की होती है इसलिए इसकी चंचल प्रकृति के रागों में ही गाया जाता है जैसे काफी, पीलू, देश, खमाज, झिंझोटी आदि। यह श्रृंगार तथा करूण रस प्रधान गायकी है। यह द्रुतलय अथवा मध्यलय में ही गायी जाती है। इस गायकी को गाने के लिए चपल अथवा तैयार कंठ की आवश्यकता होती है। इस गायन शैली के साथ टप्पा ताल बजती है जो 16 मात्रा की होती है। टप्पा गायन शैली के दो भाग होते हैं स्थायी अथवा अंतरा।

वर्तमान समय में इस गायन शैली का प्रचार बहुत कम हो गया है। परन्तु अभी भी कतिपय घरानों के कलाकार इसे गाते हैं जैसे बनारस अथवा ग्वालियर।

वर्तमान में टप्पा गायन शैली तो लगभग अस्तित्व में लुप्त प्राय हो रही है। पहले उसकी बन्दिश सवागुन, पौनगुन आदि जैसी तानों से मिलकर बनती थी। परन्तु वर्तमान में छोटी सी तान को लेकर ही स्थायी बना दिया जाता है।

टप्पा गायनशैली टप ख्याल में परिवर्तन हुई परन्तु फिर भी प्रचलित नहीं हो पायी। अब तो यह अस्तित्व में ही नहीं है इसका एक उदाहरण स्थायी इस प्रकार है।

राग भैरवी - टप्पा - पंजाबी त्रिताल (त्रिताल)

स्थायी : भोला भोला मुखडा जाने यारदा
एक पलछिन बोलदा की करो दिल दुखडा वो मियां।

अन्तरा : रात देहा मैनूं ध्यान तु सान्डा वो मियां
तुसी घटी घटी क्यों रूसदा मियां वे।।

स्थायी

सां- सांनि ध्प पधनिध पम ग - सारे म - गम पध पम सार गरे रेसा
भो ला भो ला मुख डा जा ने या रदा
निसा गम धनि सार सां - नि सारग रसां
निध ध नि गंरसानि ध्प मगरेसा
एक पल न बोल दा की क रा दिल दुख दा वो मियां

❖ तराना-

हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत में तराना गायन शैली भी अपना एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यह गायन शैली हिन्दुस्तानी शास्त्रीय संगीत की एक लोकप्रिय विधा है जिसका प्रचलन अनेक वर्षों से चला आ रहा है। वैसे तो इसमें निरर्थक शब्दों जैसे त न न न, दीम् दीम् तोम् दिर दिर, ना द्रे द्रे द्रे, य ल लि, याला, दारा, दिल का प्रयोग होता है किन्तु सुधि गायक मनस्वी श्रोता सार्थक शब्दों को इसमें स्वतः ही ढूढ लेते हैं, त न न री के लिए वे हरि का स्मरण कर लेते हैं, तोम् त न न न हेतु "तुम हो मैं नहीं" इस प्रकार वे इनशब्दों की व्याख्या कर लेते हैं, या ल लि अ लि के लिए भी वे अली, मौला, खुदा अथवा हरि का स्मरण करते हैं। वस्तुतः तराना गायन शैली उद्भव का कारण "क़ौल" एक सूफियाना गायन शैली है जिसे अमीर खुसरो ने सर्वप्रथम रचित किया है।

स्थायी-

मन कुन्तो मौला
(मेरा गुरू कौन)
फलियुन मौला
(मौला मेरा गुरू)

अन्तरा-

त न न्न, त न न न, त न न न दे रे ना,
(दारा दिल दारा दिल दारा दिल दारे दानी)
दीम् दीम् त न न न, त न दे रे ना, या ल,
(हम तुम त न न न, त न न न, दे ऽ ऽ ऽ)
लि य, ल लि य लि, त न न ना ना ऽ ऽ
यललि यललि याला, रे ऽ ऽ ऽ ऽ

जैसा स्पष्ट है कि उपर्युक्त रचना में तराने के बोल निहित हैं। अमीर खुसरो ने तराना गायन शैली की रचना तराना रचित करने की दृष्टि से तो नहीं की थी किन्तु उल्लेख स्पष्ट करते हैं कि इसके बोलों यथा यलि, या अलि, न न री, न र हरि के पार्श्व में कुछ न कुछ आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य अवश्य हैं। दूसरी ओर अमीर खुसरो पर भारतीय धर्म, संस्कृति एवं संगीत का प्रभाव भी अवश्य रहा है। ही सकता है कि ये बोल हिन्दू एवं सूफी धर्म संस्कृति का मिश्रण हों यद्यपि कौल के अन्तर के ये शब्द निरर्थक प्रतीत होते हैं किन्तु इनमें आध्यात्मिक, सांगीतिक, सांस्कृतिक गहराई निश्चित रूप से विद्यमान है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार है-

तराना (मध्यलय)

राग-दरबारीकान्हडा

स्थायी

नी सा रे रे सा नी सा रे ग
ना द्रे द्रे द्रे तुं द्रे द्रे द्रे दी ऽ
- म प - - प
ऽ म्त दी ऽ ऽ म्त
ध - ध ध नी प म प ध
दी ऽ ऽ म्दी ऽ म्त न न दी
- - ध नी प म प
ऽ ऽ म्दी ऽ म्त न न
म म म प म प पनी मप ग
ना द्रे द्रे दा नि तुं द्रेऽ द्रेऽ दी
- म प रे रे सा -
ऽ म्त न दे रे ना ऽ

अन्तरा

म म म म प प ध ध नी
ना द्रे द्रे तुं द्रे द्रे द्रे द्रे दी ऽ
- सां सां - सां सां सां
ऽ दीं ऽ म्त न न
सां मं रें मं रेंसां रें सां - नी प
धा किट तक धुम किट तक धा ऽ क्रां ऽ
सां प - म प नी
धा क्रां ऽ धा क्रां ऽ
ग - म प रे रे सा सा
धा ऽ त न दे रे ना ऽ

आज के संदर्भ में सूरदास के भक्ति पद

रंजना झा

'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'

श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं, परम पुरुष हैं। उनमें भगवत्ता एवं ऐश्वर्य दोनों हैं, किन्तु भक्तों की दृष्टि में उनका माधुर्य ही सबसे बढ़कर है। वे मधुराधिपति हैं, आनंद स्वरूप एवं रसस्वरूप हैं और यही उनका यथार्थ स्वरूप है। ऐश्वर्य देखकर हम विस्मृत होते हैं, माधुर्य हमें विमुग्ध करता है, ऐश्वर्य चमत्कार उत्पन्न करता है, माधुर्य अनंत रस को उच्छल करके अनुराग उत्पन्न करता है। भगवान् श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य एवं माधुर्य दोनों ही आनंद है। किंतु अपने भक्तों को अनिर्वचनीय लीला माधुर्य द्वारा ही उन्होंने मुग्ध किया है।

महाकवि सूरदास के पदों का यदि आज के संदर्भ में मूल्यांकन किया जाए तो इन्होंने भगवान् की अप्रकट लीला की अपेक्षा प्रकट लीला को अधिक महत्त्व दिया है। गोलोक धाम में श्रीकृष्ण नित्य किशोर हैं। वृन्दावनधाम की प्रकटलीला में बाल्य एवं सख्यभाव का जो रस-वैचित्र्य है, वह अप्रकट लीला में नहीं है। योगमाया के प्रभाव से भगवान् (दिव्य) जन्म ग्रहण करके बाललीला-किशोर-लीला करते हैं और वात्सल्य, सख्य, दास्य आदि रस वैचित्र्य का आस्वादन करते हैं। शिशुरूप में माता यशोदा का वात्सल्य, सखा-रूप में ग्वाल बालों का सख्य, भक्तों का दास्य-रस की इन विविधताओं का आस्वादन इस धराधाम पर ही संभव हो सकता है। अप्रकट लीला के ही सहचर प्रकट लीला में गोप-गोपी के रूप में आविर्भूत होकर प्रेमोज्जवल-लीला में रसमग्न होते हैं। यह रस क्या है? एक अलौकिक दिव्य आनंदानुभूति है। चित्त में जब सात्विक भाव का उन्मेष होता है, रज और तम तिरोहित हो जाते हैं, उस अवस्था में एक अपूर्व लोकोत्तर, अखंड आनंदचिन्मय भाव उदित होता है- 'जो ब्रह्मानंद स्वाद-सहोदर' है, सहृदय बोद्धा अनुभववेद्य - यही 'रस' है। इसलिए श्रीकृष्ण की अनेकानेक लीलाओं में रस की पराकाष्ठा एवं माधुर्य की चरम सीमा मानी जाती है। जो 'रसो वै सः' हैं, वही 'रस-ब्रह्म' रसमूर्ति, रसराज, रसिक शेखर श्रीकृष्ण के रूप में ब्रज-गोप-गोपियां के साथ चिदानंदमयी क्रीड़ा करते हैं। भक्तजनों पर अनुग्रह करके ही उनका चित्ताकर्षण के लिए भगवान् ने अनेकानेक पार्थिव लीलाएँ की हैं। भागवतकार के अनुसार-

अनुग्रहाय भूतानां मानुषं देहमास्थितः।
भजते तादृशीः क्रीड़ा याः श्रुत्वा तत्परो भवेत।।

भक्तों के प्रेमरस के निर्यास का अस्वादन करना इस लीला का उद्देश्य है। महाकवि सूरदास के पद आज भी हमें इससे साक्षात्कार करवाने में समर्थ दिखते हैं। इस तरह सच्चे भक्त को सर्वाधिक सुख इन लीलाओं को छोड़कर कहीं और नहीं लग सकता है, यथा-

मेरौ मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज कौ पंछी, फिरि जहाज पर आवै।
कमल-नैन कौ छाँड़ि महातम, और देव कौं धावै।
परम गंग को छाड़ि पियासौ, दुरमति कूप खनावै।।
जिहि मधुकर अम्बुज-रस चाख्यौ, क्यौं करील-फल भावै।
सूरदास-प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै।।

मनुष्य जिस प्रकार दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखकर अपने रूप-लावण्य का अनुभव करता है, उसी प्रकार श्री कृष्ण अपनी रसस्वरूपता को भक्तों में प्रतिबिम्बित करके उसका आस्वादन करते हैं। रसास्वादन-काल में अपन ऐश्वर्यभाव को तिरोहित कर देते हैं।

शोध छात्रा एवं गायिका, पटना विश्वविद्यालय, पटना

श्रीकृष्ण की रूप माधुरी अपूर्व है। जिनके मस्तक पर मनोहर मोर-पंख मुकुट हैं, हाथों में सुरीली बाँसुरी है, जिनके बड़े-बड़े सुन्दर नेत्र हैं, जिनकी चितवन और मुसकान अति मनोहर है, जिनके कानों में कदम्ब-पुष्पों के कुण्डल हैं, परम सुन्दर कपोल हैं, जिनकी कान्ति विद्युत-सी है और जो अति सुंदर पीताम्बर धारण किए हुए हैं, उन नित-नूतन लीला विहारी, मेघश्याम नटनागर गोपाल को देखकर कौन ऐसा चराचर है, जो मुग्ध न हो जाए?

जीवमात्र की सदा यही इच्छा रहती है कि 'सुखं मे भूयाद दुःखं मे माश्भूत' अर्थात् सुख मुझे प्राप्त हो और दुःख न हो, किंतु इसका सच्चा, खरा, ठोस और निर्दोष उपाय तो भक्ति ही है। आज का भक्तिहीन संसार यदि चाहता है कि वह सुखी और शान्त हो तो उसे भक्ति-तत्त्व की महत्ता और उपादेयता समझनी चाहिए। तभी वह हिंसा, क्रूरता और अन्याय से अपना पीछा छुड़ा कर प्रेम, सहानुभूति और न्याय के वातावरण का निर्माण कर सकता है, क्योंकि एकमात्र भक्ति ही व्यष्टि और समष्टि के आत्मभजन और विश्व-सेवा की सत्साधना है। 'भक्ति' और 'भक्त' शब्दों का अर्थ ही सेवा और सेवक अथवा साधना और साधक है।

आज हम देखते हैं कि मनुष्य संसार आज स्वार्थवश कलह की चक्की में पिस रहा है, किन्तु यदि वह आंतरिक, पूर्ण और निर्दोष परमार्थमूलक सच्चा आत्मलाभ चाहता है तो उसे ईश्वरभक्ति के मार्ग को अपनाना चाहिए, क्योंकि इसी मार्ग से वह ईश्वर को प्राप्त कर सिद्ध, तृप्त और अमृतात्मा भी हो सकता है। अपितु मत्त, स्तब्ध और आत्माराम भी बन सकता है। इसी बात को भक्तिशास्त्र इस तरह स्पष्ट करते हैं-

यल्लब्ध्वा पुमान सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति।
यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति।।[1]

क्या आज का पथभ्रष्ट नास्तिक संसार बता सकता है कि उसके पास जीवन-कलह के नाश और आनंद की प्राप्ति की ऐसी सत्साधना और सदौषधि है? कदापि नहीं, प्रत्युत उसके पास तो विश्व संहारक और मानवता-घातक विज्ञान और राजनीति हैं। यहाँ यह भी भुलाने की बात नहीं है कि भारत भक्ति-तत्त्व को सदा से ही महामहिमावान समझता आया है। भक्तों की दृष्टि में तो भक्ति की तुलना में संसार का संपूर्ण ऐश्वर्य एवं मुक्ति भी नगण्य रही है। यही कारण है कि ईश्वर के द्वारा वर मांगने की आज्ञा होने पर भी भक्तों के मुख से सदैव यही बात निकलती रही है-

रे मन, गोविन्द के ह्वै रहिये।
इहि संसार अपार बिरत है, जम की त्रास न सहिये।
दुख, सुख, कीरति, भाग आपनै आइ परै सो गहिये।
सूरदास भगवंत भजन करि अंत बार कछु लहिये।।

परंतु यह भी सत्य है कि भक्तिपूत अंतःकरण के लोग कुछ विचित्र ही होते हैं। उनकी आत्मा का दायरा व्यक्ति और कुटुंब तक ही सीमित न होकर संपूर्ण विश्व और जीवमात्र तक होता है। व्यक्तिभेद और देश-भेद का तो भक्ति के वातावरण में अत्यंताभाव ही रहता है। वहाँ तो एकमात्र विश्वकुटुम्ब की भावना काम करती है। भक्त विश्व के दुःख में अपना दुःख समझता है - अपितु उसके हृदय से तो नित्य यही आवाज निकलती है-

न कामयेश्हं गतिमीश्वरात्परा
मष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तिं प्रपद्येश्खिल लोक भाजा
मन्तःस्थितो येन भवन्त्यदुःखाः।।

अर्थात् मैं भगवान् से अष्टसिद्धियुक्त परम गति नहीं चाहता, न मोक्ष ही, मैं तो यही चाहता हूँ कि मैं जीवमात्र के हृदय में रहकर उनका दुःख स्वयं भोगा करूँ, जिससे कि किसी जीव को दुःख न सताये।

हरि बिन मीत नहीं कोउ तेरे।
सुनि मन, कहौं पुकारि तोसौं हौ, भजि गोपालहिं मेरे।।
या संसार विषय-विष-सागर, रहत सदा सब घेरे।
सूर स्याम बिनु अंतकाल मैं कोउ न आवत नेरे।।

क्या ऐसी करुणा का अन्यत्र कहीं उल्लेख मिलता है और क्या आत्म-तृप्त-भक्त-हृदय के सिवा अन्य के मुँह से ऐसे शब्द ही निकल सकते हैं? भक्तों के हृदय में इस प्रकार के भाव उद्दीप्त करने में महाकवि सूरदास के पद आज भी समर्थ एवं सक्षम दिखते हैं।

संदर्भ

1. श्रीमद्भागवत, स्कंध 10, अध्याय 33, श्लोक 37
1. नारद भक्ति सूत्र, 4, 6

कवि कोकिल विद्यापति के व्यक्तित्व, कृत्तित्व और उनके विभिन्न रूप

मृत्युंजय कुमार मिश्र

"ज़य जय भैरवि, असुर भयाउनी, पशुपति भामिनी माया।"

इस स्तुति को सुनते ही मानस पटल पर एक ऐसे बिभूति की छवि उभरती है जिनके कारण मैथिली ने भाषा के रूप में अपनी पहचान बनायी। मिथिलांचल की रत्नगर्भा धरती पर उस महान विभूति विद्यापति का जन्म मधुबनी जिलान्तर्गत (प्राचीन दरभंगा जिला) बिस्फी गाँव में सन् 1360 को हुआ। एक मान्यता के अनुसार इनका जन्म 1350 ई0 को माना गया है। इनके पिता गणपति ठाकुर राजा गणेश्वर के सभा पंडित थे और इनकी माता का नाम हाँसिनी देवी था। राज-दरबार में इनका बचपन से ही आना-जाना था। इसके बाद कीर्ति सिंह राजा हुए और विद्यापति का दरबार में आने का क्रम चलता रहा। "देसिल बयना सब जन मिट्ठा" की अवधारणा को स्वीकार करते हुए उन्होंने यही समसामयिक अवहट्ट भाषा में "कीर्तिलता" पुस्तक की रचना की। इस पुस्तक की रचना से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि अपनी काव्य कुशलता के लिए काफी प्रसिद्ध हो गए थे।

विद्यापति का संस्कृत, अवहट्ट और मैथिली, इन तीनों ही भाषाओं पर समान अधिकार था। यूँ तो विद्यापति और शिव सिंह बाल सखा थे लेकिन इसी समय विद्यापति और शिवसिंह में राजनयिक घनिष्ठता हुई और जीवन पर्यन्त इसका निर्वाह किया। 'रसवाणी' और 'कीर्तिपताका' नामक पुस्तक भी अवहट्ट भाषा में लिखी गई है। भूपरिक्रमा, पुरूष परीक्षा, गोरक्ष विजय, लिखनावली, विभागसार, दानवाक्यावली, गया पत्तलक, दुर्गाभक्तितरंगिणी, वर्षकृत्य और मणिमन्जरी इनकी संस्कृत रचनाएँ हैं। गोरक्ष विजय संस्कृत नाटक है जिसमें मैथिली के पद भी प्रयुक्त हुए हैं। मैथिली में पदावली की रचना कर विद्यापति भारतवर्ष में ही नहीं बल्कि विश्व में अमर हुए। इस समय मिथिला में दर्शनशास्त्र के पठन पाठन हेतु दूर-दूर से छात्र आते थे औरशास्त्र ज्ञान के साथ-साथ मैथिली के मधुर पद साथ लिए जाते थे। इस प्रकार बिना किसी प्रयास के ही विद्यापति के पद फैल गए।

इनके पद का मिथिला से बाहर सबसे अधिक प्रचार-प्रसार बंगाल में हुआ। महाप्रभु चैतन्य के कानों में जब विद्यापति के पद पहुँचे तो वे आत्मविभोर हो गए और ये गीत उनके कीर्त्तन के प्रमुख अंग ही बन गए। "ब्रजबुली" का प्रारम्भिक रूप टूटी-फूटी मैथिली में निर्मित रचना ही है जो असम, बंगाल और उड़ीसा इन तीनों ही प्रान्तों में एक ही साथ प्रचार में आया। चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायी वैष्णवों ने विद्यापति के पदों को इस तरह अपनाया कि वहाँ के परवर्त्ती कवियों ने उनकी भाषाशैली में हजारों पद लिख डाले। धीरे-धीरे एक ऐसा समय भी आया कि बंगालवासियों ने उन्हें बिल्कुल अपना लिया। इसीलिए जॉन वीन्स ने 1873 ई0 को " इण्डियन एनिटक्वेरी' पुस्तक में लिखा कि विद्यापति का असली नाम बसन्त राय था और पिता का नाम भवानन्द राय। इनका निवास स्थान जसोहर जिले का बालासोर गाँव था। सर्वप्रथम राजाकृष्ण मुखोपाध्याय ने सन 1875 के 'बंग दर्शन' में जॉन

बीम्स के इस कथन को खण्डित करते हुए सत्रभाग लिखा कि विद्यापति बंगाली नहीं, मैथिल ब्राह्मण थे और मिथिला क महाराज शिव सिंह के दरबार में रहते थे। इतना होने पर भी बंगाल वासियों ने तब विद्यापति का मैथिल होना स्वीकार नहीं किया जब तक 1881 ई0 में सर जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने, जो उस समय दरभंगा जिले के मधुबनी सबडिवीजन में मजिस्ट्रेट थे, के मैथिल ब्राह्मणों की पंजी प्रबन्ध का अनुसंधान करके उपने 'मैथिली क्रिस्टोमेथी' नामक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ में विद्यापति के पूर्व के सात पूर्वजों एवम् बाद के बारह पीढ़ी के नाम प्रकाशित नहीं किए।

जिस प्रकार हजारों पक्षियों के कलरव को चीरती हुई कोयल के स्वर आकाश-पाताल को रसप्लावित कर अपना स्वतंत्र अस्तित्व प्रकट करती है, उसी प्रकार इनकी कविताएँ भी अपना परिचय अपने आप देती है। इसे कितनी ही कविताओं में छिपाकर क्यूँ ना रखा जाय वह स्वयं चिल्ला उठेगी कि मैं मैथिल कोकिल की काकली हूँ, जो इस रचना में दिखाई पड़ता है -

"उठू-उठू सुन्दरि, जाय छी विदेश, सपनहिं रूप नहिं भेटत उदेश।"

इस प्रकार के कई पद विद्यापति पदावली में संकलित हैं। विद्यापति पंदावली के संकलन में सर्वाधिक महत्व नेपाल पदावली, रामभद्रपुर पदावली, तरौनी पदावली, राग तरंगिणी, वैष्णव पदावली और लोक कण्ठ के पद का है। मैथिल कवि लोचनकृत " रागतरंगिणी' में विद्यापति के इक्यावन गीत पाए जाते हैं।

यदि हम विद्यापति के जीवन पर गौर करें तो इनके तीन रूप दिखाई पड़ते हैं। पहला कवि के रूप में जन साहित्य का निर्माण जनभाषा में किया। अपने साहित्य में विद्यापति ने मानव हृदय की मूलभूत वासना और नैसर्गिक भाव का अत्यन्त सूक्ष्मता से चित्रण किया है। राग, ताल एवम् लयाश्रित कोमल कान्त पदावली का इन्होंने अपूर्व चमत्कार दिखाया जिसमें गुण लालित्य और माधुर्य अपना अलग-अलग महत्व दिखाता है जो इस रचना में भी दिखाई पड़ता है।

"माधव, की कहब सुन्दरि रूपे, कतेक जतन विहि आनि संवारल, देखल नयन स्वरूपे।"

संस्कृत भाषा में इन्होंने अत्यन्त ही मनोहर एवम् सफल प्रयोग किया। यही कारण है कि यह 'अभिनव जयदेव' की उपाधि से विभूषित हुए। नारी के मनोवेग, आवेग और उद्वेग को विद्यापति ने जिस सूक्ष्मता से अंकित किया, चमत्कार ही प्रतीत होता है। कवि के इस पद में यह स्पष्ट दिखाई देता है।

"के पतिया लय जायत रे मोरा प्रियतम पास,
हिय नहिं सहय, असहय दुख रे भेल साओन मास
एकसरि भवन पिया बिनु रे मोरा रहलो ना जाय,
सखि अनकर दुख दारूण रे जग के पतिआय।"

विद्यापति का काव्य विषय श्रृंगार और भक्ति है। इनकी रचनाओं में राधा कृष्ण की लीलाओं का जो वर्णन हुआ है मैथिल परम्परा में इसे श्रृंगार रस प्रधान माना गया है। लेकिन चैतन्य महाप्रभु के वैष्णव सम्प्रदाय में इसे मधुर रस का वैष्णव भजन कहा गया है।

विद्यापति का दूसरा रूप भक्त का है। मिथिला में प्राचीन समय से किंवदन्ति है कि स्वयं भगवान शिव उनके यहा नौकर के रूप में रहे। इसकी जानकारी विद्यापति को तब मिली जब एक दिन यात्रा के दौरान, निर्जन स्थान पर उन्हें जोरों की प्यास लगी। ऐसी स्थिति में उगना द्वारा क्षण में ही लाए गए जल बिल्कुल गंगाजल था। यहीं विद्यापति ने उनसे हठ किया कि बताए आप कौन हैं। भगवान शिव ने अपना रूप दिखाते हुए यह कहा कि जिस दिन आप मेरे बारे में किसी को जानकारी देंगे। मैं तत्क्षण विलुप्त हो जाऊँगा। होनी को भला कौन टाल सकता है। उनके मुख से एक दिन यह बात निकल ही गई कि ये साक्षात शिव हैं। उगना रूपी शिव उसी क्षण विलुप्त हो गए। उस समय विद्यापति की जो दशा थी वह इस पद से स्पष्ट होता है।

"उगना रे मोर कतय गेला कतय गेला शिव किदहं भेला
जे मोर कहता उगना अधेश तिनका देव कर कोन वेश।"

देवी भक्ति में निश्छल श्रद्धा और अटूल विश्वास था उन्हें। इनकी रचना शैव सर्वस्वसार में इनके आस्तिक बुद्धि और भक्ति का भाव स्पष्ट होता है और उसी देवी शक्ति के समक्ष श्रद्धा से नतमस्तक होकर आत्मसमर्पण इनका भक्ति स्वरूप है।

"कनक भूधर शिखर वासिनी, चन्द्रिकाचय चारू हासिनी,
दशन कोटि विकास वंकिम, तुलित चन्द्रकले।

लेकिन विद्यापति के परिचय के लिए इतना ही काफी नहीं। महापंडित के वंश में जन्म लेकर इन्होंने पण्डित्य की रक्षा की। अपने पूर्वजों का अनुसरण करते हुए विद्यापति ने मिथिला का नेतृत्व भी किया और धर्म-कर्म की स्थापना हेतु आजन्म सक्रिय रहे। सुख-दुख से बिना विचलित हुए यह हमेशा कर्त्तव्य का पालन करते रहे। विद्यापति का राजनीति और लोकनीति विषय की कुशलता इन बातों से स्पष्ट होता है कि "शास्त्रीय विद्या सेशास्त्र विद्या वास्तव में बड़ा है क्योंकिशास्त्र से राष्ट्र सुरक्षित रहने पर हीशास्त्र विद्या का प्रसार हो सकता है। विद्यापति का यह मूलमंत्र, भारत चीनी आक्रमण के पश्चात ही सीख पाया। मैथिल समाज के किसी भी मांगलिक कार्य में विद्यापति के पद निश्चित रूप से गाए जाते हैं। इतना ही नहींशास्त्रीय संगीत के गायकों और नृत्यांगनाओं ने भी इनकी रचनाओं को आत्मसात किया है। राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंग का ठुमरी अंदाज में गायन और नृत्यांगनाओं द्वारा भाव प्रस्तुति भला किसका मन नहीं मोहता। क्या इससे साबित नहीं होता कि यह मिथिला भाषा और मैथिली साहित्य के प्राण थे। इससे इनका महापुरूषत्व सिद्ध होता है। महापुरूष का यह विशेष पूज्य रूप इनका तीसरा रूप है। विद्यापति कई उपाधियों से विभूषित हुए। कवि कोकिल, कविशेखर कवि कंठहार, कविरंजन, कविवर, सरस कवि, सुकवि, दशावधान और पंचानन इनकी प्रमुख उपाधिया हैं।

अपनी जीवन यात्रा के अन्तिम पड़ाव का इन्हें भान था, जो इस पद से परिलक्षित होता है-

"विद्यापतिक आयु असान, कार्तिक धवल त्रयोदशि जान।"

इस आधार पर इनकी मृत्यु 1450 ई0 में कार्तिकशुक्ल त्रयोदशि को गंगा तट पर हुई। कहा जाता है कि गंगा तट की ओर चलते-चलते अपनी अस्वस्थता के कारण चलने की स्थिति में नहीं रहे तो मा गंगा उनकी भक्ति और भावना से प्रभावित होकर अपनी नियत धारा को छोड़ उस ओर चल पड़ी जिस ओर पुत्र विद्यापति व्याकुल हो उनकी राह देख रहे थे। आज भी मओबाजितपुर में यह देखा जा सकता है। विद्यापति गंगा को समक्ष देख यह स्तुति करते हुए अपनी इहलीला समाप्त की।

"बड़ सुख सार पावल तुअ तीरे, छाड़इत निकट नयन बह नीरे"

संदर्भ ग्रन्थों की सूची -

1. सिंह कुमार गंगानन्द (प्र0 स0), विद्यापति पदावली, राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।
2. झा डॉ0 दुर्गानाथ 'श्रीश', मैथिली साहित्यक इतिहास, भारती पुस्तक केन्द्र, दरभंगा।
3. झा डॉ0 भीमनाथ, परिचायिका, भवानी प्रकाशन, पटना।
4. झा डॉशैलेन्द्र मोहन, विद्यापति, मैथिली अकादमी, पटना।
5. झा डॉ0 रमानाथ, विद्यापति, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
6. आनन्द डॉ0 विभूति, विद्यापति पदावली, जखन-तखन प्रकाशन, दरभंगा।

शास्त्रीय संगीत में हारमोनियम वादनः एक समीक्षा

राजीव कुमार मल्लिक

भारत में हारमोनियम वाद्य का आगमन 18 वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन के आगमन के साथ हुआ। हारमोनियम का आविष्कार 1840 ई0 में फ्रांस के अलैक्जेण्डर डेबेन ने किया। यह पाश्चात्य संगीत की वाद्य यंत्र पंप आर्गन, पाइप आर्गन एवं रीड आर्गन एवं प्यानो फोर्ट का विकसित रूप है। भारत में इस वाद्य को 'स्वर मंजूषा' एवं 'स्वर पेटी' के नाम से भी जाना जाता है एवं इस वाद्य को सुषिर वाद्यो की श्रेणी में रखा गया है। 19 वीं एवं 20वीं शताब्दी के अंत तक एशिया के संगीत में हारमोनियम वाद्य को विशेष प्रसिद्धि मिली, खासकर भारत एवं पाकिस्तान में। भारत में इस वाद्य को प्रचारित एवं प्रसारित करने का श्रेय हमारी गायकी की विभिन्न विधाये लोकसंगीत, फिल्म संगीत, सूफी, कव्वाली एवं लाईट म्यूजिक (गजल, भजन) के माध्यम से जनसाधारण तक पहुंचाने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यहां तक की हमारे शास्त्रीय संगीत (गायन, वादन एवं नृत्य) के विधाओं में हारमोनियम वादन खूब प्रचलन में है।

उद्देश्य :-

हारमोनियम वाद्य आधुनिक काल की देन है और इस देन में निसंदेह संगीत के प्रचार में बड़ी सहायता की है पर क्या हमारी शास्त्रीय संगीत परंपरा में इस वाद्य का वादन एवं संगत उचित एवं सच्चे सुरों की कसौटी पर खरा उतरता है। हमारा शास्त्रीय संगीत, सौंदर्य, रस, मेलोडी, मीड़ एवं गायक से अलकृंत है। हारमोनियम से निकलने वाले सीधे एवं खड़े स्वर हमारी रागदारी शास्त्रीय संगीत (गायन, वादन एवं नृत्य) में संगत करने के लिए कितना सत्य एवं उचित है। शास्त्रीय संगीत में गायन, वादन एवं नृत्य इन विधाओ में संगीत के लिए सबसे उपयुक्त वाद्य सारंगी है, क्या वर्तमान समय के शास्त्रीय संगीत में हारमोनियम वाद्य का प्रचलन सारंगी जैसे सुरीले वाद्य का स्थान तो नहीं ले रहा। हमें इस विषय पर गंभीर चिंतन करने की जरूरत है।

लगभग सन् 1940 के आस-पास आकाशवाणी के कार्यक्रमों में हारमोनियम वाद्य के विरुद्ध आवाज उठायी गई और कहा गया कि इसके संगत एवं वादन से भारतीय संगीत की सूक्ष्मता, सुकुमारता और लालित्य नष्ट हो रही है। उस समय के राजनीतिज्ञ चाचा नेहरू जी भी इस कथन से सहमत हो गये और उन्होंने आकाशवाणी के कार्यक्रमों में हारमोनियम के प्रयोग का विरोध किया। इसके परिणाम स्वरूप हारमोनियम का प्रसारण आकाशवाणी से बन्द हो गया।

कुछ वर्षों पूर्व इस विषय पर आकाशवाणी द्वारा एक सेमिनार का आयोजन किया गया जिसमें संगीत के विद्वानों तथा मर्मज्ञों से इस संदर्भ में अपने-अपने मत मांगे गये। लगभग बहुत सारे विद्वानों ने हारमोनियम वादन का समर्थन किया। तभी से हारमोनियम वाद्य का प्रयोग आकाशवाणी से प्रस्तुत होने लगा।

हमें एक निष्कर्ष तक पहुँचने के लिए हारमोनियम के क्या गुण एवं दोष है निम्नलिखित विन्दुओं के माध्यम से बताने का प्रयास कर रहे है।

शोध छात्र संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

हारमोनियम वाद्य के गुण :-

1. इस वाद्य का सबसे बड़ा गुण है इसकी सरलता। अन्य भारतीय वाद्यों की तुलना में हारमोनियम का वादन बड़ी सरल है। साधारण लोग भी बिना किसी से सिखे ही इस वाद्य को बजा लेते है। इसीलिए यह वाद्य लगभग बहुत से घरों में दिख जाता है। लगभग बहुत से विद्वान इस बात से सहमत हैं। शास्त्रीय संगीत का विकास लोकसंगीत से हुई है। हमारे लोकसंगीत विद्याओ में हारमोनियम वाद्य की संगति खूब हुई जिसके परिणाम स्वरूप यह वाद्य आम लोगो तक पहुंच सका। फिल्म संगीत में हारमोनियम वाद्य का प्रयोग खूब हुआ जिसके फलस्वरूप यह वाद्य जनमानस में खूब प्रचारित हुआ।
2. हारमोनियम के स्वर उतारे-चढ़ाये नहीं जाते, इनके स्वर पहले से ही मिले होते है। अतः इसके परिणाम स्वरूप एक छोटा सा बालक भी इसे आसानी से बजाने लगता है। इसमें कोमल, तीव्र एवं शुद्ध स्वरों को निकालने में ज्यादा परेशानी नहीं होती। जबकी अन्य भारतीय वाद्य सारंगी, सितार, वायलिन एवं तबला वादन सिखने में एक अच्छे गुरू की जरूरत होती है। एवं समय भी ज्यादा देना पड़ता है।
3. अन्य वाद्यों की तुलना में हारमोनियम वाद्य को खरीदने एवं मरम्मत करने में कम धन व्यय होते है। यह वाद्य अधिक टिकाऊ एवं मजबूत होने के कारण सर्व सुलभ है। अन्य वाद्यों की अपेक्षा मौसम, वातावरण एवं तापमान का लगभग नहीं के बराबर प्रभाव पड़ता है। इसके साथ-साथ गायक के कंठ दोषों को छिपाने के योग्य तथा हमेशा एक सा स्वर देने की क्षमता आदि ऐसे गुण हैं जो किसी अन्य वाद्य में अप्राप्य है।
4. इस वाद्य को बजाना एवं इस वाद्य में कुशलता प्राप्त करना अन्य वाद्यों की तुलना में अधिक सरल होने के कारण वादक की कलात्मक साधना और उसकी प्रतिभा का पूरा-पूरा परिचय नहीं प्राप्त होता है। इस वाद्य में प्रतिभा का ऑकलन जब तक दो वादकों में विशेष अन्तर न हो तब तक साधारणतया नहीं मालूम पड़ता।

हारमोनियम वाद्य के अवगुण :-

1. हारमोनियम को सम विभागीय स्वर सप्तक (ईक्वली टेम्पर्ड स्केल) के अनुसार ट्यून किया जाता है या मिलाया जाता है। इसलिये इनके प्रत्येक स्वर भारतीय सच्चे स्वर की दृष्टि से बेसुरे होते है। एक अच्छे संगीतज्ञ के लिए हारमोनियम वादन का यह दोष नकारा नहीं जा सकता है। हां यह जरूर है इस दोष को दूर करने के लिए कुछ संगीतज्ञों ने स्वयं अपने निरीक्षण में हारमोनियम को ट्यून करवाते है और समय-समय पर प्रत्येक स्वरों के उतार-चढ़ाव (बेसुरेपन) पर नजर रखते है। जब कोई खराबी या बेसुरेपन का बोध हो तो वे इसे दूर कराते है। परन्तु यह कार्य सभी के लिए सम्भव नहीं।
2. हमारा शास्त्रीय संगीत मीड़ एवं गमक के प्रयोग से अलंकृत है। हारमोनियम में सदैव सीधे एवं खड़े स्वर निकलते है। हमारी रागदारी संगीत मीड़ के प्रयोग द्वारा ही सुसज्जित होती है। इसे किसी भी प्रकार से नकारा नहीं जा सकता है। इस वाद्य में ना ही मीड़ है और ना ही गमक जो की भारतीय शास्त्रीय संगीत में संगत करना उचित नहीं है। उदाहरण के लिऐ राग दरबारी का कोमल गंधार, मिया मल्हार का कोमल निषाद स्वर हारमोनियम से निकलना असंभव है। इसके अलावा भी कई ऐसे राग है जो हारमोनियम पर नहीं बजाया जा सकता जैसे- बहार, तोड़ी, मुल्तानी, प्रायः इन सभी रागों में कोमल गंधार स्वर प्रयोग होता है पर सभी कोमल गंधार स्वर एक दूसरे से भिन्न है। इन्हें सिर्फ कंठ एवं तंत्र वाद्यों से ही निकाला जा सकता है। हारमोनियम द्वारा इन स्वरों को निकालना असम्भव है।
3. हारमोनियम के स्वर भारतीय रागदारी, रागदारी स्वरों से कितने बेसुरे है निम्न तालिका से स्पष्ट हो जाता है।

भारतीय स्वर

सा, रे, ग, म, प, नि

240 270 300 320 360 400 या

405 450

समविभागीय स्वर

सा, रे, ग, म, प, ध, नि

$$240\ 269\frac{2}{5}\ 302\frac{2}{5}\ 320\frac{2}{5}\ 359\ 403\ 453$$

इस क्रम को देखने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि षड्ज स्वर को छोड़कर समविभागीय स्वर सप्तक के सभी स्वर थोड़े बहुत बेसुरे है। एक सुरीले गायक एवं श्रोता के लिए ये बेसुरापन असहनीय है

4. हमारे भारतीय संगीत में राग स्वरों के गमक, मीड़, आंदोलन एवं चंचलता से एक दूसरे से भिन्न हो जाते है जैसे- राग भैरव-कलिंगड़ा, राग पूरिया-मारवा, राग भूपाली-देशकार इत्यादि। इन रागों का आरोह अवरोह एक समान है परंतु अंतर सिर्फ कंठ एवं तंत्र वाद्यों से ही स्पष्ट हो सकते है। यह अंतर हारमोनियम से दिखाना बहुत ही कठिन है।

निष्कर्ष :-

आज से लगभग दो दशक पूर्व तक शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में इस वाद्य को उपेक्षा की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति प्रबल रूप में थी लेकिन इसने अपनी ख्याति की क्षति पूर्ति कर ली है। श्रुति एवं स्वर की दृष्टि से हारमोनियम की कमी केवल उच्च संगीतज्ञों को खटकेगी सर्वसाधारण को नहीं। इसमें कुछ अवगुणों के बावजूद यह साधारण जनता का लोकप्रिय वाद्य हो गया है। इस वाद्य का प्रयोग ठुमरी, दादरा, गजल, कव्वाली, सुगम संगीत, फिल्म संगीत, नाटक, नौटंकी, थियेटर, कम्पनियों, रामलीला, रासलीला, कीर्तन आदि में इसका प्रयोग सौ साल से भी अधिक समय से होता रहा है ऐसा हमें अपने बड़े बुजुर्गो से सुनने को मिलता है। शास्त्रीय संगीत के क्षेत्र में अब यह वाद्य सारंगी के स्थान पर संगति वाद्य बन चुका है। हारमोनियम जगत के कई कुशल वादकों ने अपने अभ्यास एवं साधना द्वारा हारमोनियम में गमक एवं मीड़ का प्रयोग करने लगे है एवं हारमोनियम को दोष मुक्त करने में प्रयासरत है। फैयाज खां, अब्दुल करीम खां, हीराबाई बड़ोदकर, सुरेशबाबू राने इनके पुराने शास्त्रीय रिकार्डिंग को अगर हम सुने तो उस समय भी हारमोनियम वाद्य का संगत हुआ है। वर्तमान समय में शास्त्रीय गायक भी इस वाद्य का संगत अपने गायन में कर रहे हैं। पर उनका हारमोनियम साधारण हारमोनियम से भिन्न होता है वे हारमोनियम की ट्यूनिंग अपनी स्वेच्छानुसार करवाते है। इस प्रकार हारमोनियम अगर ट्यून हो तो शास्त्रीय गायन में इस वाद्य का संगत किया जा सकता है।

संदर्भ-

1. बावरा डॉ0 जोगिन्द्र सिंह, भारतीय संगीत की उत्पत्ति एवं विकास- लेखक, पृ0 सं0-239
2. श्रीवास्तव प्रो0 हरिशचन्द्र, रागपरिचय भाग-2, लेखक, पृ0 सं0-177

समाज एवं संगीत में महिलाओं की स्थिति

शिवानी सोनकर

मानव स्वभाव ही दूसरों के सम्मुख अपने आन्तरिक उद्‌गारो को प्रकट करने की अभिलाषा रखता है। अपनी इन्हीं अभिलाषाओं को प्रकट करने के लिए वह वाणी का प्रयोग करता है या संकेतों के माध्यम को अपना साधन बनाता है। यही प्रवृत्ति मानव प्रकृति के साथ गहरा सम्बन्ध स्थापित करता है, जिसे कोई भी इन्कार नहीं कर सकता। आज से कई हजार वर्ष पहले जब मानव जाति असभ्य थी, तब भी उसके हृदय में प्रकृति और जीवन-सौन्दर्य के प्रति आकर्षण था, अनुभूति एवं उद्‌गार भी थे। प्रकृति मानव के जन्मजात संस्कारो की आत्मा है।[1]

इन्हीं संस्कारो के माध्यम से हम समाज में एक नए बदलाव को पाते है। संगीत का समाज के साथ घनिष्ठ संबंध है क्योकि हम संगीत के माध्यम से समाज को आसानी से अपने बात को या सूचनाओं का सम्प्रषण कर सकते हैं। संगीत समाज के आध्यात्मिक एवं मानसिक स्तर को ऊँचा उठाता है। संगीत से समाज स्वस्थ एवं समृद्ध होता है, इससे हमारे समाज एवं क्षेत्र की पहचान होती है। संगीत के माध्यम से समाज की विभिन्न समस्याओं का समाधान अथवा सुधार किया जा सकता है। जैसे-जैसे मानव का विकास हुआ, वैसे ही वैसे हमारे समाज का विकास होता गया। ज्ञान, विद्या, अभ्यास व अनुभव से युक्त वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से शिक्षा का सामाजिक नैतिक तथा बौद्धिक दृष्टि का महत्व प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त होता है।[2] शैक्षणिक प्रक्रिया मानव के अपने व्यक्तित्व का संतुलन बनाए रखने की योग्यता उत्पन्न कर उसे सभ्य, सुसंस्कृत, सुयोग्य एवं सहृदय होने का अधिकार प्रदान करती है। मनुष्य के आंतरिक व बाह्य दृष्टिकोण के विकास हेतु शिक्षा का महत्व अथाह हैं। जिसमें नारी शिक्षा को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया। आज हमारे समाज को विकास की ओर अग्रसरित करने में महिलाओं का विशेष सहयोग प्राप्त होता हैं। क्योंकि हमारे समाज में स्त्रियां ना ही केवल गृहिणी है अपितु वह शिक्षा प्राप्त कर अपने परिवार और समाज दोनो को अनुशासन एवं सफलता प्राप्त करने का सही मार्गदर्शन कर रही हैं। संगीत की शिक्षा से वह अपनी संस्कृति का सम्मान व गौरव बढ़ा रही है।

आदिकाल से ही, कोमलता की व्यवस्था में पत्नी नारी जाति सुकुमारता व कोमलता के प्रतीक संगीत को अपनाती रही अन्य गुणों के साथ-साथ ललित कलाओं से प्रेम व संगीत से रूचि नारी जाति में स्वाभाविक रूप से आई। हमारे आदिकालीन ग्रन्थ, वेद भी उपरोक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं तथा उस काल में भी जहा संगीत का वर्णन है, वहा नारी का उल्लेख प्राप्त होता हैं।

उस काल में गृहस्थ कार्यों के अतिरिक्त नारी की सांस्कृतिक उन्नति भी परमावश्यक मानी जाती थी तथा संगीत की शिक्षा ही उसकी सांस्कृतिक उन्नति की प्रसाधन मानी जाती थी। ऋग्वेद में गाती हुई स्त्रियों का वर्णन प्राप्त होता है-

'समुत्वा धीमिरस्वरन्हिवती सप्रजामयः विप्रमाजा विवस्वतः।'[3]

इस समय में देश-पूजा के अतिरिक्त वीर पूजा, धार्मिक पर्वों एवं सामाजिक उत्सवों जैसे-शादी,

---

शोध छात्रा, संगीत एवं मंच कला संकाय, काशी हिन्दु विश्वविद्यालय, वाराणसी

जन्मोत्सव आदि के समय भी नाचने गाने की प्रथा अच्छी तरह चल पड़ी थी। वीर पूजा में अपने पूर्वजों को जिन्होंने देश, जाति अथवा धर्म के लिये अनेक कष्ट सहन करते हुये प्राण दे दिये थे, गुणगान करते थे और इसी प्रकार से वे उनकी स्मृति बनाये रखते थे। धार्मिक उत्सव प्रायः खेतों में बोये हुये धन धान्य की वृद्धि की कामना लेकर ही हुआ करते थे। कुछ ऐसे पर्व भी थे जिनमें बाल-बच्चों की वृद्धि एवं पारिवारिक सुख की कामना को लेकर भी होते थे। इनमें जहाँ धन-धान्य की वृद्धि के सम्बन्ध के उत्सव होते थे, वहाँ बड़ी उमंग और लगन के साथ मनाये जाते थे। फसल तैयार होने पर हर्षोन्माद के साथ सभी स्त्री पुरुष, गाकर, नाचकर उत्सव मनाया करते थे।

संगीत में गायन, वादन व नृत्य इन तीनों कलाओं का समावेश होने के कारण ऋग्वेद में कई स्थानों पर नृत्य कुशल स्त्रियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है- 'ऋधि पेशांसि, वपेत न तूरि वापोरातु वक्ष उस्त्रोव वजदम्।' इसी भाँति तैत्तिरीय संहिता और मैत्रायिणी संहिता में भी स्त्रियों की संगीत नृत्याभिरूचि का उल्लेख ही है।[4]

तत्पश्चात गन्धर्व शिक्षा अर्थात् गायन व नृत्य की शिक्षा द्वारा उसमें सांस्कृतिक विकास की कल्पना की जाती है। इसके पश्चात ही वह विवाह योग्य समझी जाती थी अर्थात् ये सब गुण कन्या में होने आवश्यक थे। इस बात की पुष्टि करता है कि अन्य गुणों के साथ ही कन्या में संगीत शिक्षा में भी निपुण होना परमावश्यक था। संगीत के क्षेत्र में नारी का अपना एक विशेष स्थान था। जहाँ एक ओर वह गृह कुशल थी, वहीं साथ-साथ वह संगीत शिक्षा ग्रहण करती थी तथा सामगान में अपना एक विशेष स्थान रखती थी।

महाभारत काल में भी स्थान-स्थान पर स्त्रियों की संगीत शिक्षा के विषय में उल्लेख प्राप्त होते हैं। उत्तरा की संगीत व नृत्य-शिक्षा अर्जुन द्वारा हुई थी तथा महाभारत के विराट पर्व में इसका स्पष्टतः उल्लेख है कि क्षत्रिय स्त्रियाँ नृत्य, संगीत आदि ललित कलाओं का भी अध्ययन करती थीं।[5] इस प्रकार की शिक्षा क्षत्रिय कुल के अतिरिक्त कदाचित् समाज के अभिजात वर्ग में भी प्रचलित थी। अतः स्पष्ट है कि साम-गायन आदि ब्राह्मण कुल की स्त्रियाँ करती थीं, साथ ही क्षत्रिय कुल में भी संगीत व नृत्य कला का प्रचलन था तथा अभिजात वर्ग की इससे अछूता नहीं था अर्थात् संगीत की प्रथा प्रायः सभी वर्गों में समान रूप से थी।[6] परन्तु पहली से दूसरी शताब्दी तक आते-आते संगीत स्त्री समाज में केवल दो ही वर्ग में रह गया था- या तो वह उच्च वर्ग की महिलाओं में था अथवा निम्न वर्ग की महिला समाज में। जन साधारण में व मध्यम वर्ग के नारी समाज में संगीत का शनैः-शनैः ह्रास होने लगा था। इसका कारण था कन्याओं का अल्प आयु में विवाह होना। क्योंकि उनकी सम्पूर्ण संगीत शिक्षा विवाह के पूर्व समय में ही होती थी तथा विवाह के पश्चात वे गृहस्थ जीवन में संलग्न हो जाती थीं। अल्प आयु में विवाह होने के कारण वे संगीत शिक्षा न ग्रहण कर पाती थीं।[7] कन्या की विवाह के पूर्व की शिक्षा-दीक्षा का महत्व अब समाप्त होने लगा था। विवाह के पूर्व के अल्प समय में धर्म शिक्षा, गृहस्थ कार्यों की शिक्षा एवं संगीत की शिक्षा, इन तीनों का अवकाश न होने के कारण गृह कार्य की जो उस अल्प समय में सहज रूप से दी जा सकती थी, वही आवश्यक बन गई तथा स्त्री-समाज से संगीत शनैः-शनैः दूर होने लगा। इस कारण वे संगीताभ्यास को महत्व न दे सकीं और संगीत नारी समाज से दूर जा पड़ा।

पिछले सात सौ वर्ष में केवल संगीत ही नहीं वरन् साधारण शिक्षा भी नारी समाज से दूर होने लगी। नारी को न तो अब वेदाध्ययन की सुविधा रही और न ही संगीत या कला अध्ययन का समय गृह के कार्यों तक ही उसकी दिनचर्या सीमित हो गया। मुस्लिम काल में हिन्दू नारी की शिक्षा-दीक्षा बिल्कुल ही पतन की ओर चली गई। मुसलमान राज्य होने के कारण हिन्दू स्त्रियों में पर्दा प्रथा अत्यधिक बढ़ गई थी। उनको संगीत-शिक्षा पाना तो दूर, घर से बाहर निकलना भी समाप्त प्राय सा हो गया था। अतः केवल वे स्त्रियाँ जो संगीत व

नृत्य द्वारा जीविकोपार्जन करती थीं, उनमें ही लिखने-पढ़ने व संगीत की शिक्षा रह गई थी। संगीत चूँकि उनकी जीविका का साधन था इस कारण वे छोड़ भी नहीं सकती थीं।

संगीत का नारी समाज से दूर होने का तीसरा कारण यह है कि नारी समाज का एक वर्ग विद्या व कलाओं में निपुण होने के साथ-साथ उससे जीविकोपार्जन करता था, जो सामाजिक नीति के विरूद्ध था।[8] इस कारण साधारण जनता में उनके प्रति विरोध था। सभ्य वर्ग की स्त्रियों को उन जीविका प्राप्त करने वाली स्त्रियों से भिन्न दर्शाने के लिए समाज ने विद्या व संगीत-शिक्षा को नारी के लिए अनुचित बताया और इसके पूर्व की कन्या में अपनी समझ हो और वह संगीत में रूचि उत्पन्न कर सके उसका 9-10 वर्ष में विवाह करके उस पर गृहस्थी का बोझ डाल दिया जाता था।

यही कारण था कि उन्नीसवीं शताब्दी तक आते-आते संगीत व शिक्षा केवल संगीत द्वारा जीविको पार्जन करने वालों के लिये ही उपयुक्त समझी जाती। अतः यदि किसी घर की स्त्री के सम्बन्ध में यह पता चले कि वह संगीत में रूचि रखती है तो यह परिवार वालों के लिए लज्जा की बात समझी जाती थी।

इस काल में संगीत का नारी से सम्बन्ध एक अन्य रूप में भी प्राप्त होता है। दक्षिण भारत में मंदिरों की देवदासी प्रथा इसी का प्रतीक है। मन्दिरों में ईश्वर की पूजा हेतु तथा उसे प्रसन्न करने के लिए, ईश्वर के समक्ष नृत्य संगीत प्रस्तुत करती थी। ये देवदासियाँ बाल्यकाल से ही ईश्वर की पत्नियाँ कही जाती थीं। हमारे भारतीय समाज को उन देवदासियाँ व dancing gir से तथा गणिकाओं का हृदय से आभारी होना चाहिये जिन्होंने समाज से तिरस्कृत होने पर भी अपनी नृत्य कला व अपने गुण को त्यागने के बजाय उसे बढ़ाती रहीं। मानव समाज को उन गणिकाओं का अभिनन्दन करना चाहिये जो अपनी रूचि की तीव्रता के कारण वर्षों के अभ्यास द्वारा प्राप्त कला को केवल समाज के भय से त्याग ही नहीं वरन् समाज के समक्ष अपनी गायन कला का प्रदर्शन करके उसे अतीत की झाकियाँ दिखाती हैं।[9]

कला की ये अधिष्ठात्रियाँ दिखाती हैं कि वे पुरुष से प्रत्येक क्षेत्र में होड़ ले सकती हैं। कला के क्षेत्र में तो पुरुष चाहे कितने ही परिश्रम से संगीत का उच्च स्तर प्राप्त कर लें परन्तु नारी की स्वाभाविक कोमलता से प्राप्त सुमधुर कंठ व नृत्य की सहजता वह कभी नहीं पा सकता। कुछ वर्ष पूर्व तक भारत के तंजौर प्रदेश के मंदिरों में ये गायन व नृत्यविद स्त्रियाँ प्रति प्रातः व संध्या अपनी कला का प्रदर्शन करती थी जिसकी शिक्षा स्वयं गायक व नर्तक दिया करते थे।

आज भातखण्डे जी व विष्णु दिगम्बर जी के सतत् प्रयत्नों से संगीत जन-जन में फैल रहा है। प्रत्येक घर के लोग उसे अपनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। रेडियो के माध्यम से गायक-गायिका नारी समाज के लिये वर्जित भी नहीं है। अनेक कान्फ्रेंसों में गायिकायें बुलाई जाती हैं। आज माणिक वर्मा, हीराबाई बडोदेकर, गंगूबाई हंगल, सिद्धेश्वरी देवी, रोशन कुमारी आदि ने हमारे समक्ष नारी की कलात्मक रूचिस्तर को प्रदर्शित किया है।[10] आज की नारी प्राचीन वेदकालीन नारी की भाँति विवाह के पूर्व अन्य विद्याध्ययन के साथ संगीत कला का भी अध्ययन करती है। विशेष रूचि रखने वाली नारियाँ रेडियो में भी गाती हैं तथा उच्च स्तर प्राप्त करने पर संगीत सभाओं में भी आदर का स्थान प्राप्त करती है। परन्तु फिर भी हमारा आज का समाज उतना अधिक विकसित नहीं है कि वह नारी को संगीत द्वारा जीविकोपार्जन के लिये छोड़ दें। स्कूलों में संगीत शिक्षा ग्रहण करना अनुचित नहीं माना जाता और न रेडियो में गाना ही। परन्तु दुःख है कि समाज अब भी उतना उन्नति नहीं कर पाया हैं कि नारी को विवाह के पूर्व या पश्चात सभाओं में गाने को छोड़ दें और उसे जीविकोपार्जन का साधन बनाने दे। क्योंकि यद्यपि मानव ने बहुत प्रगति कर ली है परन्तु फिर भी उसके मस्तिष्क से समाज का वह स्तर नहीं भूलता जब वह कला का उद्धार करने

वाली उन प्राचीन नारियों को निःकृष्ट समझता था। परिणामतः हमारी गायिकाओं की संख्या प्रतिदिन कम हो रही है "who alone pfeserve the memory of a fine Indian art " अत्यन्त खेद का विषय है कि समाज ने नारी को सगीत के लिए उत्तेजित तो किया, परन्तु प्राचीन काल में उसे मन्दिर की देवदासी बनाने के लिए, मध्य व मुसलमान काल में उसके द्वारा आनन्द उठाने के लिये ओर आज भी यद्यपि उसको कान्फ्रस में बुलाया जाने लगा है परन्तु उसका हृदय से कितना सम्मान है, यह स्वयं पुरुष प्रधान सांच रखने वाले समाज के सम्मुख एक प्रश्न चिन्ह है।

संदभ ग्रन्थ सूची

1. संगीत निबंध संग्रह-श्रीवास्तव प्रो0 ही चन्द्र (नवम् आवृति-2006), संगीत सदन प्रकाशन मलाका, इलाहाबाद-211001, पृ0 - 24
2. संगीत मैनुअल-शर्मा डॉ0 मृत्युन्जय (2002) एच0जी0 पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली-110062, पृ0 53
3. संगीत रत्नावली-'यमन' अशोक कुमार (प्रथम संस्करण-2008) अभिषेक पब्लिकेशन्स, पृ0 -70
4. हिन्दुस्तानी संगीत : परिवर्तन शीलता, बनर्जी डॉ0 आसित कु0 , शारदा पब्लिशिंगहाउस दिल्ली, 1992
5. हिन्दुस्तानी शास्त्रीय गायक की शिक्षा-प्रणाली- श्रीखण्डे डॉ0 सुरेश गोपाल , अभिषेक पब्लिकेशन्स

सामवेद- गांधर्ववेद

अमृता कर्मकार

सामवेद संगीत कला का आदि ग्रंथ है। इसकी रचना आदिकाल में महान अनुभवी एवं ऋषियों द्वारा हुई। इस ग्रंथ से संगीत के गाए जाने वाले मंत्रों का संग्रह किया गया। इसी ग्रंथ द्वारा वर्णित उदात्त-अनुदात्त और स्वारित आदि सात स्वर आज भी भूमण्डल को अपनी, स्वर लहरियों से मुग्ध कर रहे हैं। सामवेद पूर्णतया संगीतमय है।

साम संगीत से ही भारतीय संगीत का विकास हुआ। गांधर्ववेद को सामवेद का ही उपवेद माना गया है। संगीत का मूल स्त्रोत सामवेद है। सामवेद एक ऐसा वेद है जिसके मंत्र यज्ञों में देवताओं की स्तुति करते पाये जाते थे। ऋचाओं के ही संगीतमय परायण से सामगान का प्रथम विकास ऋषियों द्वारा किया गया। कवि ने इसकी सुन्दर कल्पना की है:-

''प्रथम साम तब तपोवने''

अर्थात जब माता भारती के ज्ञानाकाश में विविध विधाओं का उषाकालीन प्रकाश प्रस्फुटित हुआ, उसी समय ऋषियों के तपोवन में सामगान के स्वर सुनाई देने लगे। छांदोग्य उपनिषदों में वर्णित है:-

''ऋचि अध्यूढं साम गीयते''

जिस प्रकार सूर एवं तुलसी के पदों को संगीत के रागों में बाँध कर आज गाया जाता है, उसी प्रकार से सामगान में ऋचाओं का गायन कुछ पद जोड़कर किया जाता है। सामगान का संबंध वेदाध्यायी वर्ग से रहा है। ''सुखसागर'' ग्रंथ के तीसरे स्कंध में सात स्वरों की उत्पत्ति के विषय में कहा है कि ''ब्रम्हाजी के रोम से आष्णिक छंद उनकी त्वचा से गायत्री छंद, मांस से त्रिष्टुप छंद, उनके स्नायु से अनुष्टुप छंद, हडिड्यों से जगती छंद मज्जा से पंक्ति छंद तथा प्राणों से वृहत छंद उत्पन्न हुआ, ठीक उसी प्रकार उनकी क्रीडा से सात स्वर निषाद, ऋषभ, गांधार, षड़ज, मध्यम, धैवत, पंचम उत्पन्न हुए। इन स्वरों से यज्ञ पाठ आदि के समय गाए जाते थे और इसी सामवेद का उपवेद ''गांधर्ववेद नाम से विख्यात रहा।

सामवेद के द्वारा संगीत को नियम और विधान से आबद्ध कर दिया गया। पहले सामगान में केवल तीन स्वर उदात्त, अनुदात्त और स्वरित प्रयोग होते थे। इन छंदों को एक विचित्र स्वर विन्यास के साथ गाने की रीति उस समय थी। सामगान के मुख्य तीन भाग होते थे प्रस्ताव, प्रतिहार और उदगीत। उनके तीन उपांग-हिंकार, उपद्रव व निधान थे, जो जनरंजन, मनोरंजन तथा आत्मरंजन हेतु जनसाधारण द्वारा प्रयुक्त होता था। उसी प्रकार सामवेद ग्रंथ में ध्वनि और प्रतिध्वनि के प्रकार एवं फल, वर्ण स्वर और व्यंजन की उत्पत्ति तथा उनकी प्रयोग विधि, स्वरलहरियाँ गायन विज्ञान, रस तथा अनेक प्रकार सूक्ष्म ज्ञान भर गया था। यह ग्रंथ आज अप्राप्त है। प्राचीन भारत की संगीत सरिता का दृश्य स्वरूप हमें सर्वप्रथम सामवेद के द्वारा ही अभिव्यंजित होता है। इसके साथ ही सामवेद को अन्य वेदों के यथार्थ ज्ञान की कुँजी भी माना जाता है। साम शब्द का मूल अर्थ है गान अथवा गेय वस्तु अर्थात जो मंत्र

पूर्व शोध छात्रा, वि0वि0 संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि, दरभंगा

गाये जाते है वह साम कहलाते है और जब इन्हीं मंत्रों व गेय रचनाओं को जिसमें काव्य तथा संगीत का मंजुल समन्वय होता हो तथा एक जगह संग्रहित किया गया हो उसे हम सामवेद की संज्ञा देते हैं।

सामवेद आर्यो की संगीतज्ञता का ज्वलंत उदाहरण है। आर्यों की मान्यता थी कि संगीत लोकरंजन एवं ईश्वर रंजन के लिए उपर्युक्त साधन है। सामवेद की सहस्त्रों शाखाओं में से केवल तीन ही शाखाएँ है:-

"जैमिनीय, कौथुनि तथा राणायनीया"।

इन गीतों का संकलन संहिता तथा गान ग्रंथों में उपलब्ध है तथा इनका यथार्थ स्वरमय रूप गुरू-शिष्य परम्परा से ही प्रचलित रहा है।

संदर्भ-

1. शर्मा डॉ0 स्वतंत्र शर्मा, भारतीय संगीत एक ऐतिहासिक विश्लेषण- डॉ0 स्वतंत्र शर्मा
2. नारायण डॉ0 पुष्पम, भैरवी- संगीत शोध पत्रिका अंक (5) सम्पादक, डॉ0 पुष्पम नारायण

मानव स्वास्थ्य पर संगीत चिकित्सा का प्रभाव

डॉ0 वीना शर्मा

संगीत भारत की सांस्कृतिक विरासत की अनमोल निधि है जो सृष्टि के कण-कण में व्याप्त है। भौतिकता से परे अंश चेतना को अध्यात्म की गंगा में अवगाहन कराने वाला संगीत मनुष्य के लिए तो विधाता की अनुपम देन है। नैराश्य की शून्यता को आनन्द के अमृतमय ज्योति-स्पर्श से प्राणिक ऊर्जा प्रदान करने वाला संगीत पार्थिवता से दूर अनंत का आकर्षक आह्वान है एवं चराचर को सम्मोहित करने वाला अमोघ सिद्धि मन्त्र है। संगीत मानव के मनोगत भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। संगीत का सम्बन्ध बुद्धि की अपेक्षा हृदय से है। संगीत की भाषा वाणी एवं शब्दों से परे है। यह मानव के हृदय का गान है। जब सारे भौतिक सुख जनरंजन की भावना और आवश्यकता को तुष्ट करने में निष्फल और निष्प्राण सिद्ध होने लगते हैं तब संगीत के सुर ही मानव की सुख एवं शान्ति का आधार बनते हैं। जीवन का कोई भी अध्याय ऐसा नहीं है जो संगीत से शून्य हो चाहे पारिवारिक प्रसंग हो, सामाजिक कार्य हो, त्यौहार हो अथवा अन्य क्रियाकलाप सभी में संगीत समुपस्थित है। संगीत न केवल चेतना के विभिन्न तारों को स्पर्श कर अनेक ग्रंथियों को निर्बन्ध कर देता है बल्कि वह तनाव से मुक्त कर शारीरिक पीड़ा से अवमोचित करने वाला अमोघ साधन भी है।

1. इस प्रकार की अद्‌भुत संगीत कला मनुष्य के शारीरिक, मानसिक व भावनात्मक विकास के साथ ही स्वास्थ्य के लिए भी अत्यन्त लाभकारी रही है। इसका प्रयोग भारत वर्ष में प्राचीन काल से ही मानव के रोग निवारण हेतु किया जाता रहा है। प्राचीन काल के अनेक ग्रन्थों में संगीत के द्वारा मानव के रोगोपचार की विधि वर्णित है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में निहित मन्त्रों का प्रयोग मनुष्य की शारीरिक गतिविधियों एवं बीमारियों के उपचार हेतु किया जाता था। चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, वासवराजीव और अग्निपुराण में भिन्न-भिन्न रोगों के लिए भिन्न-भिन्न कालों का वर्णन है। हमारे भारतीय दर्शन में नाद की सर्वोच्च शक्ति को स्वीकारा गया है। हमारे ऋषि-मुनियों ने नाद को नाद ब्रह्म का स्वरूप माना है जो सम्पूर्ण सृष्टि का आधार है। इसी नाद से संगीत की उत्पत्ति मानी गई है। स्वर साधना नाद ब्रह्म की ही साधना है। हमारे ऋषि-मुनि इसी नाद ब्रह्म की साधना अर्थात् स्वर साधना के द्वारा अपने भीतर की छिपी हुई शक्तियों को जागृत कर अनेक सिद्धियाँ प्राप्त करते थे। चारों वेदों में सामवेद ही पूर्णतया संगीतमय है। हमारे ऋषिमुनि सामवेद के मन्त्रों का सस्वर उच्चारण कर जनमानस में व्याप्त रोगों का निवारण करते थे।

चरक ऋषि ने अपनी पुस्तक "सिद्धिनाथ" के छठे अध्याय में संगीत के चिकित्सीय प्रभाव का वर्णन किया है। आर्युर्वेद के अनुसार दोष एवं धातु के असंतुलन से ही बीमारियों का जन्म होता है। शरीर और मस्तिष्क में इनका संतुलन बनाये रखना ही चिकित्सकों का कार्य होता है। सांगीतिक स्वर लहरियाँ इसे संतुलित करने में सक्षम हैं। अतः संगीत द्वारा चिकित्सा भी संभव है।

अतिथि प्रवक्ता (सितार) इलाहाबाद डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

सामवेद में भी रोगों के निवारण के लिए रागों के प्रयोग का वर्णन है। आचार्य शारंगदेव ने अपने ग्रंथ "संगीत रत्नाकर" के स्वाराध्याय में स्वरों की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए विभिन्न स्वरों से सम्बन्धित स्नायुओं, चक्रों और शारीरिक अंगों का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। विशेषतः सामवेद की ऋचाओं का गायन हृदय रोगियों के लिए बड़ा लाभकारी होता है। सामवेद की स्वर लहरी शरीर के रक्त संचालन पर अनुकूल प्रभाव डालती है जिससे रक्त में हीमोग्लोबिन को अधिक ऑक्सीजन मिल जाता है।

ज्यौतिष शास्त्र में मनुष्य की स्थिति और स्वास्थ्य को प्रभावित करने वाले ग्रहों को शांति प्रदान करने के लिये अलग-अलग मन्त्रों का विवेचन है। अश्विनी कुमार के भोज तन्त्र में मंत्रों द्वारा रोगोपचार का उल्लेख मिलता है। प्राचीन काल में संगीत ऋषि तुंबरू गांधर्ववेद अर्थात् संगीत चिकित्सा के विद्वान थे उन्हें प्रथम संगीत चिकित्सक कहा जाता है। उन्होंने अपनी पुस्तक संगीत "स्वरामृत" में लिखा है कि ऊँची और आसमान ध्वनि का वायु पर, गंभीर और स्थिर

ध्वनियों का पित्त पर और कोमल तथा मदु ध्वनियों का कफ के गुणों पर प्रभाव पड़ता है। जो ध्वनि समूह तीनों गुणों से युक्त हो वह निर्दोष पर प्रभाव डालता है, और ऐसी ध्वनियाँ सन्निपात कहलाती हैं। चूँकि कफ, पित्त और वायु के असंतुलन से ही बीमारियाँ होती हैं, अतः अगर सांगीतिक ध्वनियों द्वारा इन्हें सन्तुलित कर लिया जाय तो बीमारियों की संभावनाएँ ही समाप्त हो जायेंगी।

भारतवर्ष में ही नहीं अपितु विदेशों में भी प्राचीन काल से ही मानव के रोगोपचार के लिए संगीत चिकित्सा का प्रयोग किया जाता रहा है। ईसा-पूर्व पन्द्रह सौ के लगभग लिखे गये मिस्र के "मेडिकल पेपिरी" नामक ग्रन्थ में प्रजनन-क्षमता बढ़ाने हेतु संगीत के प्रयोग का विवरण मिलता है।

डॉ0 एडवर्ड पोडोलस्की ने अपनी पुस्तक "म्यूजिक फॉर हेल्थ" में चार हजार वर्ष पूर्व संगीत का चिकित्सा के रूप में प्रयोग के विषय में लिखा है कि- "चार हजार वर्ष पूर्व मिस्र के पादरी, चिकित्सक के पास संगीत का एक पसंदीदा मंत्र था जिसका महिलाओं की प्रजनन क्षमता पर अनुकूल प्रभाव बताया जाता था"। ग्रीक सभ्यता में भी संगीत द्वारा चिकित्सा के प्रमाण प्राप्त होते है। अन्य देशों की भाँति पश्चिम जर्मनी में संगीत चिकित्सा का इतिहास काफी प्राचीन माना जाता है। वहाँ प्राप्त एक वाद्य यंत्र पर अंकित है कि किसी भी प्रकार के दुख दर्द को दूर करने में जब सभी प्रकार की औषधियाँ असफल हो जाती हैं तो संगीत उपचार ही काम आता है।

आज पुनः मनुष्य का ध्यान संगीत में निहित रोग निवारण की क्षमता की ओर आकृष्ट हुआ है। संगीतज्ञ, मनोवैज्ञानिक तथा चिकित्सा शास्त्र आज इस बात को स्वीकार करने लगे है कि संगीत मनुष्य के सम्पूर्ण शरीर पर चिकित्सीय प्रभाव डालता है। कुछ प्रयोगों से यह पता चला है कि संगीत के द्वारा उच्च एवं निम्न रक्त चाप तथा श्वांस क्रिया को नियंत्रित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त दर्द एवं थकान को दूर करने, तनाव को कम करने, स्मरण शक्ति को बढ़ाने तथा अनिद्रा रोग के निवारण में संगीत चिकित्सा उपयोगी सिद्ध हुई है। चिकित्सक एवं मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि मानसिक तनाव के कारण ही अनिद्रा, डिप्रेशन जैसी अनेक बीमारियाँ होती हैं जिससे बेचैनी और उत्तेजना बढ़ जाती है। संगीत इस प्रकार की बेचैनी और उत्तेजना को धीर-धीरे कम करने में सहायता प्रदान करता है तथा चित्त को प्रसन्न कर तनाव से मुक्त करता है एवं जब मानव तनाव से मुक्त हो जाता है तो शरीर के अनेक मानसिक एवं शारीरिक रोग धीरे-धीरे स्वतः समाप्त हो जाते हैं एवं मानव संतुलित व्यवहार करने लगता है। अनेक संगीतज्ञों एवं मनोचिकित्सकों ने संगीत को सभी मानसिक तनाव के निराकरण की अचूक औषधि कहा है। अतः संगीत के इस चमत्कारी स्वास्थ्यवर्धक प्रभाव को देखते हुए जनसामान्य को इसे दैनिक जीवन का अंग बनाना चाहिए।

वर्तमान में विश्व में संगीतज्ञ, वैज्ञानिक तथा चिकित्सक संगीत द्वारा चिकित्सा हेतु नये-नये शोध एवं प्रयोग कर रहे हैं। पाश्चात्य देशों में तो मानव रोगों के उपचार हेतु संगीत द्वारा चिकित्सा की जा रही है। वहाँ विभिन्न अस्पतालों में रोगियों को संगीत सुनाया जाता है जिससे वे जल्दी ही स्वास्थ्य लाभ करते हैं। न्यूयार्क के डॉ0 पोडोलस्की और इंग्लैंड के डॉ0 मिथु ने अपने-अपने अनुभवों के आधार पर बताया है कि संगीत के स्वर शरीर में एक विशेष प्रकार का कंपन पैदा करते हैं, जिससे रक्त संचरण तीव्र हो जाता है, फलस्वरूप विषैले एवं विजातीय तत्व विचलित होकर निसर्ग-मार्गों से निकल जाते हैं, जिससे रोगी को स्वस्थ होते देर नहीं लगती। वाल्टर एच वोल्स ने भी पांडु, यकृत एवं अपच जैसे रोगों में संगीत का प्रभाव औषधियों से भी अधिक गुणकारी सिद्ध किया है।

रूसी वैज्ञानिक डॉ0 वेरिवनिस्की ने अपने प्रयोग द्वारा सिद्ध किया है कि कुछ रागात्मक बंदिशों द्वारा अनिद्रा दूर की जा सकती है।

अमेरिका के डा0 एस0जे0 लोडन ने गायकों वादकों एवं संगीत में रूचि लेने वालों का स्वास्थ्य परीक्षण करके यह पाया है कि वे दूसरों की अपेक्षा कहीं कम बीमार पड़ते हैं।

भारत वर्ष में भी अनेक चिकित्सक, संगीतज्ञ एवं मनोवैज्ञानिक संगीत की चिकित्सा के द्वारा मनुष्य के शारीरिक एवं मानसिक रोगों के निवारण हेतु निरन्तर शोध एवं प्रयोग कर रहे हैं। भारत के सुप्रसिद्ध संगीत चिकित्सक भास्कर खांडेकर विगत 6 वर्षों से संगीत चिकित्सा के क्षेत्र में कार्य करते हुए हजारों रोगियों की चिकित्सा कर चुके हैं।

"वर्ष 1965 से रोगहारी संगीत का अध्ययन एवं उस पर अनुसंधान कर रहे डॉ0 बालाजी तांबे ने बताया कि रोगहारी संगीत से अनेक कठिन रोगों को ठीक किया जा सकता है। उन्होंने कहा कि "ॐ" विश्व व्यापी संप्रेषण के लिए एक आवाज है, जिसे सभी रोगहारी संगीत में मूल तत्व के रूप में प्रयोग किया जा सकता है। "ॐ" स्वरूप ध्यान योग में चिकित्सकीय गुण-धर्म के अलावा एक बहुत ही रोगहारी प्रभाव होता है। इसलिए "ॐ" का गायन सभी रोगहारी संगीत के लिए जरूरी है। डॉ0 तांबे रोगियों के इलाज में नियमित रूप से "ॐ" गायन एवं संगीत चिकित्सा का प्रयोग करते आ रहे हैं।

डॉ0 बी0 चौधरी, वरिष्ठ मनोचिकित्सक, अपोलो अस्पताल दिल्ली के अनुसार, संगीत-चिकित्सा आत्म-विमोह, गाइनोफ्रेनिया, मंद बुद्धि अथवा मानसिक विकृतियों वाले बाल, युवा और वृद्ध सभी आयु वर्ग के रोगियों के लिए उपयोग में लायी जा रही है। यह पद्धति सुनने या बोलने में अक्षम या दृष्टि दोष वाले अथवा तालु में छिद्र वाले रोगियों के लिए भी उपयुक्त सिद्ध हुई है।

भारतीय संगीत में कई ऐसे राग हैं जो कई रोगों की चिकित्सा में लाभकारी सिद्ध हुए हैं। वैज्ञानिकों ने खोज किया है कि मलेरिया, अनिद्रा, मिर्गी, क्षय रोग, कब्ज, टायफायड़ और अन्य बहुत से रोग हैं जो विभिन्न रागों जैसे हिंडोल, मारवा, बिलावल, तिलंग, रामकली, मुल्तानी खमाज इत्यादि के गायन वादन से ठीक किये जा सकते हैं। इसी प्रकार अड़ाना, दरबारी कान्हड़ा, कालिंगड़ा आदि राग भी विभिन्न रोगों के उपचार में सहायक सिद्ध हुए हैं। राग जैजैवन्ती का गायन भी रोग निवृत्त में विशेष प्रभावी है तथा राग भैरवी अच्छी निद्रा और रोगियों कोशांति प्रदान करती है। स्मरणशक्ति बढ़ाने में राग शिवरंजनी तथा तनाव को कम करने में राग तोड़ी सहायक सिद्ध हुई है।

अनेक संगीतज्ञ भी संगीत के चिकित्सीय प्रभाव को जानने के लिए विभिन्न प्रयोग कर रहे हैं। समाचार पत्र पांचजन्य में प्राकृति साक्षात्कार में पं0 जसराज जी के अनुसार सन् 1976 में उन्होंने टाटा कैंसर इंस्टीट्यूट में एक मरणासन्न बालक को एक घंटा संगीत सुनाकर चलने लायक कर दिया था और वह बालक एक महीना दस दिन जीवित रहा।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि संगीत चिकित्सा के द्वारा मनुष्य के विभिन्न रोगों का निवारण होता है। इस हेतु मनोवैज्ञानिकों, चिकित्सकों

एवं संगीतज्ञों द्वारा अनुसंधान एवं प्रयोग हो रहे हैं परन्तु संगीत की चिकित्सा पद्धति पूर्णरूपेण व्यवस्थित न होने के कारण तथा जनमानस को जानकारी प्राप्त न होने के कारण यह समाज में चिकित्सा के क्षेत्र में अपना स्थान नही बना पा रही है। इस चिकित्सा पद्धति में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह पद्धति प्राकृतिक है अतः इसका कोई दुष्ट परिणाम नहीं होता, इसके प्रयोग से समाज का प्रत्येक वर्ग लाभान्वित हो सकता है। अतएव संगीत के इस चमत्कारी स्वास्थ्य वर्धक प्रभाव को देखते हुए इसका प्रचार-प्रसार करना अत्यन्त आवश्यक है जिससे अधिक से अधिक जनमानस लाभान्वित हो सके।

यहाँ पर यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि भारत में संगीत का चिकित्सा के क्षेत्र में उपयोग नया न होने के कारण यह ज्यादा सुगमता से ग्राह्य हो सकता है। अतः संगीतज्ञ, चिकित्सा शास्त्री तथा मनोवैज्ञानिक संगीत के विभिन्न बिन्दुओं पर गंभीरतापूर्वक विचार कर शोध एवं प्रयोग करें। इसके साथ ही सरकार संगीत चिकित्सा के पाठ्यक्रम को देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में शामिल करे तथा चिकित्सालयों में संगीत चिकित्सकों की नियुक्ति की जाये। इस प्रकार सभी के सम्मिलित प्रयास द्वारा सफलता प्राप्त होने पर भविष्य में संगीत की चिकित्सा पद्धति को भी अन्य चिकित्सा पद्धति के समान मान्यता प्राप्त होगी।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. शर्मा प्रो० स्वतंत्र, सौन्दर्य, रस एवं संगीत
2. मिश्र पंडित विजय शंकर, तबला पुराण
3. सिंह लावण्य कीर्ति, संगीत संजीवनी
4. शर्मा डॉ० सतीश, संगीत चिकित्सा

मिथिला के पेशेवर जातियों द्वारा गाये जाने वाले लोकगीतों का संगीत शास्त्रीय अध्ययन

डा0 ममता रानी ठाकुर

मिथिला में पाये जाने वाले विभिन्न पेशेवर जातियाँ मिथिला के अन्दर ऐसे अनेकों जाति के लोग रहते है जिनकी जीविका उनका पेशा रहा है। इनमें मुख्य नाई, पंडित (ब्राह्मण), लोहार, कुमार, मल्लाह धोबी, चमार, धुनियाँ हलुवाई, पमरिया, (देवहार) पचनियाँ, भाँट, बखों-बखोनी खोदपाड़नी, डोम, कुम्हार आदि। इन पेशेवर जातियों का कई पुस्तों से पेशा बरकरार रहा है एवं जीवन-यापन का एकमात्र साधन रहा है। इनके पेशे से समाज में सभी जाति एवं वर्ग के लोगों के बीच सामाजिक समरसता कायम रहता था। शादी जनेउ, मुण्डन, श्राद्ध-कर्म, एवं विभिन्न पर्व-त्योहारो के अवसर पर सभी पेशेवर जातियों की अपनी-अपनी अलग-अलग भूमिका रहती हैं, नाई का कार्य पंडित का सहयोग करना, कुम्हार का कार्य नये मिट्टी का बर्त्तन देना, मल्लाह, डोम का कार्य बाँस का बर्त्तन यथा डाली, चंगेरा, पथिया आदि की आपूर्ति करना, कुमार का कार्य लकड़ी से निर्मित समान देना। चमार का कार्यशुभ अवसरों पर ढोल-पिपही बजाना, हलुवांई का काम खाना, मिठाई आदि बनाना एवं उनके बदले उन्हें मजदूरी के अलावा भोजन, वस्त्र एवं वर्ष में एक बार अनाज मिलता था। समय के बदलते दौर में ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर बाढ़ एव सुखाड़ की मार पड़ती गई, जिससे लोग अपने मुख्य पेशे से मुँह मोड़कर जीविका के तलाश में शहर की ओर पलायन करने लगे। औद्योगीकरण की मार भी लघु एवं कुटीर उद्योगों पर पड़ा। मिट्टी के बर्त्तन, बाँस के बर्त्तन की जगह स्टील एवं प्लास्टिक के बर्त्तन ने ले लिया, ढोल-पिपही की जगह बैण्ड बाजा टी0 बी0, टेप-रिकार्डर एवं कैसेट या सी0 डी0 प्लेयर ने ले लिया।

ऐसे पेशेवर जातियाँ जिनका लोकगीत गाकर जीवन यापन करना मुख्य पेशा रहा है।

मिथिला में कुछ पेशेवर जातियाँ ऐसे है जिनका जीवन यापन का मुख्य स्त्रोत उनके द्वारा गाये जाने वाले लोकगीत ही रहे हैं। लोकगीत गाकर जीवन-यापन करने वाले विभिन्न पेशेवर जातियों में मुख्यतः निम्न हैं।

(अ) पमरिया
(आ) खोदपाड़नी
(इ) बखो बखोनी
(ई) पचनियाँ एवं
(उ) भाँट

पेशेवर जातियाँ द्वारा गाये जाने वाले गीतों का संकलन एवं वर्णन

(अ) पमरिया गीतः-

यों तो मिथिला में "पमरिया" लोकगीत गाने वाले एक पेशेवर जाति है जो पुत्र जन्म के अवसर पर सोहर गाकर सुनाकर पुरस्कार प्राप्त करते हैं। परन्तु ऐतिहासिक तथ्य इससे भिन्न है। जगदेव सिंह नामक किसी पमार राजपूत ने अपने वंश की वंशावली गाने के लिए एक विशेष जाति को भार दिया था जो पमारा नामक बीर रस की वस्तु गाते थे। इस गाने को पमारा एवं इस जाति के लोगों को पमार के नाम से जाना जाता है। कभी इस जाति

संगीत विभाग एल0एम0एस0एम0 कॉलेज, दरभंगा

के बूढ़े लोग 'पमारा' जानते एवं गाते थे इसी कारण इन्हें 'पमरिया' के नाम से जाना जाता है।

आज भी पमरिया जाति के लोग मिथिला के विभिन्न क्षेत्रों में बसे हैं एवं इनमे से कुछ अभी भी अपने पुराना पेशा को अपनाये हुए है। शोध के दौरान मैने कई गाँवों में जाकर पमार जाति के लोगो से मिली एवं उनसे बात चीत की। जयनगर-बेला, राँटी, मधुबनी, सोनरे, नेगुआ हाल्ट, तमुरिया सभी मधुबनी जिलान्तर्गत आते है जहाँ पमार जाति के लोग है। मनीगाछी, बाजीतपुर, महिनाम, पोहद्दी, भरवारा आदि दरभंगा जिला अंतर्गत आने वाले गाँव तथा सीतामढ़ी जिला के पुपरी एवं सुपौल जिला के परतापुर, त्रिवेणीगंज में भी पमार जाति के लोग रहते है। सिर्फ मधुबनी जिला के मिथिला-दीप गाँव में तीन सौ घर पमरियों का बसा है। हमने इन स्थानों पर रहने वाले, नसीब लाल पमरिया, पिता जमाल पमरिया, मुस्ताक पमरिया, पिता-हासिम पमारिया, कल्लू, जुबैल, इस्लाम एवं मन्नू पमरिया से बात चीत की। बातचीत के क्रम में जो बातें सामने आयी उसमें ऐसा लगता है कि इन्हें अब अपने पेशा से रूचि नहीं है। इनमें से कुछ दूसरे रोजगार एवं नौकरी में लग गये कुछ 10 से 20 प्रतिशत ही पेशे में हैं। उत्तर प्रदेश में पमरिया जाति के लोग सबसे अधिक है परन्तु ये लोग बिहार के पमरिया के यहाँ शादी नहीं करते हैं। उनका कहना है कि जब तक बिहार के पमारिया उस पेशे को नहीं छोड़ते वे लोग उनके यहाँ शादी नहीं करेंगे।

ये लोग भी, गाँवों में गरीबी के कारण, गाँव छोड़कर बहुत पूर्व ही शहर चले आये। शहर में पमरिया की टोली बनी हुई है जिनके बीच मुहल्ला, वार्ड बँटे हुए है। जहाँ वे जाकर पता लगाते है कि किससे घर शिशु का जन्म हुआ है एवं वहाँ वह घघरा पहन कर ढोलकी एवं करतार या मंजीरा बजाकर नाचते एवं गीत गाते हैं। इसमें एक ढोलकिया होता हैं एवं बाँकी नचनियाँ। इनके द्वारा गाये जाने वाले गीत अधिकांशतः शिशु जन्म के समय गाये जाने वाले सोहर होते हैं। परन्तु इससे अलग प्रकार का गीत भी ये गाते हैं जिसमें किसी औरत को बच्चा नही होने पर उसे ससुराल वाले लोगों से ताना सुनना पड़ता है, उसका वर्णन रहता है। ये नाचते हैं एवं अन्त में बच्चा को तेल लगाकर आर्शीवाद भी देते हैं जिसमें उसके स्वस्थ एवं दीर्घायु रहने की कामना करते है। बदले में उन्हें अनाज, कपड़ा एवं आभूषण भी मिलते है।

गाँवों की ओर फसल काटने के समय ये जाते है जिस समय इन्हें अनाज की प्राप्ति होती है बाँकी के समय ये शहर में ही रहते हैं।

पमरिया के गीत

गीत संख्या - 1

सुन्दरि लटि छिड़कावल वैसलि देहरि लागलि रे।
ललनारे ऐहि घड़ि पियाजी पवितौं कि दर्द घटवितहु रे।।
ललना रे मरिहें तू बाबा पंडित केहन घर देलनिह रे।।
ललना रे होएत भिनसर पह फाटल होरिला जनम लेलरे।
ललना रे जीवह तूँ बाबा पंडित नीके घर देलन्हि रे।।
रहितहुँ जँ वारि-कुमारि होरिला कत पवितहुँ रे।।

गीत संख्या-2

एक धनि अंगहुक पातरि दोसर गर्भ सँय रे।
ललना तेसर पियाक दुलारि दरद कोना सहत रे।।
अंग मोरा काँपय भालरि सन, ठोर पड़ल फुफड़ी रे।
ललना सगर देह लहरि मारि डाँर दरद करू रे।।
भात मोर भावै सारि के दालि मूंग केर रे।
ललना माछ मोरा भावै मांगूर मांस तितिर केर रे।।
पहिरन भावै पटोर के कानब होरिल के रे।
नाच भावै मोर पमरिया के आओर ननद के रे।।

उपरोक्त दोनों गीतों में पुत्र जन्म के पूर्व की वेदना की कल्पना एवं पुत्र जन्म के पश्चात की खुशी की चर्चा की गई है। निम्नलिखित गीत में बाँझ औरत (जिस औरत को बच्चा न होता हो) की व्यथा की चर्चा है। समाज में बच्चा न जनने वाली औरत एवं पुत्र न जनने वाली औरत को हेय दृष्टि से देखा जाता था। जिसकी झलक पमरिया के विभिन्न गीतों में मिलती है।

खोदपाड़नी गीत :-

खोद पाड़नी प्रायः नट जाति की होती है जो औरतों के शरीर पर गोदना गोदती है। गोदना गोदते समय ये गीत गाती रहती है। जिनमें दाम्पत्य जीवन का मधुर सौरभ भरा रहता है। खोदपाड़नी भी गोदना गोदकर गीत गाकर अपनी रोटी का जुगार करती है। नट जाति का पुरूष नृत्य कला में पारंगत होते है एंव नारी गोदना गोदने का कार्य करती है। मिथिला में नारी समाज गोदना का अधिक महत्त्व देती हैं। प्रायः नटिन के गीतों में श्रृंगार रस की प्रधानता रहती है। जिसके द्वारा वह गोदना गोदाने वाली नवयुवतियो को सुई गोदने की पीड़ा का अनुभव नहीं होने देती है। साथ ही इन गीतों के माध्यम से रसिक ग्रामवासियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करती है। वस्तुतः नटिनों के लोक गीत का एक आशय यह भी है कि वह सम्पतिशाली पुरूष को अपने वश में कर भोग विलास करती थी।

गोदना गोदाने की परम्परा का एक इतिहास यह भी है, कि पूर्व में एक पुरूष कई शादियाँ रचाते थे एवम् कुछ समय बाद उसे भूल भी जाते थे। शादी के पश्चात स्त्रियाँ अपने पति के नाम का गोदना गोदाती थी। उसी गोदना द्वारा लिखाये गये पति का नाम उसे अपने पति को उसकी पत्नी होने का विश्वास दिलाती थी। गोदना गोदवाने के एवज में स्त्रियाँ उन्हे रूपये, अनाज एवं धन देती थी। अब प्रायः गोदना गोदवाने का कार्य कुछ ग्रामीण महिलायें यदा-कदा करवाती है जिसके कारण इन पेशेवर जाति के लोगो का जीवन यापन होना दूभर हो गया है एवं ये अपने मुख्य पेशा से मुँह मोड़ चुके हैं।

गीत संख्या-3

उतरंग राजसएँ अएलए खेदपारनीरे जान।
जान, रे वैसी रे गेलै चानन विरीछिए रे जान।।
घर सँ बहार भेली सुन्दरी पुतहुए रे जान।
जान, रे दिअ हे सास खोदना के दमड़िए रे जान।

बखो-बखोनी गीतः-

जिस तरह पमरिया मुसलमान जाति का पेशेवर गायक हैं, उसी तरह बखो-बखोनी भी हैं। किन्तु दोनो के कार्यों में थोड़ा अन्तर है। पमरिया सिर्फ पुत्र जन्म के अवसर पर ही आतें हैं किन्तु बखो-बखोनी (पुरूष-स्त्री) पुत्र जन्म के अतिरिक्त शादी ब्याह के अवसर पर उपस्थित होकर बधाइयाँ देते है और इनाम माँगते हैं। जब किसी के यहाँ लड़की की शादी के अवसर पर बारात आती है तो वह बाराती का विविध तरह के गीत गा-गाकर मनोरंजन करते एवं इनाम पाते हैं।

गीत संख्या -4

जाहि देश सोना ससत भेल रूपा महग भेल रे।
ललना ओहि देश ब्याहब भैया कि सोनमा खरीदब रे!
अपना लेब औंठी कि भउजो ले कंगना रे।
ललना रे होरिला ले कंठहार बहिनी ले किछु नहि रे।।

गीत संख्या -5

जनम लिए यदुरेया बधइया माँगत आ गये हो।
कियो लुटावइ अन धन सोनमा किओ लुटावै धेनु गैया।।
बधेया मांगन नन्द बाबा लुटावइ अन धन सोनमा
यशोदा लुटावइ धेनु गैया बधैया ।
लुटि लुटि रंक भये जनु राजा वंशी बजावे कन्हैया।।

बधैया मांगन

पचनियाँ-गीत :-

पचनियाँ भी एक पेशेवर जाति है। ये 'देवहर' जाति के होते है जो बच्चों को चेचक से बचने के लिए टीका लगाता था। पचनियाँ गाँव-गाँव घूमकर झाल बजाकर शीतला माता के गीत गाते थे और उन्हे पुरस्कार भी प्राप्त होता था। कपड़े अनाज एवं रूपये इसके बदले इन्हें इनाम में मिलता था। मिथिला धार्मिक आस्था का केन्द्र रहा है। अतः किसी भी कार्य को यदि धर्म से जोड़ दिया जाता था तो उसे

लोग सार्थ स्वीकार करते थे। बायोटेकनोलाजी अथवा मैथो टेक्नोलोजी के प्रादुर्भाव से पूर्व बच्चों को चेचक आदि से बचने हेतु टीका लगाने के लिए कोई तब तक तैयार नहीं होता था जब तक उसे धार्मिक आस्था से नहीं जोड़ा गया। यही कारण है कि चेचक से शीतला माता रक्षा करती है यह अन्धविश्वास लोगों में थी जिसके कारण देवहर जाति के लोगों को बच्चे का पीच (टीका) लगवाने हेतु स्वास्थ्य विभाग से पचनियों को निर्धारित कर गाँवो में भेजा जाता था और वे शीतला माता के गीत गाकर बच्चों को टीका लगाते थे। पूरे प्रकरण में सात-दिन या नौ-दिन का समय लगता था एवं उसके बाद टीका का खप छूट जाता था। इस कार्य से इन जाति के लोगों का रोजी-रोटी चलता था। 1981-82 के बाद सरकार द्वारा विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) के सहयोग से बच्चों को पोलियों सहित हैजा, चेचक, टीबी, कुकुर, खाँसी आदि से बचने हेतु सूई एवं दवा पिलाने का कार्य आरम्भ हो गया जिसके उपरान्त इन पेशेवर जाति के लोगों का रोजगार समाप्त हो गया।

पोलियो की दवा पिलाने, जनगणना कार्य एवं मतदाता सूची बनाने हेतु घर-घर जाने का कार्य शिक्षकों द्वारा लिया जाता है। जिससे बच्चों की पढ़ाई भी बाधित हो रही है। आवश्यकता इस बात की है कि आज इन कार्यों में पचनियाँ एवं पमरिया जाति के लोगो को लगाया जाय। दवा पिलाने हेतु प्रेरित करने का कार्य पमरिया द्वारा एवं दवा पिलाने का कार्य के लिए पूर्व की भाँति देवहर जाति के पचनिया को नियोजित किया जाय तो पुनः ये पेशेवर जाति के लोग अपने मुख्य पेशा से जुड़ सकते हैं। सिर्फ दरभंगा जिला में लगभग 75000 देवहर जाति के लोग हैं। हाल में इनका सम्मेलन दरभंगा में हुआ था।

गीत संख्या - 6

कोने बनमे आमे कोइली जे कुहुकि गेल,
कोने बनमे बाजय मजूर। भैया शीतला, कोने बन बाजय मजूर।।
आमक बनमे आमे महया कोइली जे कुहुकि गेल,
शिव बनमे बाजय मजूर।

तरीकी मे मारले महया, बटरबो मे मार के,
बिछि-बिछि मारल मजूर।
हमरन कनइ छइ महया एम के मजूरनी,
बारि बयस हमर सिन्दूर।

भाँट द्वारा गाये जाने वाले गीत अथवा "भाँट-गीत"

अन्य जातियों के समान भाँट भी एक जाति है। मिथिला के राज दरबार में भाँट का बहुत महत्व था। राज दरबार में सात प्रकार के लोगों का जमघट रहता था जिसे दरबार का अंग माना जाता था। ये सातों अंग निम्न थे,

विद्वांसः कवयो भट्टा गायकाः वंशिलावदा।
इतिहास पुराणज्ञाः सभा सप्तांग मंडनम।।

अर्थात विद्वान, कवि, भाट, गायक, विदुषक इतिहासज्ञ एवं पुराणज्ञ ये सातों राजा के सभा को सुशोभित करते थे।

दर्पणकार के ठीक कालीन में ज्योतिरीश्वर ने भाँटो का वृहत वर्णन किया है। भाँट अनेकों भाषा के जानकार, आठो व्याकरण के पारंगत, अनेकों अलंकार के विज्ञ, छन्दशास्त्र में कुशल तथा कवि के सातों गुण से सम्पन्न हुआ करते थे। अनेकों आपूर्व ग्रन्थ का कुशाग्र्यास एवं अनेकों प्रकार के प्रतिभाओ से परिपूर्ण माने जाते थे। भाँट की वाग्धारिता अति प्रशंसनीय होती थी। कविता छप्पय पमकड़ा आदि का काफी संग्रह उनके पास रहता था। इनकी प्रत्युत्पन्नमतीत्व इतनी प्रखर थी कि वे राजा की मानसिक स्थिति को पलभर में भाँप कर उनके मनोविनोद में कविता एवं गीत के माध्यम से लग जाते थे। इनका कार्य राजा को विभिन्न प्रकार के हास्य-व्यंग्य की कविता- गीतों को सुनाकर राजा को प्रसन्न करना एवं मन बहलाना था। अकबर के दरबार का बीरबल एवं मिथिला के हास्य सम्राट गोनू झा जैसी प्रखर एवं तीक्ष्ण बुद्धि इनकी होती थी।

राजा एवं राज दरबार के विलुप्त होने के बाद ये अपने पेशा को जमींदारो एवं सेठो के शादी, मुण्डन आदि अवसरों पर एकत्रित जनसमूहों के बीच अपना कला का प्रदर्शन करते थे एवं उनसे प्राप्त धन से जीवन यापन करते रहे। अब न तो

भाँट ही है और न उनको सुनन वाले लोग। मिथिला में आज भी कुछ भाँट परिवार के लोग हैं जो उस पेशा कों बरकरार रखे हुए है। दरभंगा जिला के टेकटार, बघौल, एवं मधुबनी के बरूआर गाँव में व्यक्तिगत तौर पर एक-एक व्यक्ति इस पेशें से जुड़े पाये गये। इन लोगों ने अपनी आर्थिक दूदर्शा थी दास्तान सुनाई।

पेशेवर जातियों द्वारा गाने वाले लोकगीतों यथा पमरिया, खोदपाडनी एवं बखो-बखिन गीतों में श्रृंगार, उत्साह एवं करूण रस, है। पचनियॉ के लोक गीतों में भक्ति रस एवं करूण रस तथा भाँट के गीतों में हास्य रस की प्रधानता है। इनमें दादरा, खेमता, कहरवा एवं दीपचन्दी तालों का प्रयोग मिलता है।

इन लोक गीतों में प्रयुक्त होने वाले वाद्य वृन्द में झाँझ, मंजीरा, ढोलक, मादल, ढ़ोल, मटकी, अलगोजा, ढ़ोलकिया जनमबाड़ा प्रमुख हैं।

इन गीतों का संरक्षण एवं इन पेशेवर जातियाँ का रोजगार मे लाने के उपायः-

इन लोकगीतों के संग्रह एवं संरक्षण के लिए इनके स्वरलिपि का निर्माण अत्यन्त आवश्यक है। आधुनिक सभ्यता के प्रचार प्रसार के साथ इनके गेयता का प्रतिदिन अभाव होता जा रहा है। यदि इसे गाने वाले लोगों से गवाकर इनकी स्वरलिपि नहीं बना ली गई तो कुछ दिनों में इनके गाने की विधि को जानना एक समस्या बन जायगी। यद्यपि स्थापित स्वरलिपि पद्धतियों की सहायता से गायक के गले की सभी विशेषताएँ लिपिबद्ध करना सम्भव नहीं हो सकता है। इन लोकगीतों की विशेषताएँ यथा गायकों की गिटकरी, राग सौन्दर्य, अलंकार श्रुति-प्रयोग, स्वर-माधुर्य आदि बारीकियाँ स्वरलिपि द्वारा व्यक्त नहीं की जा सकती। कुछ गीतों को रेकार्ड कर स्वरलिपि करने का प्रयास किया गया परन्तु उपरोक्त कठिनाईयाँ एवं कोई स्पष्ट राग, थाट ताल एवं मात्रा नहीं मिलने के कारण स्वरलिपि करना सम्भव नहीं हो सका।

इन गीतों का रिकार्ड तैयार कर इसे राज्य एवं राष्ट्र स्तरीय लोक-संस्था अथवा पुस्तकालयों में संरक्षित किया जा सकता है। परन्तु यह कार्य बड़ा व्ययसाध्य है और किसी व्यक्ति विशेष की शक्ति से बाहर है। इस कार्य को तो कोई बड़ी संस्था अथवा सरकार ही सम्पन्न करा सकती है।

मिथिला में पेशेवर जातियों द्वारा गाये जाने वाले गीतों का ह्रास हो चुका है, जो एक चिन्तनीय विषय है। ये लोकगीत प्रायः लुप्त होते जा रहे है जिसका प्रधान कारण है इसके सृजनकर्त्ता का अभाव, सुयोग्य संग्रह कर्त्ता, आवश्यक सामग्री यथा रेकार्ड तथा स्वरलिपि तैयार करना आदि। इस कार्य को मैथिली अकादेमी, संगीत-नाटक अकादेमी, मैथिली साहित्य परिषद, कला एवं संस्कृति विभाग तथा विभिन्न संस्थानों द्वारा कराया जाना चाहिए था जो नहीं हो पा रहा है। इस संस्थानों को समय-समय पर मिलने वाले अनुदान भी प्रर्याप्त नहीं हैं

इन पेशेवर जातियों को समाज के मुख्य धारा से जोड़ने एवं रोजगार में लाने का कार्य सरकार को करना चाहिए। पचनियाँ जाति के लोगों को पोलियों की बून्द पिलाने या स्वास्थ्य संगठनों द्वारा चलाये जाने वाले अभियान से जोड़कर इन्हें रोजगार के अवसर प्रदान किया जा सकता था।

पमरिया जाति के लोगों की दशा और दयनीय हो गई है। इनकी जगह 'किन्नरों' या 'हिजरों' ने ले लिया है। शहरी खासकर महानगरों में जो कार्य पमरिया मिथिला क्षेत्र में करता था वह कार्य हिजरों द्वारा चलाया जा रहा है। दरभंगा, मुजफ्फरपुर जैसे छोटे शहरों में भी हिजरों ने पमरिया के पेशे का अतिक्रमण कर लिया है। हिजरा के आने से इनके रोजी-रोटी पर प्रभाव पड़ा है।

दरभंगा जिला में एक बार ब्लाक स्तर पर इन पमरियों को तीन सौ रूपये प्रतिदिन पर पोलियो की दवा पिलाने हेतु नाच गान के माध्यम से प्रेरित करने हेतु रखा गया। गीत बनाकर उन्हें दिया गया एवं उन लोगो ने अपने शैली में उसे नाचकर, गाकर लोगों को अपने बच्चों को पोलियो की दवा पिलाने हेतु प्रेरित करने के साथ-साथ उससे बच्चों में होने वाले फायदे की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट किया। इस कार्य हेतु इन लोगों को तीन सौ रूपये प्रति पमरिया प्रतिदिन मिला। यदि समय-समय पर ऐसे कार्यो में इन्हें लगाया जाता तो वे अपने पेशे से मुँह न मोड़कर इन लोकगीतों को अक्षुण्ण रखते हुए समाज के मुख्य धारा से जुड़े रहते।

इसी तरह के रोजगार के अवसर गोदना गोदने वाले खोदपाड़नी को भी दिया जा सकता है। गोदना का स्थान आज के युग में टैटू (विभिन्न प्रकार के चित्र/छाप शरीर अंगों पर लगाना) ने ले लिया है। यह आज के युग में एक फैशन है।

मैथिली को भारतीय संविधान की अष्टम् अनुसूची में स्थान प्राप्त हो जाने के बाद राज्य सरकार से केन्द्र सरकार तक मैथिली लोकगीतों के संरक्षण संवर्द्धन एवं गेयता को गीत के आधार पर रोजगार के अवसर प्रदान करने का कार्य कर सकती है।

उपरोक्त कार्यो को आकाशवाणी एवं क्षेत्रीय दूरदर्शन द्वारा भी किया जा सकता है। दूरदर्शन के द्वारा विभिन्न धारावाहिकों का निर्माण किया जाना चाहिये जो इन पेशेवर जातियों, कार्य एवं गीतों पर आधारित है।

भारत एवं बिहार सरकार के सूचना एवं जनसम्पर्क विभाग तथा संगीत एवं नाट्य विभाग द्वारा भी विभिन्न सांस्कृतिक कार्यक्रमों में इन पेशेवर जातियों के कीर्ति एवं संगीत को सम्मिलित कर इसे अक्षुण्ण रखा जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. सिंह डॉ0 अणिमा, "मैथिली लोक संगीत" आमुख ।
2. झा डॉ0 लक्ष्मण, "मिथिला" ।
3. शास्त्री पं0 श्री राघवाचार्य शास्त्री, "प्राचीन मिथिला रचना संग्रह", आल इण्डिया मैथिली साहित्य सम्मेलन दरभंगा।
4. चौधरी राधा कृष्ण, "मिथिलांचलक लोक देवता" स्मारिका, चेतना समिति (1982) ।
5. "सोसियो इकानामिक लाइफ इन मेडियेवल मिथिला अण्डर दी खण्डवाल" जनरल ऑफ द बिहार रिसर्च सोसाइटी, भौल्युम-43, पार्ट 1-4 ।
6. ठाकुर डॉ0 विजय कु0, "मैथिली सभ्यता के उद्भव एवं विकास के ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि", स्मारिका, चेतना समिति, 1983।
7. लाल डॉ0 तेज ना0, "मैथिली लोकगीतों का अध्ययन"।
8. झा विद्यानाथ, "मैथिली ओ संताली", "विदित"।
9. संगीत विशारद।
10. सक्सेना महेश ना0,"लोक संगीत",अंक 1966,।

वस्त्र विन्यास का संगीत में योगदान

श्रुतिशाश्वत उपाध्याय

वैसे तो परिधान निश्चित रूप से हमारे व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं, परन्तु ललित कलाओं में मुख्य, संगीत में इसका कुछ अपना ही अलग महत्व है। शायद इसलिए भी क्योंकि संगीत हमारी सभ्यता, संस्कृति, विचारों व परम्पराओं से मूलतः जुड़ा हुआ है। भरत कृत नाट्यशास्त्र में चार मुख्य अभिनय भेद-आंगिक, वाचिक, सात्विक व आहार्य बताये गये है जिनमें चौथा भेद जो कि आहार्य नाम से प्रसिद्ध है वह अभिनयानुरूप, वेश-भूषा, साज-सज्जा, रंग-रूप आदि विषय की ही व्याख्या करता है।

नाट्यशास्त्र में ''यजुर्वेदादिभिनयान्'' अर्थात यजुर्वेद से अभिनय ग्रहण करने की बात कही गयी है। यहाँ अभिनय के परिप्रेक्ष्य में कहा गया है कि व्यक्ति विशेष के वस्त्राभूषण धारण करने को ''आहार्य'' कहते हैं।

वस्त्रों की यदि संगीत के सन्दर्भ में बात करें, तो यह संगीत के साथ हमारा ''साधारणीकरण'' स्थापित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किस प्रकार? आइये इस पर एक दृष्टि डालते हैं :-

गायन के संदर्भ में :-

कल्पना करें कि कोई शास्त्रीय गायन का कार्यक्रम हो तथा श्रोतागण सभागार में बैठे हों, अचानक ही मंच पर गायक आये। उसने लाल लाइट जीन्स पहनी हो और बिना बाँह की टी-शर्ट पहनी हो। इस प्रकार के उटपटाँग वस्त्रों का दर्शकों पर क्या प्रभाव पड़ेगा? यह कहने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ मैं विशेष रूप से बात बताना चाहूँगी कि कुछ ऐसे कार्यक्रम भी होते हैं जहाँ गायन, वादन, नृत्य इत्यादि की जो तारीफ होती है वो तो अलग ही है, परन्तु कलाकारों के ड्रेस-सेन्स की बड़ी तारीफ होती है।

वादन के संदर्भ में :-

वाद्यों के संदर्भ में यदि वस्त्रों के महत्व की चर्चा की जाय तो इसमें भी गायन की तरह वस्त्रों के चुनाव में बड़ी सावधानी बरती जाती है। उत्तर भारत में गायन, वादन के कार्यक्रम में कुर्त्ता व पायजामा पहनने की एवं दक्षिण भारत में सफेद कुर्त्ता व धोती को लुँगी की तरह लपेटकर पहनने की अधिकांशतः परम्परा हमारे समक्ष प्रस्तुत होती है।

संगीतज्ञों व कलाकारों द्वारा कभी भी इसकी महत्ता को नकारा नहीं जा सकता है। ड्रेस-कोड की परम्परा लागू होने का कारण शायद यही था कि सभी कलाकार एक जैसे वस्त्रों को पहनें जिससे किसी भी कलाकार व दर्शकों का ध्यान अन्य के कपड़ों पर ना जाते हुए सीधे कलाकार की कला (गायन, वादन, नृत्य) पर जाये और मंच प्रस्तुतीकरण की शोभा में वृद्धि हो।

नृत्य के संदर्भ में :-

इसी प्रकार यदि नृत्य के परिप्रेक्ष्य में वस्त्रों की महत्ता की बात की जाय, तो हमारे जितने भी नृत्य हैं चाहे वह लोकनृत्य हो या शास्त्रीय सभी का आधार वस्त्रों पर ही पूर्ण रूप से टिका हुआ है। नृत्य में वस्त्रों या उनके पहनने का थोड़ा भी हेरफेर दर्शकों को भ्रमित. करने के लिए पर्याप्त है। विविध नृत्य के पहनावे, अलंकरण आदि भी विविध

शोध छात्रा संगीत एवं मंच कला संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रकार के होते हैं। नृत्यानुरूप वेश-भूषा नृत्य के भाव को सहज ही प्रकट कर देते हैं तभी तो दर्शक एकाग्रचित होकर, बिना किसी अन्य की ओर ध्यान भटकाये नृत्य का आनन्द लेते हैं और कलाकार व दर्शक के मध्य साधारणीकरण का भाव उत्पन्न होता है।

अतएव गायन हो, वादन हो, नृत्य हो अथवा संगीत की कोई भी विधा हो, वेश-भूषा एक तरीके से दर्शकों का ध्यान अपनी ओर खींचने एवं उन्हें मानसिक रूप से तैयार करने के लिए पर्याप्त साधन है। किसी भी कार्यक्रम के सफल या असफल होने में वस्त्र-विन्यास का भी काफी हद तक योगदान होता है। इसीलिए जितने भी ग्रुप हो चाहे वह आरकेस्ट्रा हो या ग्रुप परफार्मेन्स हो सभी में जितने भी कलाकार होते हैं वह पूर्ण रूप से नहीं तो लगभग-लगभग एक जैसे कपड़े ही पहनते हैं जैसे देश भक्ति गीत हो तो सफेद साड़ी- लाल बार्डर के साथ पहनने की परम्परा प्रचार में है। इसी प्रकार हर विधा की, हर शैली की प्रस्तुतीकरण का एक उचित तरीका होता है जिसका पालन करके कोई भी कार्यक्रम सफल हो, दर्शकों का मन जीत सकता है।

आहार्य अभिनय : भरतनाट्यम् नृत्य के विशेष संदर्भ में

अतनु कुमार भौमिक

भरतनाट्यम् दक्षिण भारत के तमिलनाडु प्रदेश का शास्त्रीय नृत्य है। इसे सभी शास्त्रीय नृत्यों में सबसे प्राचीनतम (लगभग 2000 वां पूर्व) माना जाता है। आज भी इसकी सुगंध हर ओर बिखरी हुई है। यह नृत्य कला दक्षिण ने धरोहर के रूप में संसार को प्रदान की है। प्राचीन काल में शैव मत के मंदिरों में शिवाराधना हेतु नृत्य-संगीत का प्रयोग होता था, धीरे-धीरे यह प्रथा हर देवी-देवता के मंदिरों में भी प्रयुक्त की जाने लगी।

संगीत रत्नाकर में कहा गया है-

"गीतंवाद्यं तथा नृत्तं त्रयं संगीतमुच्यते। ।21।।"

(संगीत रत्नाकर, प्रथमः स्वरगताध्यायः, प्रथमं प्रकरणम्)

अर्थात् गायन, वादन और नृत्य तीनों संगीत कहलाते हैं जो आराधना के अभिन्न अंग बन कर पूजन की सोलह विधियों अर्थात् षोडसोपचार विधि में सम्मिलित हो गये। ये नृत्य व गायन प्रस्तुत करने के लिए कुछ स्त्रियों को नियुक्त किया जाता था, जो देवदासिया कहलाती थीं। देवदासी का अर्थ है ईश्वर की सेविका। देवदासियों द्वारा प्रस्तुत होने के कारण यह नृत्य पहले दासीअम् व सादिरअम् के नाम से प्रसिद्ध था। जो 9वीं से 10वीं शती. के बीच प्रचलित रहा।

नृत्य प्रस्तुति के आवश्यक तत्वों में से एक "आहार्य" को भी महत्वपूर्ण माना गया है, जिसके बिना सफल नृत्य प्रदर्शन अकल्पनीय है। मान्यता है कि निर्मल वस्त्र धारण करने से सौंदर्य की वृद्धि, यश की प्राप्ति होती है, प्रसन्नता आती है और दरिद्रता का विनाश होता है। जैसे सुगंधित फूलों की माला धारण करने से सौंदर्य, प्रसन्नता, आयु और बल की वृद्धि तथा दरिद्रता का विनाश होता है।

रक्षाभरण अथवा आभूषण धारण करने से मनुष्य पूज्य होता है, उसकी आयु और श्री की वृद्धि होती है, उसका कल्याण होता है, उसकी समस्त आपत्तियाँ दूर होती हैं और प्रसन्नता, सौंदर्य तथा ओज बढ़ता है। **ऋग्वेद संहिता** में लिखा है कि सौभाग्यवती स्त्रियाँ अर्धचन्द्र के आकार का स्वर्णमय आभूषण सिर पर धारण करती थीं।

प्राचीन समय की स्त्रियाँ हार, चूड़ामणि, कुण्डल, भुजबंध, अर्धचन्द्र, केयूर, नूपुर, अंगुलीयक, नागहार, मणियों की माला, लीलापत्र, मेखला आदि आभूषण पहनती थीं तथा रंग-बिरंगे वस्त्र धारण करती थी। वे वक्ष पर मोतियों का हार, कानों में चन्द्रमा के आकार के बड़े-बड़े दन्त-पत्र, कंठ में माला, सिर पर ओढ़नी, छाती पर कपूर का चूरा माथे पर चन्दन की बिन्दी, हाथों में सुंदर छोटे-छोटे कमल, अंग-अंग में कस्तूरी, बाहों में मधुर चन्द्रिका और रत्न-जड़े कंगन पहनती थी।

आहार्य अभिनय की आवश्यकता को पुष्ट करने के लिए हमें प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक काल को जानना होगा क्योंकि उसी समय से ही नृत्य का प्रारम्भ माना जाता है कहा जाता है कि जहाँ से नृत्य की प्रारंभ हुआ वहाँ से ही आहार्य अभिनय का होना स्वाभाविक है। उदाहरण के लिए जितने भी प्रागैतिहासिक स्थानों का उत्खनन हुआ उनमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा का नाम प्रमुख है।

शोध छात्र छत्तीसगढ़ संगीत विश्वविद्यालय, छत्तीसगढ़

मोहनजोदड़ों की प्रथम उपलब्धि के रूप में एक नृत्यांगना की प्रतिमा प्राप्त हुई हैं जो गले में हँसली और बायें हाथ की कलाई पर बाजूओं तक चूड़ियाँ पहने हुए है। यह अनावृत नर्तकी अपनी कमर पर हाथ टिकाये ऐसी मुद्रा में खड़ी है, मानो अभी थिरक उठेकी। इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि प्रागैतिहासिक काल से ही नृत्य एवं आहार्य अभिनय का प्रचलन था।

आहार्य के बारे में शास्त्रों में विस्तृत रूप से चर्चा की गई है। अभिनय के चार भेदों में आहार्य का तीसरा किंतु अति महत्वपूर्ण स्थान है। आचार्य भरत ने विस्तार से वेशभूषा, रूप-सज्जा तथा मंच के दृश्य विधान का वर्णन किया है। कलाकार को पूरी साज-सज्जा के साथ मंच पर प्रस्तुत करना आहार्य के अंतर्गत आता है।

आचार्य नंदिकेश्वर ने अभिनय दर्पण के एक श्लोक में लिखा है-

"आहारो हारकेयूरवेाादिभिरलंक तः।।40।।"

अर्थात् हार और केयूर आदि प्रसाधनों से सुसज्जित होकर जिस नाट्य का प्रदर्शन किया जाये उसे आहार्य अभिनय कहते है।

उसी प्रकार आचार्य भरत जी ने श्लोक में लिखा है-

"चतुर्विधं तु नेपथ्यं पुस्तोऽलङ्कार एव च।
तथा अंगरचना चैव ज्ञेयं सज्जीवमेव च।।5।।"

अर्थात् नेपथ्य की चार विधाएँ होती हैं-पुस्त, अलङ्कार, अंगरचना और संजीव। इन चार विधाओं का अर्थ हैं-

1. पुस्त-बांस, सरकंडे पर कपड़े या चमड़े आदि की सहायता से मंचोपयोगी वस्तुएँ बनाना, उन्हें गति प्रदान करना या वस्त्र से ढंक कर प्रस्तुत करना पुस्त आहार्य है।
2. अलंकार-माल्य, आभरण और वस्त्र आदि द्वारा सज्जा करना है।
3. अंगरचना-स्त्री पुरुषों के बहुविध अंगसज्जा के नियम बताये गये हैं।
4. संजीव-मंच पर प्राणी वर्ग के प्रवेश को संजीव कहा गया है।

इस प्रकार आहार्य अभिनय का संबंध प्रसाधन, वेशभूषा और साज-शृंगार से है। आचार्य भरत ने उसको पथ्यकर्म नाम दिया है। इसने पथ्यकर्म के अंतर्गत अभिनेता अथवा नर्तक/नर्तकी को सिर से पैर तक विभिन्न अंगों के प्रसाधन और साज-सज्जा की व्यवस्था का पर्याप्त ज्ञान होना चाहिए। देश, काल, जाति, वय और अवस्था के अनुरूप अंग-प्रत्यंग के प्रसाधन की विधिया क्या है, इन पर विशेष ध्यान देने का निर्देश दिया गया है। वस्त्रीकरण आदि प्रसाधनों द्वारा प्राकृत वस्तु का तदनुरूप अनुकरण ही आहार्य है। शरीर-सज्जा तथा वस्त्रलंकरण के लिए नेपथ्य के चार कर्म बताये गये हैं, जिनके नाम हैं-

1. कचधार्य (केशविन्यास।
2. देहधार्य (शरीरसज्जा)।
3. परिधेय (वस्त्रलंकरण-सज्जा)।
4. विलेपन (अंगराग या अनुलेपन)।

नाट्यशास्त्र में कुछ विशेष पात्रों के लिये मुखौटे लगाने और उन्हें बनाने की विधि पर भी प्रकाश डाला है। हाथी, बैल, शेर आदि के मुखौटों के नाप तौल भी अंगुलों में बताता है। अलग-अलग वेशभूषा तथा उनकी प्रकृति का विवेचन करता है। केवल फूल और मालाओं से शृंगार करने की सैकड़ों विधियों का विवेचन करते हुए वह उनके ऋतु काल के अनुसार यथाप्रसंग प्रयोग बताता है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र में वर्णित आहार्य अभिनय इतना महत्त्वपूर्ण है कि उसके अभाव में अभिनय की संपूर्णता की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

नृत्य एक प्रदर्शनात्मक कला है अतः इन शास्त्रगत नियमों का कितना पालन हो रहा है तथा इन तत्वों का उचित समावेश नृत्य चरणों में हो रहा है या नहीं यह केवल नृत्य प्रस्तुतीकरण के माध्यम से ही देखा, जाना व समझा जा सकता है। नृत्य एक प्रदर्शनात्मक कला होने के कारण इसमें वेशभूषा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुंदर वेशभूषा का दर्शकों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। इसलिये नृत्य का यह एक मुख्य अंग है। भरतनाट्यम् नृत्य का प्राचीन ऐतिहासिक प्रमाण देखने से हम यह स्पष्ट रूप से जान सकते हैं कि यह नृत्य हमें देवदासियों से धरोहर के रूप में प्राप्त हुआ है।

समय परिवर्तन के साथ ही 20वीं शताब्दी में भरतनाट्यम् नृत्य में अनेक परिवर्तन आए। इन परिवर्तनों को लाने का कार्य किया श्रीमती रुक्मिणी देवी अरूण्डेल एवं ईष्कृष्ण अय्यर ने। भरतनाट्यम् के क्षेत्र में इन महान विभूतियों का महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। श्रीमती रुक्मिणी देवी अरूण्डेल ने भरतनाट्यम् के क्षेत्र में बड़ी क्रांति लायी। उन्होनें 'कलाक्षेत्र' नामक एक नृत्य संस्था मद्रास(चेन्नई) 'अडयार' 1936 ई. में स्थापित की। उन्होनें परिवर्तन लाए विभिन्न अडवुओं, नृत्य-रचनाओं में, हस्त मुद्राओं को कोमल-कलात्मक बनाना और साथ ही संगीत तथा आहार्य को भी पुष्ट किया।

जैसे पहले नर्तकिया धोती जैसे साड़ी पहनती थीं, अथवा उसे ऊँचा कर पहनती थीं जिससे नृत्य करने में सरलता हो। चेहरे को रगने (मेकअप) और आभूषणों पर कोई विशिष्ट ध्यान नहीं दिया जाता था और यदि पहले दिया भी जाता था, तो वो देवदासी परंपरा के लुप्त होने के साथ ही लुप्त हो गया था। अब रुक्मिणी देवी ने साड़ी को भिन्न प्रकार से काट और सिल कर पहना और एक ही जैसी वेशभूषा धारण करने की परंपरा को तोड़ते हुए कई प्रकार के नये वस्त्रों का सृजन किया, जिससे नृत्य करने में भी सरलता हुई।

नाट्यशास्त्र के नियमों का ध्यान रखते हुए उन्होंने पात्र की मनःस्थिति, सामाजिक व अन्य स्थितियों को ध्यान में रखते हुए ही वस्त्रों की परिकल्पना की। मंदिरों के शिल्प और चित्रों को देख-समझ कर उन्होंने एक नवीन ही प्रकार के आभूषणों का सृजन किया, जो जितने प्राचीन थे, उतने ही नवीन भी थे। वस्त्रभूषण और वाद्यों के इन नवीन प्रयोगों से नृत्य प्रदर्शन और अधिक आकर्षक लगने लगा और अधिक से अधिक लोगों को अपनी ओर आकर्षित करने में सक्षम हुआ।

भरतनाट्यम् नृत्य की वेशभूषा- देवदासियों को परंपरागत नृत्य वेशभूषा कसी हुई चोली (ब्रेसियर) व जरी की नौ गज की रेशमी साड़ी होती है। अधिकतर चमकीले व विपरीत रंग व चौड़ी किनारी (बॉर्डर) वाले वस्त्रों को पसंद किया जाता है। आगे की ओर साड़ी में चुन्नर (मोड़) रहती है और उसका एक लंबा भाग बायें कन्धे पर डालते हुये पीछे की ओर से लाकर कमर में चारों तरफ इस प्रकार लपेटते हैं कि उसका कामदार पल्लू आगे को झूलता रहता है। साड़ी का दूसरा भाग कमर पर बांधकर तथा पीछे की ओर से लाकर कमर पर ही यथास्थान संयोजित कर लिया जाता है।

परंपरागत आभूषण स्वर्ण के होते हैं। जिनमें प्रायः हीरे, लाल तथा मोती जड़े होते हैं। चेहरे के दोनों ओर धागों में लटकी हुई जो झालर रहती है उसमें छोटे-छोटे हीरे और मोती रहते हैं। सिर के अग्रिम भाग पर जो मांग टीका बांधा जाता है वह भी चमकीले रत्नों और मोतियों का होता है और उसकी लड़ी से बालों को दबा दिया जाता है। सिर के ऊपरी भाग पर अर्धचंद्र और सूर्य वाले आभूषण रहते हैं। सिर के ऊपर स्वर्ण मुकुट को चमेली बेला तथा मोगरे के फूलों से सुसज्जित किया जाता है। चोटी वाले भाग को भी फूलों से सजाया जाता है।

बालों की चोटी में नग जड़े रहते है और यह सर्पिणी (नागिन) के रूप में आकाश और अनन्तता का प्रतीक मानी जाती है। कानों के झुमके बड़ी होती है जो अन्य कर्ण आभूषणों के साथ जुड़ी हुई होती है। नासिका के बीच में हीरे की कनी (चुल्लक्कु) लटकती रहती है और दायें-बायें दोनों ओर भी पहना जाता है। कमर पर सोने की करधनी पहनी जाती है और हाथों तथा बाहों में कंगन व कड़े पहने जाते हैं। गर्दन में रत्नों से सुसज्जित हार तथा कण्ठमाला धारण किया जाता है।

जब भरतनाट्यम् का स्वरूप परिवर्तित हुआ तो नये प्रकार के वस्त्रभूषणों का उपयोग किया जाने लगा। साड़ी को काटकर पैजामा की तरह आकृति प्रदान की गयी और उसे जंघाओं के अग्रिम भाग में प्लेटनुमा पंखे से जोड़ा गया। कमर के पिछले भाग में एक अलग वस्त्र बांधा जाता है। वस्त्र धारण करने का यह विधान अधिक लोकप्रिय हो गया, क्योंकि इसे कार्यक्रम के बीच में अनेक बार बदलने में आसानी रहती है। शरीर के निचले भाग को यह परिधान पूरी तरह ढंक लेता है। अतः इसे अत्याधुनिक और आकर्षक माना गया। कुछ प्रसिद्ध नर्तक परंपरागत साड़ी को ही अपने ढंग से कलात्मक रूप में बांधना पसंद करते हैं।

भरतनाट्यम् नृत्य में सर्वप्रथम प्रमुख अंग मुख को सजाया जाता है। प्राचीन काल की रूपसज्जा का विवरण प्रारंभ में ही दे चुके हैं कि हल्दी व चंदन के लेप, काजल, सुगंधित फूलों एवं प्राकृतिक रंगों के द्वारा किया जाता था। किन्तु वर्तमान समय से रूप-सज्जा के लिये कई तरह की आधुनिक तकनीक एवं कई तरह की (मेकअप) सामग्री उपलब्ध है जिनकी सहायता से नर्तकी के सौंदर्य और निखर जाता है मंच एवं दर्शकों के बीच दूरी होती है जिस कारण नर्तकी का रूप सज्जा अच्छी ना हो तो मुख के भाव में दूर होने के कारण स्पष्ट रूप से दिखाई नहीं देता। इसी कारण आधुनिक सामग्रियों का प्रयोग करना आवश्यक होता है।

उपर्यक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आहार्य अभिनय का भरतनाट्यम् ही नहीं वरन् प्रत्येक नृत्य प्रस्तुति में बहुत महत्व है। यह नृत्य को न केवल एक सौंदर्यात्मक दृष्टिकोण देता है बल्कि उसे हर वर्ग को समझाने व नृत्य कला के प्रति जिज्ञासु बनाने में भी सहायक होता है। यह कलाकार के अंदर आत्मविश्वास जागृत करता है। जो उसे सफल नृत्य प्रस्तुति देने में सहायक है। यह नृत्य कला के प्रति जन-मानस में रूचि जागृत करने में भी सहायक है। इस प्रकार भरतनाट्यम् की प्राचीन और आधुनिक दोनों वेशभूषाए आज के रंगमंच पर प्रचलित है। जैसे-जैसे भरतनाट्यम् का प्रचार प्रसार होता जा रहा है, वैसे ही उसकी प्रस्तुति के प्रति नवीन प्रयोग भी जन्म ले रहा है। काल प्रभाव से कलाए भी अछूती नहीं रहती।

संदर्भ ग्रंथ सूची-

1. वाचस्पति गैरोला, भारतीय नाट्य परंपरा और अभिनवदर्पण,पृ0 -90,91,159,160, चौखंबा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, 2006
2. गर्ग लक्ष्मीनारायण, भरतनाट्यम भाग-1, पृ0 -65, 66, संगीत कार्यालय, उ.प्र., 2001
3. चतुर्वेदी सीताराम ,भारतीय तथा पाश्चात्य रंगमंच, पृ0 -387, 393, 394, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ,1964
4. तीर्थ राम 'आजाद', कत्थक दर्पण, पृ0-56, 57, 140, नटेवर कला मंदिर, उ.प्र, 1980
5. पी. मेदिनी होम्बल, भरतनाट्यमः परंपरा और परिवर्तन, पृ0 -98,101,102,कला-सौरभ, शोध-पत्रिका, इं. क.सं.वि.वि, खैरागढ़, छ.ग, 2012
6. द्विवेदी पारसनाथ, त्रिपाठी हरिश्चन्द्रमणि, भरतमुनिप्रणीतं नाट्यशास्त्रम् चतुर्थ भागः, पृ0 -220, वाराणसी, 2004
7. चौधरी सुभद्रा , संगीतरत्नाकर प्रथम खण्ड, पृ0 -12, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2000

Importance of Voice Culture in the Practice of Hindustani Vocal Music

Anuradha Raturi

Practice and exercise are essential components of any acquired skill, be it artistic or otherwise. The importance of musical practice aka *abhyaas* or *riyaz* is not only explicitly recognized in the Indian Musical tradition but it is also prominently emphasized and accorded a most elevated status. Given the prominence of the concept in Hindustani theory and practice, it could be assumed that Indian musicians practice more than the musicians of most other traditions in the world. Practice actually embraces a wide range of ideas, from the practical and social to the ideal and spiritual. Following verse is an example of the importance of practice in Indian texts-

सत्यानुसारिणी लक्ष्मीः कीर्तिस्त्यागानुसारिणी।
अभ्याससारिणी विद्या बुद्धिः कर्मानुसारिणी।।

In ancient times, practice was the most essential thing for musicians. Musicologists like Bharata, Sarngdeva etc. gave the utmost importance to this particular field, as the human voice was the first instrument from which, the man could produce sound, pleasing to the ear. All famous & great musicians have given their whole life for practicing music. Practice is said to be the base. Maximum Practice results into maximum success. The meaning of '*Abhyaas*' is to repeat or to remember the thing which has been already learnt. It is a spiritual practice (*Sadhna*), thinking & philosophy itself. It is a function of meditation. Continuity, awareness, concentration, constructive imagination are primary conditions of true practice. The objective of musical accustom is not only amusement, but the worship of God. The successful practice of music is the one, which is beautiful in performance as well as meaningful.

In vocal music, cultivation of voice in very important as a part of practice. The process of bringing the voice under control is known as voice culture. It includes traditional and scientific methods to improve the quality of voice. Voice culture has long been recognized as a necessary tool for professional excellence.

Voice quality is the result of a combined action of basic function of the vocal organs and developed components by scientific and systematic training and practice. Genetically determined factors of the vocal mechanism cannot be changed but with the help of the techniques one can manipulate them to make the voice more melodious. Singing

Research Scholar (J.R.F.) Deptt. of Vocal Music Faculty of Performing Arts B.H.U., Varanasi (U.P.)

requires a more delicate control over the muscles. Effective control of breath, flexible speech organs, adjustment of resonators, wider range, mental perception etc. are the features wherein the voice can be trained.

Voice production for singing consists of other features also, in which fields the voice has to be trained. They are like the shape of the month, effective pronunciation of the words, adjusting the voice to different tempos or speeds, controlling of volume or amplitude as the background of presentation demands, Vowel pronunciation and a very important feature of developing imaginative power to improvise.

Traditionally, Hindustani classical musicians, especially Dhrupad singers have certain insights into voice culture or voice engineering. There has always been an understanding that a voice has to sound and behave in a certain manner to be able to do justice to the demands of the music. Techniques of training like *'Kharaj Bharna'*, *'Mandra Saptak Sadhna'*, various kind of *'Paltas'* are all voice development techniques in Indian vocal music. Desired qualities in a voice have been indentified as optimum resonance (*bulandgi*), timbral attractiveness (*taseer*), roundness (*golai*), tonal continuity over the range steadiness, maximization of range, volume, ability to modulate volume, ability to articulate vowels (especially *aakar*) and consonants correctly without distortion and most of all, the ability of execute techniques, especially virtuoso techniques like taans. *'Kharaj bharna'* and *'Mandra Saptak sadhna'* have been uniformly recognized as techniques for 'opening' the voice, opening up the range and volume, optimizing tonality etc. Proper listening, control of breath, proper *riyaz* and physical and mental fitness are also included in the voice training concept of Indian Vocal Music.

Western practitioners of Music have researched on the basics and importance of voice culture in a specific manner. Voice culture is actually a science and all the techniques and exercises are developed after an in-depth study of Physiology-Anatomy, Psychology, Physics, Yoga and Music. Some prominent ideas about techniques and trainings of voice culture are mentioned as follows-

1. Singing, not speaking, is the nature of the voice. So voice engineering is a process of 'unlocking' the innate abilities in a voice existing by its very anatomical and physiological nature.
2. The anatomical areas which are relevant to the working of the singing voice are-
   - **a)** The breathing apparatus - abdominal, thoracic and clavicular breathing
   - **b)** The suspension system of the larynx - the web of muscles which hold the larynx in place from four different directions and the implications of the consequent positioning of the voice box and the freedom of movement of the vocal chords.
   - **c)** The vibration mechanism of the vocal chords - the chords and the membranes, their individual and conjunct working, and the implications on registers, timbre, sheen of the voice etc.

d) The resonating system - abdominal, chest, throat and head resonances.

3. Diagnosing a voice on the above aspects and correcting the basic techniques improves the condition, health and abilities of any voice.
4. Adaptation of the techniques has to be done in accordance with the character and requirements of each singing system.

A good singer is supposed to sing all the styles of vocal music with its original flavour and voice modulation has a major role to retain its originality. So culturing the voice properly helps to reach the higher points in the practicing of vocal music. Thus Voice culture is an important part of musical practice or *riyaz* or *abhyaas*.

Reference-

1) Durga, S.A.K. (2007). Voice culture: Art of Voice Cultivation. BR Rhythms.
2) Durga, S.A.K., M. Balamuralikrishna (1978) Voice culture: with special reference to south Indian Music, Indian Musicological Society.

The Music = The Best Medicine for Mental Peace

Dr. Ashwinikumar Singh

The God has given a natural gift/ compliment in the form of music, to the human being. This earth/nature is born with the explosion of sound/voice and this sound/voice itself is music (or) this sound/voice itself is a beautiful infinite has been converted into definite in the positive form with the help of music.

No other medium except the music is capable to express the micro expressional emotions. Today we realize this fact, proved/recommended by Bharat Muni.[1]

The human is a social animal he is connected with the society emotional form. He experiences this connection with family, society and in a country, due to this reason only. During different periods of the history, the music has been the important cause in the establishment of various & particular cultures and it is to that extent that we can recognize/indentify the culture from its spirituality that we can recognize/identify the culture from its music. For example, the Indian music represents the indentify of spirituality or religious belief and self-commitment. While western music due to its homonised nature, represents group governance. No other medium except music have easy laizs'k.kh;rk is easy and micro behaviourial. The music may it from any community it attracts the human being immediately. This attraction does not depend on any other factor of the human being. Awareness of knowledge of language, symbols is not necessary/ essential to save music in the heart. Therefore it is universal & permanent.

In the present period of globalization all the music traditions are trying to impress on each other, but the truth would be that, the impressive and adequate traditions would survive and those which are working experimentally are going to finish automatically. During a particular historical period, Indian music was influenced by the Irani Culture/Tradition and it was absorbed in Indian music so fast that it has been difficult to point out only Irani music from the North Indian music and also difficult to point out the North Indian music from the Irani music. Both the traditions have no chance to show separate identify.

The music provides emotional energy to the human. Human self joins by making innerness progressive positively and after this human's relations with music become strong with the family, society, nation, country. Music is a language to joint heart with heart where no artificiality is required.

Due to the strength of this cause it is closely related with the every walk of human life. In the modern period technical development is very fast, even though the music has its separate identify. There

Sr. Lecturer, M.S Univ. Baroda

are so many advertisements in the TV and radio programmes and the use of the music is prominently done in all the advertisements. The music is also used in the Army to increase the energy of soldiers. At the time external invasion, patriotic songs are displayed throughout the country with an intention to create patriotic atmosphere. In the normal time we experience the tendency of separation or division in the population/communities but the music has its strength to prevent such atmosphere by concentrating the unity. Bharat muni has believed realization of the music for this noble cause. In this direction the music gives inspiration of unity by stopping its division on the level of self, family, society, country and also on international level. This is a great strength & power of the Indian music. Therefore the popularity of Indian music has been increasing also in the western countries.

Many revolutions and changes took place in the country but our Indian music did not move anywhere adversely (OR) Indian music was not disturbed anyway[2]. There were changes in the music types from time to time but it was with limitations even today the origin of the North and South Indian music are ancient.

The government administrators, politicians and policy makers are using the different types of the music for the different purposes. For welcoming the foreigner guests, the cultural events are organized wherein music plays an important role. We send our various delegates including musicians to the different countries. To witness this we remember Pt. Ravi Shankar, Pt. Bismilla Khan, Pt. Omkarnath, Pt. Vinayak Rao Patwardhan for their contribution. Thus, music is the cause in every sphere of human life as social, economic, political, religious etc. till the death time of the man music is with him. The progress of the man has a specific lay a from his childhood to old age gradually and again religious point of view Laya exists with the life, music exists with life and the music itself ends along with death.

The music provides long vision to the human and by making progress in the long vision he joins to spiritual trans. This level of Artist becomes the inspiration to absorb in the nature. Swami Haridas in the medival period, Pt. V.P. Paluskar, Pt. Bhatkhande were considered in this category. On this level the artiste forgets all his selfishness, greediness, jealousy and mix up with the Brahmanand element. On the level his worldness increases and there in no scope for any controversy. Therefore, the music does not belong to any particular person, society, culture, country or nation but it is सर्वव्यापी – wide like air, water, sky and energy. It is परमतत्व universal and तदाकार. The happiness received from the music is called ब्रहमानंद. The diversities, disparities etc. found in the post modern period can be stopped by the application of the music with proper direction.

Today in the present life style the whole society is tried/human is tired. He has no time to spare for himself then how he can spare time for family, society, country or nation[3]. Due to this reason he is continuously losing concentration, patience. Therefore he is experiencing discontention (असमाधान) disappointment in his every walk of life. His progress of life in the negative direction. The progress and development in going to stop where there is tension. Therefore a tensionfull person can not be active in the society, country etc. on national and international level.

A person with ill/unhealthy condition can not be useful for himself anywhere. One has to be healthy for being progressive and energetic. He will have to take support of music in any way for creating positive energy in himself. First of all the music purifies our mind. The music has ability to create mind of human with positive thought process. The human becomes healthy automatically when he has the positive thinking. The modern Science has already proved this fact. It is an idium (कहावत in Hindi that मन चंगा तो तन चंगा means health remains good it mind remains good. The music curves medicines in the music giving energetic life. There are medicines in the music for Blood Pressure, Sugar, Heart trouble, mental imbalance. Music has ability for relaxing man. It removes a man not only from evil thoughts but it fills his mind with positive and acts and thus a man becomes healthy.

Group of healthy persons can create healthy society, healthy state. The music has tremendous capacity of purification and creativity of ideas and thoughts because it is directly connected/related with nature. We have accepted the notes not only from the animals and birds but also from the blowing air from the trees. Basically all the factors and elements are inter related with each other and obviously.

Affecting each other a great universe is born when all these elements are connected with each other reciprocally therefore music is great, immortal and कालातित.[4]

Music diverts (separates) a person from the criminal acts. The experiment made by Smt. Kiran Bedi in the Tihar Jail is the best example for this. She applied music in forms of Bhajan Kirtan, Cultural activities besides the usual ways. As a result it was justified in the world that there is soft/delecate place/corner in the heart of the most brutal or cruel criminal and music can divert his negative attitude to the positive one and the criminal becomes to be alright.

It can be concluded from the above facts that the music has ability to give positive progress to human and society and balanced progress become possible in such position. One more fact in also removable that the music can give peace to the mind by stopping the stimulation and in the present period such a peace is earnestly required. This helps to build up a good society. Due to this capacity of music, the every factor of the society have awareness of the necessity of the music with its proper use.

This music includes the types like folk music, film music, film music, light music, semi-classical, classical and western music. The importance of music is extra-ordinary. Therefore whole universe in involved in the music and whole music is involved in the universe. For example the music acquired iape note from cuckoo (कोयल). The flute became the very first-instrument on the experience of flow air in the Bomboo-pipe. The flute received a special status on getting place in the hands of the Lore Krishna.[5] The music is such a subject that everyone has its grapping as per the strength of inner aesthetical sense and experiencing extreme happiness and pleasure and mental peace from it.

References :

(1) Bhartiya Sangeet ka Etihas : Bhagwat Saran Gupte. Page. 8.
(2) Pandit Jasraj : Interview. Mumbai.
(3) Dr. Arbind : Interview. Magadh University. Patna.
(4) Bharat Natya Shastra. Page. 118
(5) Kramik Pustak Malika. Vol. : 1. Introduction.

Ragang System and its Importance in Raga Classification

Desh Gaurav Singh

The Raag-anga is a different perspective of looking at raags in Hindustani Music, based on various rules that characterise certain "base" raagas from which other derivative raagas are believed to have evolved. It is imprtant to note that this is not a sub-classification of the ten Thaats defined by Pt. Bhatkhande. Rather, they form a sort of a "web" where you find two raags belonging to the same thaat being classified under different raag-angas, and vice versa.

Ragang is included in 10 point Raga classification of Saarang Dev, With Graam Raga, UpRaga and more. At that time Ragang were called to derive from combination in basic Ragas or changes in laws governing them. Thus many experts feel that those have no resemblance with modern Ragang. But differed view point explains that Ragas created from the shadow of Graam Raga are Ragang.

A unique phrase of notes in a Raga suggesting its characteristic feature is Ragang. Unique pattern of notes (Swaras) that are recognized easily are called Ragang named after its parent Raga.

Parijaat and other texts of medieval period show the influence of this classification system. Pandit Bhavbhatt, Pandit Bhaatkande and Pandit Narayan Moreshwar khare, Krishnadhan Laxmi, S.N.Tagore elaborated and explained this method.This method is useful and being followed till now because it includes applied musical patterns. The uniqueness of group of notes in Ragang classification depends on way of using notes, tone accent, vibration, pause, slur, tie, rest, turn, appogiature and acciaccatura on different sets of notes, grace notes, difference in microtones of notes used and many more complexities. It is much more than musical pattern as we all know only words can't explain it.

Pandit Narayan Moreshwar khare explained 30 Ragang. Pt. N M Khare has listed such 30 Raagang-s as following-

1. Bhairav - GMrS
   Bhairav, Ramkali, Gunakri, Jogiya, Ahir Bhairav, Shivmat Bhairav, etc.
2. Bilawal - P DG MGMRS
   Types of Bilawal such as Alahaiya, Sarparda, Kukubh, Devgiri, Shukla Bilwal and other Raags such as Gunkali, Deshkar, etc.
3. Kalyan - PR S, RG
   Bhoop, Marubihag, Jait Kalyan, Shyam Kalyan, many varieties of Kalyan, etc.

Research Scholar Bhatkhande Music Institute University, Lucknow

4. Khamaj -SGMP, nDP
   Khamaj, Zinzoti, Tilang, Khambavati, Gara.
5. Kafi- MPgR
   Kafi, Sindhura, Pradipki, etc.
6. Poorvi - dPmP
   Poorwi, Paraj, Puriya Dhanashree, etc
7. Marawa - DmGr
   Marawa, Purva Kalyaan, Maligaura, Sajgiri, etc.
8. Todi- rgrS
   Varieties of Todi such as gujari, bilaskhani, bahaduri Todi.
9. Bhairavi - gMdn / rndP
   Malkauns, Bilaskhani Todi, Bhairavi, Basant Mukhari.
10. Sarang - NpMR
    Varieties of Sarang such as vrindavani, madhamad, shudhha, samat, miya ki, badhans sarang, etc. Also Soor Malhar.
11. Dhanashree - MPgRS
    Bhimapalasi, Dhani, Patdeep, Multani, Madhuvanti, etc.
12. Lalit - NrGM
    Lalit, Lalita Gauri, Pancham, Lalit Pancham, Lalit Bibhas, Prabhat Bhairaw, Basant Pancham.
13. Sorath- MPNSRnDP
    Desh, Tilak Kamod, Jaijaiwanti.
14. Piloo- PdNS
    Piloo, Barawa, some Dhun-Raags.
15. Nat - SR RG GM
    Nat Bhairav, Nat Malhar, Nat Bihag, Chhayanat, etc.
16. Shree- rPmG
    Shree, Trivendi, Chaiti Gauri, etc.
17. Bageshree – gMDn
    Bageshree, Rageshree, Malgunji, Bahar, Kaunsi Kanada.
18. Kauns – gMgS
    Malkauns, Chandrakauns, Madhukauns, JogKauns, etc.
19. Kedar - mPDPM
    Kedar, Jaldhar Kedar, Maluha Kedar, Chandani Kedar, Nat Kedar.
20. Shankara - GPNP
    Shankara, Malashree, Hamsadhwani.
21. Asavari - MPdP
    Asawari, Jaunpuri, Dev Gandhar, Gandhari, Desi, Lachari Todi.
22. Kanada - nPgMRS
    Darbari, Adana, Nayaki, Shahana, Suha, Sughrai, Abhogi, Devsakh, Hussaini, Kafi Kanada.
23. Malhar - nDNS
    Varieties of Malhar such as Miya, Ramdasi, Megh, Gaud Malhar, etc.
24. Hindol -GmDS
    Hindol, Sohani, Bhinna Shadja.
25. Bhoopali - PGRS
    Bhoopali, Jait, Jait Kalyan.
26. Asa -RMPD
    Asa, Bhavani, Maand, Arabhi.
27. Bihag –GMG RS
    Bihag, Bihagda, Patbihag, sawani Bihag, Nandetc.
28. Kamod - GMRS
    Kamod, Chhayanat, shyam Kalyan, Gaud Sarang.
29. Bhatiyar - PGrS
    Bhatiyar, Bhankaar, etc.
30. Durga — DMRS
    Durga, Gorakh Kalyan, Narayani.

But today from 16 to 20 are in use. Difference of Swar forms to the extent of microtones (shrutiantra) is always a point of discussion in many Ragas. Same Swar are used in different Raga differently like Ati Komal Gandhar and Dhavat in Raga Darbari Kanara, Rishabh in Shree Raga, double Nishad in Malhar, Rishabh in Raga Sankara, double Madhyam in Lalit. These minute differences in use of notes (Shrutiantra) can be easily expressed and explained by Ragang. Some patterns

of notes are very special/unique in Raga and Ragang and are known as the identity of the same like re pa with Meed is alive part of Malhar , pa re is alive part of Kalyan. Likewise vibration in Komal Rishabh and Komal Dhaivat and Madhyam to Komal Rishabh with Gitkarri {Ma (Ma) Rr} in Bhairav Raga.

Pandit Bhatkhande introduced the system of 10 Thaats to classify Raags, he was aware of its inadequacies and so, also considering the Pakad, Chalan of a Raag, he suggested further classification with using method of Raaganga. e.g. as Raag Bhoop uses the phrase 'P RS' , RGa suggesting Kalyaan Ang, Raag Bhoop is classified in Kalyaan Thaat, on the contrary, Raag Deshkaar Though uses phrase P DGa suggesting Bilawal Ang, he has classified it in Bilawal Thaat.The Ragang system should be combined actively in Thaat system.

This Thaat -Ragang concept should be elaborated and extended to overcome the limitation of both the system. Without increasing the Thaat in large numbers, the system can be made more logical and micro pure by including Ragang in it. Ragang should be studied minutely to search the opportunity of better and flawless classification system. Special set of notes or special pattern of Swaras is a key to the Thaat -Ragang classification system. The specific structure and format of Ragang system increases the possibilities of different uses of it. The sets of Ragang Ang are used many times in the Raga of the same Ang during systematic rendering of notes. Relation of different notes with Ragang Ang is predefined. Thus all the notes are arranged in definite order, proportion and pattern. These variable patterns in specific Raga are recognized with the help of Ragang. The set of notes of Ragang Ang and there proportion with other notes can be defined by graph patterns. Direct applications of Swar and Shruti (tones and micro tones) can be seen in Indian music only with the help of Ragang elaboration. Ragang will become more practical and logical with the help of Thaat Ragang concept of classification.

Bibliography

[1]. Tomer. Awadhesh pratap singh. Sangeet Shastra Sarita. sagar: Krishna computer, 2012.

[2]. www.shadajmadhyam.com

[3]. Bhagwat. Ashwani. "Sangeet Ratnakar me pratyach va apratyach Raga Vargikaran." Edited by L.N.Garg. Sangeet Sahastrabdi ank. 2001: 31.

[4]. Chudhari. Subhash Rani. Sangeet ke pramukh sastriya sidhhant. Delhi: Kanishka Publishers, 2008.

[5]. Devangan. Tulsi ram. Bhartiya sangeet shastra. Bhopal: MP Hindi Geanth Acadamy , 2010.

[6]. Org www.iosrjournals.org

[7]. Paranjpe. Sharatchandra. Sangeet Bodh. bhopal: Madhya Pradesh Hindi Granth Academy, 1986.

[8]. www.swarganga.org

Riyaz -The ultimate way to Success

Gaveesh

Glittering past of Indian Classical music reveals incidences of it having magical effects on its listeners irrespective of their age, cast, color or creed. We have lots and lots of examples before us in which Indian classical artists moved the audience into a flow of the music so hypnotizing, that people even forgot where they are. Not only people, but even animals, birds Plants and the surroundings also got Influenced by Indian Classical music. This was not due to some supernatural power that Indian classical music possessed. it was a result of really long and intense disciplined practice under some very talented and learned Musical gurus. As an old saying goes 'Practice makes a man perfect', Indian classical music is solely based on it. Practice, practice and Practice, that's what all eminent artists give stress upon. That's what makes the world go round in the arena of classical music. In this research paper I will put light on those artists who have found their way in the field of classical music despite of various obstacles and oppositions. They have achieved respected positions by their never ending commitment and endless practice(Riyaz) of music. This article tries to emphasize the importance of Riyaz.

Riyaz (Riyaaz) is an Urdu Language term used for music practice for honing of Hindustani Classical Music as well as Instrumental skills.[1] In Carnatic Classical Music it is called Sadhkam or Sadhna.[2] In North India it is done with the help of Tanpura(Drone) in strict discipline under a guru(Master).In south India it is said that music students go to a river in the morning, Stand neck deep in lake or a pond and practice.[3] through practice or Riyaz development of the art of music occurs. Through continuous practice the creativity of the artist increases. By adjusting and balancing the thinking process and Imagination, he starts creating new things. It brings a charm and shine in an artist's performance. Riyaz has a broad meaning in itself. Sincerity, Continuity, Consciousness, Concentration, Creativity, Imagination, Devotion are some important features of Riyaz.It goes without saying that in the music education talent, guidance, practice and Riyaz have equally important contributions. Talent and right guidance alone cannot help to achieve greatness. It is not enough to take the student forward. For that proper practice and Riyaz is of supreme importance. The ability to concentrate can only be achieved by gaining knowledge due to continuous practice. By looking in the past of music, many incidences can be seen of artists who were rejected by their gurus, but moved on to become legends based on sheer practice.

One of the names to be mentioned is that of '***Ghagge Khuda Baksh***'. His

Research Scholar The M.S. University of Baroda Vadodara, Gujarat

voice quality was not considered to be clear and suitable for music. Due to this reason a lot of gurus rejected him to be their disciple. At last he went to **Ustad Nathan khan** and told him about his situation. **Ustad Nathan khan** agreed to teach him only on one condition, that he had to work really hard to improve his voice quality. **Khuda baksh** did a lot of Riyaz under his guidance and eventually proved himself as an eminent artist in classical music[4].

One another example is of ***Ramkrishan Bua Bajhe***. He left home and became a wanderer in his pursuit to learn music. Despite of insult and rejection suffered from the people and Muslim musicians, he never quit his pursuit. He kept on going armed with his Riyaz and regular practice. With time he developed as a well known singer and the same people who used to insult him said "***Are, isne to aawaz bana li hai***"[5] means, look, he has acquired good voice. This was only possible due to his commitment and never ending Riyaz.

Pt. Vinayak Rao Patvardhan writes about Riyaz ,"if your voice and notes are not good, they can be improved by regular riyaz.[6]"

Pt. Jasraj points out, "the artist that is created via Riyaz, cannot be made any other way. No doubt in today's time intellect has increased, but still at leat 9-10 hour Riyaz is a must.[7]"

Gudai Maharaj – "practice (riyaz) is everything.[8]"

Bade ghulam ali khan used to say,"I have worshipped and practice music from age 16 to 22. Music has become an integral part of my life. All my activities have become related to music."[9] the effect of his Riyaz has made him the legend he is today.

Govind Rao Tembe says about ***Alladiya Khan Sahib*** "whenever I went to see the plays, I used to pass khan sahab's home on the way. Around 9 pm khan sahib started the Riyaz and used to practice the harder taans. If there was some kind of problem or even a little fumble in the singing, then he used to practice that particular taan over and over again. He kept on doing Riyaz till late around 2:30am when I used to come back home.[10]"

All the artists that have achieved something today have gone through intense hard work and continuous practice and have put in hours and hours of Riyaz. That is why they have achieved the heights that they have achieved. The modern generation of musicians should learn from that and should understand and realize the importance of Riyaz. ***There is no doubt in the fact that if all the elements of music education i.e. Guru's guidance, disciple's discipline and regular Riyaz come together, then something magical can be created, then and only then the such artists can be born who can become the flag bearers of classical music and take it to new heights.***

References:

[1] Theory & Practice of Tabla. Sadanand Naimpalli. Popular Prakashan 2005

[2] Talas of Virtuosity. The Hindu. 16-jan-2012

[3] Wikipedia

[4] Sangitagyon Ke Sansmaran- Vilayat Hussain Khan. P-77

[5] Pt. Ram Krishan Bua Bajhe. Sangeet Kala Vihaar. May 1947. P-27

[6] Sangeet. July 1955. P-5

[7] Interview by Pt. Jasraj by Ms. Sangeet Avasthi. Banaras

[8] Sangeet. july 1955. P-5

[9] Sangeet. Ustad Ghulam Ali Khan. June 1968. P-33

[10] Majha Sangeet Vyasang. Govind Rao Tembe. P-161

Lineage of Harikesanallur Muthaiah Bhagavatar

Dr. Shanti Mahesh

Introduction

It is so enticing to be mesmerised with the enchanting melodic galaxy and rhythmic intricacy in many performers of Karnatik music. Music is undoubtedly an absolute source for Moksha.

Having learnt from Ramanathapuram Sri. C.S. Sankarasivam from 1985 to 1989, this is my very humble offering to his genius. He was a disciple of Harikesanallur Muthaih Bhagavatar. Belonging to the tenth generation of the Karaikudi Veena Gharana and brought up at Madurai, I was doing my first year under Graduation when my grandmother cum initial music Guru passed away, I started learning from Sri. C. S. Sankarasivam, a music maestro and genius in spontaneous creativity, musical oceanic spring embedded with rhythmic spell. He often used to talk about his remarkable Guru Harikesanallur Muthaiah Bhagavatar. This article aims to peruse at this striking Gharana in Karnatik music.

Sri. Sankarasivam is a disciple of the musician, musicologist genius Harikesanallur Muthaiah Bhagavatar was a great composer of the twentieth century. While I was learning from Sri. Sankarasivam, he has indicated to me that his Guru was ever mesmerised with the genius of my great-grand father, Karaikudi. Sambasiva Ayyar. I know from him plus my garndmother Karaikudi. Lakshmi Ammal and aunt Karaikudi. Rajeswari Padmanabhan that Muthaih Bhagavatar and Veena. Sambasiva Ayyar met very frequently.

Karaikudi. Sambasiva Ayyar has made Chittai svara-s for a few compositions viz.

Composition Composer	Raga	Tala
Amba Nilayatakshi Muthu Svami Dikshitar	Nilambari	Adi
Ramachandram bhavayami Muthu Svami Dikshitar	Vasanta	Rupakam
Sobillu Saptasvara St. Tyagaraja	Jaganmohini	Rupakam
Yochana Kamala lochana St. Tyagaraja	Darbar	Adi
Kanokontini Sri Ramini St. Tyagaraja	Bilahari	Adi
Paripurnakama St. Tyagaraja	Purvikalyani	Rupakam
Namoralakinchi Veenai Kuppu Avvar	Dhanyasi	Rupakam
Sri Madhuraapuravaasini Sri Minalochani Chinni Krishna Dasa	Sahana	Rupakam
Azhaittu vaa podi(Padam) Ghanam Krishna Ayyar	Kalyani	Rupakam

Department of Music, Queen Mary's, College, Chennai

It seems Muthaiah Bhagavatar was enchanted with Karaikudi Sambasiva Ayyar's Chittai Svara for the Padam "Azhaittu vaa podi" just brimming with the total charm, galore of Panchama and Shadja varja prayogas of the raga Kalyani and made similar approach to his Chittai svara for his composition "Muruganukkoru cheedan avan mukkanna venkaadan". I know from him plus my garndmother Karaikudi. Lakshmi Ammal and aunt Karaikudi. Rajeswari Padmanabhan that Muthaih Bhagavatar and Veena. Sambasiva Ayyar met very frequently.

Harikesanallur Muthaiah Bhagavatar(15 November 1877 – 30 June 1945) commonly known as Muthiah Bhagavatar, is one of Carnatic classical music's famous twentieth-century composers. He also created about 20 ragas.

Muthiah was born in Harikesanallur, a small village in the Tirunelveli district of Tamil Nadu in India, into an affluent family. He was exposed to music from a very early age, as his father was a patron of musicians. He lost his father at the young age of six years, and his maternal uncle M. Lakshmana Suri took over the responsibility for his education, initiating Muthiah into Sanskrit and Vedic studies. However, the love of music that had been implanted in him led Muthiah to leave his hometown of Harikesanallur, Tamil Nadu when he was only ten years in search of a teacher. He found the gifted teacher Padinaindumandapa Sambasiva Iyer at Tiruvarur, who recognised Muthiah's talent for music. Sambasiva Iyer was the father of T.S Sabesa Iyer, a contemporary who also went on to win the prestigious Sangeetha Kalanidhi award from the Madras Music Academy. During the nine years he spent with Sambasiva Iyer, Muthiah cultivated this talent and made his name as a Harikata Vidhwan. His rich voice and excellent tanam singing made him one of the era's most highly coveted concert artists. He had to his credit almost 400 musical compositions, the largest among the post-Trinity composers, that included many different types of Varnams as well as Kritis and Thillanas. The songs were on a number of the Hindu pantheon, his patrons. He composed them in four languages – Telugu, Tamil, Sanskrit and Kannada.

Some of the ragams that owe their existence today to this great composer include Vijaysaraswathi, Karnaranjani, Budhamanohari, Niroshta and Hamsanandhi. They are melodious ragas that make one wonder how it was not attempted prior to Muthiah Baghavatar's times. He also popularised Shanmukhapriya and Mohanakalyani. When someone asked if he could compose something that would appeal to Westerners, he composed the English notes (later popularised by Madurai Mani Iyer). He was adept at playing both the Chitraveena and Mridangam.

In addition to musical talents, his theoretical knowledge was also vast. He

wrote a treatise on musical theory, Sangita Kalpa Drumam," and regularly gave lectures on musicology at the Music Academy. He was the first musician to be awarded a doctorate in India when the Kerala University awarded him the D. Litt. for his Tamil treatise in 1943. He was also the first principal of the Swati Tirunal Academy of music started in Trivandrum in 1939. Muthiah Bhagavatar has also authored a Sanskrit poetic work called Tyagaraja Vijaya Kavya. T. N. Seshagopalan, who was taught by Ramanathapuram Sankara Sivam, a disciple of Muthiah Bhagavathar, said "He was also the first to introduce the practice of nagaswara vidwans playing during the puja time at the Thiruvananthapuram temple."

He lived like a king, but was as magnanimous as he was rich. The Harikesanjali Trust (promoted by his descendants) has been established to propagate his compositions.

He was adept at playing both the Chitraveena and Mridangam.

Muthiahbhagavathar. In addition to musical talents, his theoretical knowledge was also vast. He wrote a treatise on musical theory, Sangita Kalpa Drumam, and regularly gave lectures on musicology at the Music Academy. He was the first musician to be awarded a doctorate in India when the Kerala University awarded him the D. Litt. for his Tamil treatise in 1943. He was also the first principal of the Swati Tirunal Academy of music started in Trivandrum in 1939. Muthiah Bhagavatar has also authored a Sanskrit poetic work called Tyagaraja Vijaya Kavya.

T. N. Seshagopalan, who was taught by Ramanathapuram Sankara Sivam, a disciple of Muthiah Bhagavathar, said "He was also the first to introduce the practice of nagaswara vidwans playing during the puja time at the Thiruvananthapuram temple."

He lived like a king, but was as magnanimous as he was rich. The Harikesanjali Trust (promoted by his descendants) has been established to propagate his compositions.

RAMANATHAPURAM C S SANKARA SIVAM

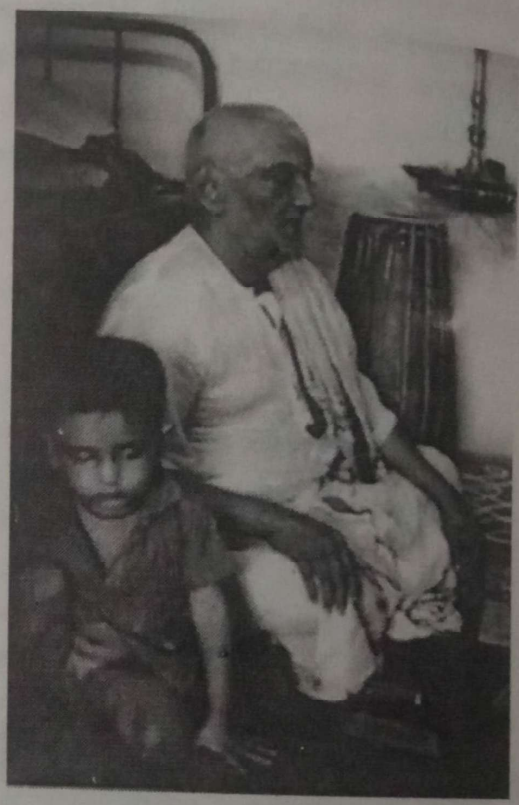

Ramanathapuram Sri C.S. Sankarasivam (1905-1993) was a musician in the court at Ramanathapuram. Later he was the Principal of Sri Sathguru Sangeetha Vidyalaya, the music college affiliated with Madurai University. He was a rare person, equal in his mastery of the melodic and rhythmic aspects of Karnatak music. Sri Sankarasivam was known as a great teacher in both realms. Among his many students were the eminent vocalists Ramnad V. Krishnan and T.N. Seshagopalan, and influential

percussionists C.S. Murugabhoopathi, his younger brother, and Kanjira genius G. Harishankar.

Sankara Sivam, the son of Ramanathapuram Chitsabhai Servai and Pappammal was in the direct lineage of Tyagaraja through Manambuchavadi Venkatasubbayyar, T S Sabhesa Iyer, Sivasamban and Harikesanallur Muthaiah Bhagavatar, under whom he had his musical training for over a decade. A highly respected artiste, he was versatile in vocal, violin, vina and jalatarangam. He was also acclaimed as a top notch teacher, having trained the likes of his brother C S Murugabhoopati, Ramnad Krishnan, Easwaran, Raghavan and T N Seshagopalan. He served as the Principal of Sri Sadguru Samajam, Madurai for several years and was also part of the Music Academy's Experts Committee.

T. N. Seshagopalan

"Music should show the God" - TN Seshagopalan

A child prodigy, a Mother's disciple and an untaught student of many a guru. That is Madurai T.N.Seshagopalan for you. A stickler to tradition, life revolves around music for him. The senior vocalist opens up his mind in an exclusive interview with Sudha Jagannathan. Here are the excerpts of what Sri. T. N. Seshagopalan expressed.

"In my view, a child begins to understand and demand a thing at the age of 2 to two-and half years. A child starts demanding this or that from that age. That is the age it starts understanding something other than basic feelings. I had the perplexity of music from that age itself.

I used to sing well from the age of three. My mother Tiruvenkadavalli began to teach me Raghuveera Gadyam, Tiruppavai, Tiruvenpavai and Tirupalliyezuchi from that age itself. My mother used to say that I sang Nalangu in marriages in the manner of a child's prattle."

A disciple of Ramanathapuram C. S. Sankarasivam, Kalaimamani T. N. Seshagopalan began his musical career at the age of seven. He has travelled extensively, presenting vocal and veena concerts and has been the recipient of many titles and awards

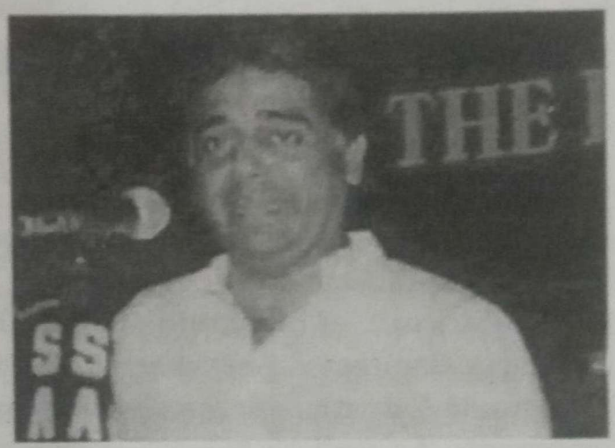

Awards

Harikatha Chudamani awarded by the Krishna Gana Sabha in the presence of Sri Jayendra Saraswathi of Kanchi Kamakoti Peetam Sep 2014

Gayaka Sikhamani awarded by Chodiah Memorial Trust Mysore in January 2007

Sangeetha Kalanidhi 2006 awarded by Madras Music Academy Padma Bhushan - 2004

"SangeetaSaagara" by CMANA,NJ, USA 2007

Sulakshana Gana Vichkshana - by H. H. Srimad Andavan Swamigal Srirangam - 1993

Sangeetha Kalasikhamani, by The Indian Fine arts Society, Chennai - 2000

Kumaragandharva Rashtriya Sanmaan - Kumaragandhrva Foundation - Mumbai - 2002

Nadhabrahmam - Indian Fine Arts - Texas - USA - 2002

Musician of the Year 1999-2000 by Sangeet Natak Akademi

President Award 2000 - by Sangeet Natak Academy, Central Government

Tiruppugazh Mani in 1964

Gana Bhoopathi by the Tamil Sangam of Olavakod in 1967

Sangeetha Kala Sagaram by Sri Jayendra Saraswathi of Kanchi Kamakoti Peetam

Kalaimamani by Tamil Nadu Government in 1984

Isai Selvam by Chief Minister of Tamil Nadu, Mr. Karunanidhi.

Isai Kalai Vendan by Australian Foundation of Canberra – 1998

Madurai Thirumalai Nambi Seshagopalan (born, September 5, 1948) is a noted Carnatic singer, musician and composer. As well as being a master of the veena and harmonium, he is an exponent of Harikatha. He was conferred the prestigious Sangita Kalanidhi title by Music Academy in 2006.

CONCLUSION

There are disciples of Sri. Sankarasivam, Sri. T.N. Seshagopalan rendering as well as teaching melody embedded with the lineage of Harikesanallur Muthaiah Bhagavatar. As I ever feel, manodharma in it brims with ragatva and spontaneous creativity adorned with in-built rhythmic intricacy. My uncle, Karaikudi. Sri. Krishnamoorthy, disciple of Sri. Sankarasivam's brother Sri. Murugabhoopathi, a renowned Mrdangist has indicated to me what a total musician, musicologist, rhythmic genius Sri. Sankarasivam was and how he srpead musical intellect, nuances to many musicians- vocalists as well as instrumentalists. I recall my classes when he used to start ever enchanting Raga Alapana, Niraval, Kalpana svaras for many compositions.

Bibliography & Citations

1. Muthiah Bhagavatar - Wikipedia. the free encyclopedia
2. www.carnatica.net/artiste/sankarasivam.htm
3. Sruti Magazine: Hard taskmaster. great teacher Jul 14. 2012
4. C.S. Sankarasivam - David Nelson
5. The Hindu : A mission to mould musicians Nov 17. 2002
6. TN Seshagopalan – Carnatica
7. "Music should show the God" - TN Seshagopalan interviewed by Ms: Sudha Jagannathan

Existence of Inverse Raga Scales of Hindustani Systems of Indian Music

P.K.Mittal

'Raaga' the unique feature of Indian music and its appeal to emotion has captured the minds and hearts of art pilgrims all over the world. However, the fundamental concepts of consonance and dissonance, which are employed to build a raaga, are the same which are universally applicable to all the music systems of the world. The raaga system is the most unique and glorious feature of Indian music. It may not be hyperbolic to say that is makes the very backbone of our musical system as no form of our music, whether classical or light, can have their existence without it.

The raaga system is no doubt the most complicated and scientifically evolved feature of our music. Though, originally the talented artists took their inspirations from the simple folk songs but their creative genius, their constant search for finding something marvel and beautiful and their powerful desire for self expression has given rise to the thousands of artistic patterns and hundreds of scales of music. Simultaneously, the scientists also had kept themselves busy in discovering some law and order i.e. the basic principles governing the structure of raagas and prepared its grammar and tried to bring the art under the flow of scientific order and had given the art of music, a science and discipline of raaga. But, it was not in the artist's nature to remain bound within the rigid discipline of the science. He, therefore, deviated very often from these rigid rules and gave birth to new and original combinations of swaras/notes to create various melodies. Scientists, in their turn found out new scientific basis for such deviations and also kept on making the scientific theories more & more general which had/could have had wider applicability.

With this background in mind, the researcher had attended many live concerts of the legendry performers as mentioned earlier wherein it had been observed that only the selected few raaga scales had been performed by the different artists, whether they were vocalists or instrumentalists. Artists of Carnatic music also were found repeating the selected few raagas in their performances. However, while analyzing these raaga scales in the light of scientific rules, which govern the laws of sound, the researcher had felt & experienced that many popular raagas are very closely related with one another. For example if the sequence of music intervals of swaras used in raaga Bhupali (Sa, Re, Ga, Pa, Dha, Sa) are reversed keeping the tonics 'Sa' as the base , we get swaras of one other very popular raaga i.e. raaga

Ph.D student in FPA, The M.S.University of Baroda, Vadodara.

Malkaus (Sa, komal Ga , Ma, komal Dha, komal Ni, Sa) which itself is one of the established raagas and is as melodic in nature as raaga Bhupali.(the process & logic of reversal of order has been explained in detail later in the document).

It was seen that the resemblance in these two raagas is of similar nature as that of one object & its visual mirror image. We all know that the mirror image of an object has the same ratios of its length & breath as that of the object itself, the change only takes place in its orientation as the left side/ lower side of the object becomes the right side/upper side of the mirror image & vice versa, keeping all other proportions/ratios among various other parts of the picture, the same. Also, that the mirror image keeps the basic visual appeal of the original object. In raagas and melodies too, while reversing the order of swaras/notes, the music intervals of both the original & the mirror image remain the same, and it is only the order of the swaras i.e. their sequence that changes from aarohi/avrohi (ascending/ descending) to avrohi/aarohi (descending/ ascending) , keeping the intervals between them intact and thereby keeping the tonal ratios/proportions between them also intact.

Similar observations had also been made while reversing the sequence of musical intervals of swaras used in raaga Durga (Sa,Re,Ma,Pa, Dha,Sa). In doing so the Swaras of raaga Dhani (Sa, komal Ga, Ma, Pa, komal Ni, Sa), which also is an established Raaga were found. Such observations had also been made in few of the raagas used in Carnatic music, such as raaga Hindolam & Mohana where, the sequence of musical intervals of swaras used in both raagas are the mirror images of one another.

It was seen that such pair of raagas are related with one another in the same way as that of the visual mirror images of any object, as explained above and therefore they could, on the similar analogy, be termed as the audio mirror images of one another. Such raaga pairs though would be having the same musical intervals between their various swaras but will have a totally different audio appeal. This phenomenon will be in the same way as the mirror images of a tree or a bus; though their mirror images have the same proportions of length & breadth as the original object but, they have a totally different visual appeal than their originals.

Though the theory, that the two swaras having one particular harmonic relationship will have the same degree of consonance or dissonance, even when the harmonic relationship between them is reversed, has been propounded by the earliest mathematicians of 3rd century B.C, the great Greek mathematician, Pythagoras was the first scholar to suggest the following cyclic musical scale based on the above principle.

F±C±G±B±A±E±B i.e. Ma ± Sa± Pa ± Re ± Dha ± Ga ± Ni

In this scale, the positive ascending order (ascending 5th) is of swaras.

F+ C+ G+ D+ A+ E+ B i.e. Ma + SA+ Pa+ Re+ Dha+ Ga+ Ni

& the negative descending order of fifth (i.e. descending 5th) is

F- C- G- D- A- E- B i.e. Ma- Sa- Pa- Re- Dha- Ga- Ni.

By following the same principle we get the Inverse order of the Raaga which have their unique aesthetic appeal.

This concept has been discussed by many scholars of musicology at many forums which include a seminar of Psychology of Music held at Pune in 1975 and thereafter a seminar on Musicology in 1980 held at IIT Madras.

Abyaasagana in Karnatik Music (An Overview)

Seethalakshmi Ravi

Purandara Dhasa was a composer who lived in the 15th – 16th(1486-1564) century. He was the first person to systematize the learning of Carnatic music. He composed Sarali Varisaigal, Janta Varisaigal, Dhatu Varisaigal,etc. So he is known as "Adhi Guru" and "Sangeetha Pithamaha".

Rendering of Dhatu Varisai in first speed, second speed and third speed is given with example for students learning Karnatak Music.

The talas as shown by short examples:

1. A Beat (B)
2. Count by Little Finger (L)
3. Count by Ring Finger (R)
4. Count by Middle Finger (M)
5. A Beat (B)
6. Waving of Hand (W)
7. A Beat (B)
8. Waving of Hand (W)

Completion of an Avarthanan (One full round of Tala) is denoted by symbol "II". While Practising, it is better to understand the swarasthanas first and sing with Thalam. These lessons have to be sung in 3 Kalas

1. Prathama Kala (First Kala) – First degree of speed. One Swara is sung for an Akshara
2. Dwitiya Kala (Second Kala) - Second degree of speed, twice faster than Prathama kala. Two notes are sung in one Akshara Kala.
3. Tritiya Kala (Third kala) – Third degree of speed, twice faster than Dwitiya Kala. Four Swaras are sung for an Akshara.

In Dhatu Varisai, the swaras do not occur in regular order. The practice of Dhatu Varisai helps us to sing swaras in irregular order fluently. Example, SM, RP, GD, MN, etc.

Shadja in upper octave is denoted by S.

	1	**B**	**L**	**R**	**M**
B		**W**	**B**	**W**	
		S	R	S	G l
R		G l	R	M ll	
		S	M	G	R l
S		R l	G	M ll	
		R	G	R	M l
G		M l	G	P ll	
		R	P	M	G l
R		G l	M	P ll	
		G	M	G	P l
M		P l	M	D ll	
		G	D	P	M l
G		M l	P	D ll	
		M	P	M	D l
P		D l	P	N ll	
		M	N	D	P l

Research Scholar, Music Department Queen Mary's College, Chennai

M	P I	D	N II	
	P	D	P	N I
D	N I	D	S II	
	P	S	N	D I
P	D I	N	S II	
	S	N	S	D I
N	D I	N	P II	
	S	P	D	N I
S	N I	D	P II	
	N	D	N	P I
D	P I	D	M II	
	N	M	P	D I
N	D I	P	M II	
	D	P	D	M I
P	M I	P	G II	
	D	G	M	P I
D	P I	M	G II	
	P	M	P	G I
M	G I	M	R II	
	P	R	G	M I
P	M I	G	R II	
	M	G	M	R I
G	R I	G	S II	
	M	S	R	G I
M	G I	R	S II	

II Kala

	B	**L**	**R**	**M**
B	**W**	**B**	**W**	
	SR	SG	RG	RM I
SM	GR I	SR	GM II	
	RG	RM	GM	GP I
RP	MG I	RG	MP II	
	GM	GP	MP	GD I
GD	PM I	GM	PD II	
	MP	MD	PD	PN I
MN	DP I	MP	DN II	
	PD	PN	DN	DS I
PS	ND I	PD	NS II	
	SN	SD	ND	NP I
SP	DN I	SN	DP II	
	ND	NP	DP	DM I
NM	PD I	ND	PM II	
	DP	DM	PM	PG I
DG	MP I	DP	MG II	
	PM	PG	MG	MR I
PR	GM I	PM	GR II	
	MG	MR	GR	GS I
MS	RG I	MG	RS II	

III Kala

	B	**L**	**R**	**M**	**B**
W		**B**	**W**		
		SRSG	RGRM	SMGR	SRGM
I		RGRM	GMGP I	RPMG	RGMP
II					
		GMGP	MPMD	GDPM	GMPD
I		MPMD	PDPN I	MNDP	MPDN
II					
		PDPN	DNDS	PSND	PDNS
I		SNSD	NDNP I	SPDN	SNDP
II					
		NDNP	DPDM	NMPD	NDPM
I		DPDM	PMPG I	DGMP	DPMG
II					
		PMPG	MGMR	PRGM	PMGR
I		MGMR	GRGS I	MSRG	MGRS
II					

2.

	B	**L**	**R**	**M**
B	**W**	**B**	**W**	
	S	M	G	M I
R	G I	S	R II	
	S	G	R	G I
S	R I	G	M II	
	R	P	M	P I
G	M I	R	G II	
	R	M	G	M I
R	G I	M	P II	
	G	D	P	D I
M	P I	G	M II	
	G	P	M	P I
G	M I	P	D II	
	M	N	D	N I
P	D I	M	P II	
	M	D	P	D I

M	P I	D	N II	
	P	S	N	S I
D	N I	P	D II	
	P	N	D	N I
P	D I	N	S II	
	S	P	D	P I
N	D I	S	N II	
	S	D	N	D I
S	N I	D	P II	
	N	M	P	M I
D	P I	N	D II	
	N	P	D	P I
N	D I	P	M II	
	D	G	M	G I
P	M I	D	P II	
	D	M	P	M I
D	P I	M	G II	
	P	R	G	R I
M	G I	P	M II	
	P	G	M	G I
P	M I	G	R II	
	M	S	R	S I
G	R I	M	G II	
	M	R	G	R I
M	G I	R	S I	

III Kala

	B	L	R	M
B	W	B	W	
	SM	GM	RG	SR I
SG	RG I	SR	GM II	
	RP	MP	GM	RG I
RM	GM I	RG	MP II	
	GD	PD	MP	GM I

GP	MP I	GM	PD II	
	MN	DN	PD	MP I
MD	PD I	MP	DN II	
	PS	NS	DN	PD I
PN	DN I	PD	NS II	
	SP	DP	ND	SN I
SD	ND I	SN	DP II	
	NM	PM	DP	ND I
NP	DP I	ND	PM II	
	DG	MG	PM	DP I
DM	PM I	DP	MG II	
	PR	GR	MG	PM I
PG	MG I	PM	GR II	
	MS	RS	GR	MG I
MR	GR I	MG	RS II	

III Kala

	B	L	R	M
B	W	B	W	
	SMGM	RGSR	SGRG	SRGM
I	RPMP	GMRG I		
RMGM	RGMP II			
	GDPD	MPGM	GPMP	GMPD
I	MNDN	PDMP I	MDPD	MPDN
II				
	PSNS	DNPD	PNDN	PDNS
I	SPDP	NDSN I	SDND	SNDP
II				
	NMPM	DPND	NPDP	NDPM
I	DGMG	PMDP I	DMPM	DPMG
II				
	PRGR	MGPM	PGMG	PMGR
I	MSRS	GRMG I		MRGR
MGRS II				

स्वराभ्यास - महत्त्व एवं चुनौतियां

संजय कुमार

दुनिया की प्राचीनतम् विधाओं में भारतीय संगीत की विशालतम समृद्ध व गौरवशाली परंपरा आज भी नित नवीन शोधों व प्रयोगों से निरंतर समृद्धि की ओर बढ़ी जा रही है। आधुनिकता की होड़ में संगीत के बहुआयामी उपयोगिताओं को लेकर जितने शोध व प्रयोग हो रहे हैं और जिसके फलस्वरूप भारतीय संगीत की विविध चमत्कारिक शाक्तियाँ पुनः उद्घाटित हो रही है वह संगीत को कला मात्र समझने वाली पीढ़ी के लिए अकल्पनीय है। यह सत्य है कि संगीत का आधारभूत संबंध ''रंजन'' से है। इस रूप में मानसिक थकान, तनाव, अनिद्रा आदि रोगों से मुक्ति दिलाने में मनोरंजन के सक्षम व सर्वथा उपयुक्त साधन के रूप मे संगीत आज भी सर्व स्वीकार्यता की हद तक लोकङ्क्रिय है। संगीत की इन तमाम विशिष्टताओं के प्रत्यक्षीकरण के लिये आदिकाल से ही स्वर-अभ्यास की महती भूमिका सर्व स्वीकार्य है। आज के परिवेश में हर चीज का शॉर्ट-कट या विकल्प ढूँढने में महारत रखने वाली पीढ़ी को स्वर अभ्यास का विकल्प नहीं मिल सका है। आज तेजी से बदलते परिवेश में जब हर आदमी व्यस्त से व्यस्ततम् हैं संगीत में सिद्धि या चिर-स्थायी सफलता पाने के लिये या अपनी प्रस्तुति में प्रभावोत्पादकता उत्पन्न करने के लिये स्वर अभ्यास या अभ्यास की महत्ता आज भी यथावत है।

अभ्यास - एक सतत् निरंतर सुधारात्मक पुनरावृति अभ्यास कहलाती है। साहित्य हो या संगीत, कला हो या विज्ञान, अध्यात्म हो या याग, खेल हो या कुछ और, निर्दिष्ट लक्ष्य कुशलता के साथ प्राप्त करने या कुशलता में अभिवृद्धि के लिये, निरंतर प्रयास एंव लक्ष्य पाने तक निरंतर सुधारात्मक पुनरावृति यानि, अभ्यास आदिकाल से ही अनिवार्य एवं आवश्यक क्रिया के रुप में सर्व स्वीकार्य है। इसे रियाज, प्रैक्टिस, रिहर्ल्सल, आदि नामों से भी जाना जाता है। सफलता या कौशल में स्थायित्व कायम रखने के लिये भी इसकी महती भूमिका सर्वविदित है।

निर्दिष्ट लक्ष्य के लिए पूर्ण तल्लीनता या कहें पूर्ण रुपेण एकाग्रता व गंभीरता के साथ किया गया अभ्यास साधना की श्रेणी में आता हैं। शास्त्रीय संगीत में गायन के क्षेत्र में स्वर अभ्यास, कण्ठ-साधना या स्वर-साधना का माध्यन है। कण्ठ-साधना या स्वर-साधना शास्त्रीय संगीत में गायकी निर्माण की सतत् निरंतर प्रक्रिया का मूल तत्व है। क्योंकि स्वर साधना के माध्यम से गायक गले की तैयारी करता हैं जिससे वह गले में वैशिष्ट्य या कहें कण, खटका, मुर्की, मीड़ आदि के सफलता पूर्वक प्रयोग हेतु विविधता पूर्ण प्रभाव उत्पन्न करता हैं। गले में वांछित माधुर्य, विविधतापूर्ण स्वर सौन्दर्य, राग-रसानुकूल स्वर प्राबल्य एवं प्रभाव उत्पन्न करने की क्षमता हासिल करने केलिये प्रमाणिक रुप से कण्ठ साधना या स्वर साधना ही एकमात्र साधन है। स्वर साधना से मोटी या भारी आवाज को भी संगीतोपयोगी बनाया जा सकता है। इस संदर्भ में वैशाली जिले

शोध छात्र, स्नातकोत्तर संगीत एवं नाट्य विभाग, ल0ना0मि0वि0वि0, दरभंगा।

के एक चिर एकान्त साधक पं० हीरा लाल शर्मा जी का कथन प्रासंगिक है जो कहते थे—पशु के ध्वनि में तो एक अस्पष्ट सांगीतिक माधुर्य है भी, यदि बेजुबान पत्थर भी अपने भावों को बोल कर व्यक्त कर पाते तो वे सुर में गा भी सकते थे। योग्य गुरु के सानिध्य या निर्देशन में स्वर साधना से यह सर्वथा मुमकिन है।

लौकिक तथा अलौकिक संगीत दोनों ही केलिए स्वर साधना नितांत आवश्यक है। यह वास्तव में एक पूर्ण शारीरिक व मानसिक क्रिया है। स्वर साधना करने वाला साधक भी एक सामाजिक प्राणी है। अतः स्वभाविक रुप से स्वर साधना के क्रम में साधक को कई प्रकार की सामाजिक, प्राकृतिक, शारिरिक एवं मानसिक चुनौतियों का सामना करना पडता है। ऐसी ही कुछ मुख्य चुनौतियाँ इस प्रकार हैं :-

(1) मनोदशा :- स्वर साधना में मनोदशा का बेहद महत्वपूर्ण स्थान है। साधक की मनोदशा साधना के अनुकूल होना अनिवार्य है। इस के लिए चित्त की एकाग्रता एवं मानसिक शान्ति आवश्यक है। शोरगुल या अन्य कारण से मानसिक एकाग्रता नहीं आ पाती है जिससे उत्पन्न मानसिक तनाव के कारण साधक की मनोदशा साधना के अनुकूल नहीं रह पाती है। जिससे साधक तन्मयता से साधना नहीं कर पाता। इस प्रकार विपरीत परिस्थिति में भी खुद को मानसिक रुप से शान्त रखना सबसे बड़ी चुनौती है।

(2) स्वास्थ्य :- स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है, मन स्वस्थ हो तो स्वर साधना में भी मन लगता है साथ ही साधना की सफलता भी सुनिश्चित होती है। अस्वस्थ अवस्था में साधक प्रत्यक्ष स्वर साधना नहीं कर सकता है। इसलिए साधक के लिए स्वयं को स्वस्थ रखना भी एक चुनौती है।

(3) मौसम :- साधक को साधना कम में मौसम की दुरुहता का भी सामना करना पडता है। अचानक भींगने, अत्यधिक ठंढ, सर्द-गर्म आदि के कारण स्वर भंग आदि जैसी समस्या उत्पन्न हो जाती है जो स्वर साधना में बाधा पहुचाती है। इसलिए स्वर साधना के क्रम में मौसम भी चुनौती प्रस्तुत करती है।

(4) खान-पान :- अनियंत्रित खान-पान यथा, शीतल पेय या खाद्य पदार्थ, चिकनाई युक्त वसा युक्त पदार्थों का अधिक सेवन गैस, बदहजमी, स्वर भंग जैसे कई विकारों को जन्म देते हैं जिससे स्वर साधना प्रभावित होती है। अतः स्वर साधना में खान-पान भी एक महत्वपूर्ण चुनौती है।

(5) पारिवारिक परिस्थिति :- स्वर-साधना में पारिवारिक माहौल भी एक महत्वपूर्ण कारक है। वास्तव में परिवार के लोग मिल कर साधना के योग्य माहौल का निर्माण करते हैं। इसलिए स्वर-साधना की सफलता में साधक की पारिवारिक परिस्थिति स्वर साधना की चुनौतियों के संदर्भ मे बेहद महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं।

(6) आर्थिक परिस्थिति :- आर्थिक परेशानियों के बीच संगीत सीखना यदि गुरू कृपा या किसी अन्य प्रकार से मुमकिन हो भी जाता है तो भी आर्थिक तंगी में स्वर साधना बेहद कठिन कार्य है। स्वर साधना के लिए साजो-सामान, समुचित खान-पान व पोषण भी एक महत्वपूर्ण कारक है। अन्यथा साधक साधना कर ही नहीं पाएगा। इस परिप्रेक्ष्य में साधक की आर्थिक परिस्थिति भी स्वर साधना के संदर्भ में महत्वपूर्ण चुनौती उपस्थित करती है।

(7) सामाजिक परिवेश :- साधक जिस सामाजिक परिवेश में पलता-बढ़ता है उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव उसके मानसिकता एवं व्यक्तित्व पर भी पड़ता है। इससे साधक की सोच भी प्रभावित होने से अछूता नहीं रह पाता है। नित नयी उलझन एवं परेशानी का सामना करने के कारण साधना स्वाभाविक रूप से प्रभावित होती है। अतः कोलाहलमय परिवेश में या कहें अशान्त सामाजिक परिवेश में पले-बढ़े व्यक्ति के लिए स्वर साधना बेहद कठिन कार्य है।

(8) गुरू या प्रशिक्षक की उपलब्धता :- मशीनीकरण के युग में यह स्वयं सिद्ध है कि संगीत

पूर्णतः गुरूमुखी विद्या है। गुरू के बिना संगीत का वास्तविक रूप मे मामूली ज्ञान भी मूमकिन नहीं है समुचित ज्ञान एवं प्रभावोत्पादक संगीत साधना या स्वर अभ्यास तो सर्वथा अकल्पनीय है। योग्य गुरू के सानिध्य में उनके अनुभवों से तमाम चुनौतियो का सामना सफलतापूर्वक किया जा सकता है। वर्तमान दौर में, तथा कथित गूरूजनों की भीड़ में एक कुशल प्रशिक्षक या एक सर्वथा योग्य गुरू का मिल पाना भी अपने आप में एक बड़ी चुनौती है। आधुनिकीकरण एवं वैश्वीकरण की दौर में जब हर कार्य का समाधान मशीनों में ढूंढा जा रहा है, संगीत सीखने-सिखाने के कार्य केलिए स्वचालित उपकरणों का प्रयोग किया गया किन्तु इसे क्षेत्र में मशीनों की उपयोगिता अब तक तो सिद्ध नहीं हो सकी है।

संगीत साधना के कम मे साधक को ऐसी और भी कई चुनौतियों का सामना करना पड़ता है जिसका समाधान उसे हर हाल में अपने स्तर से, अपने बुद्धि विवेक से हल करना पड़ता है। ईश्वर की कृपा से यदि गुरू मिल जायें तो स्वर साधना का मार्ग सरल हो जाता है। क्योंकि गुरू का सानिध्य, तथा उनका सुझाव साधक को तमाम चुनौतियों से सफलता पूर्वक निबटने में सहायता करती है।

प्रज्ञा चक्षु वैदिक कवि कुलगुरू 'दीर्घतमा'

डॉ0 श्रीमती गुड्डी पाल

विकलांगता की समस्या अति प्राचीन काल में प्रारम्भ हो गई थी। पर साथ ही गर्व की बात यह भी है कि विकलांगता से जूझने के और समाज में अपना उत ष्ट स्थान बनाने के उदाहरण भी अतिप्राचीनकाल में ही प्रारम्भ हो गए थे।

ऐसा ही एक उदाहरण दीर्घतमा नामक ऋषि ने प्रस्तुत किया था, जो वैदिक युग के उत ष्ट कवि थे। उनका जन्म आज से लगभग 6700 वर्ष पूर्व हुआ था। उनके पिता का नाम उचस्थ था, और माता का नाम था ममता। समय के साथ ममता गर्भवती हुई, और पति-पत्नी भावी पुत्र की प्रतीक्षा करने लगे। तभी समय ने पलटा खाया और उचस्थ का निधन हो गया। तत्कालीन मान्यताओं के अनुसार ममता ने सती होने का निर्णय किया, पर परिवारजनों ने उसके गर्भवती होने के कारण सती होने से रोका।

दुःखी ममता अपने दिन काटने लगी। देवर बृहस्पति की बुरी नजर उस पर पड़ी और उसने ममता से संबंध बनाने की चेष्टा की । ममता के न मानने पर वह उग्र हो गया। उसने जबरदस्ती करने का प्रयास किया। कमजोर ममता ने प्रतिरोध किया। गर्भस्थ शिशु ने भी प्रतिरोध किया और इस क्रम में उसकी नेत्र ज्योति चली गई।

जब शिशु का जन्म हुआ तो सभी ने देखा कि देखने में तो वह शिशु बहुत प्यारा और ओजस्वी था, पर उसकी आखों में ज्योति नहीं थी। माता ममता के मुख से अनायास निकल पड़ा। 'तमस से भरे ये जीवन के लंबे-लंबे वर्ष कैसे बिताएगा मेरा लाल।' देखने-सुनने वालों की आंखों में आंसू थे। उस काल में विकलांगता बहुत बड़ा अभिशाप मानी जाती थी और मनुष्य के अन्य गुणों पर भारी पड़ती थी। इस कारण उस ऋषि का नाम दीर्घतमा पड़ गया, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है लंबी अवधि तक अधंकार। समय के साथ दीर्घतमा बड़े हुए और वे गौरव पूर्ण तेजस्वी बालक थे। वे इतने आकर्षण और विद्वता पूर्ण थे कि पास में रहने वाली एक ऋषि कन्या प्रद्वेशी जो आयु में उनसे 8 वर्ष बड़ी थी, उन पर मोहित हो गई और दीर्घतमा के साथ बिना विवाह रहने लगी और उनका सारा ध्यान भी रखती थी।

दीर्घतमा की कुटिया में एक ही कक्ष था, जिसमें एक ओर उनका बिस्तर होता था, और दूसरी ओर अध्ययन का स्थान। वहीं पर प्रद्वेशी उन्हें लिखे ग्रंथ पढ़कर सुनाया करती थीं और उन पर आगे चर्चा भी करती थीं। बालक दीर्घतमा ी शीघ्र ही आत्म निर्भर हो गए थे। अपने दैनिक कर्म स्वय बिना किसी की सहायता के कर लेते थे और स्नान भी कर लेते थे। वे घंटो साधना व चिंतन किया करते थे। वे अनेक देवी-देवताओं की स्तुति कर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया करते थे जिससे कि वह दृष्टि प्राप्त कर लें। वह अश्विनी, विष्णु, अग्नि, इंद्र, सूर्य आदि विभिन्न देवताओं की स्तुति में निरन्तर लग्न रहते थे। दीर्घतमा मेधावी, सुन्दर, गायक, शास्त्रों के ज्ञाता तथा दर्शनवेत्ता थे। उन्हें घंटो समाधि लगाने का अभ्यास था।

प्रधानाचार्या श्रीकृष्ण जाजू कन्या इण्टर कॉलेज, डिबाई, जिला-बुलन्द शहर।

उन दिनों ऋषि पद' प्राप्त करने के लिए कठिन परीक्षा का आयोजन होता था। कोई महान ऋषि विद्वानों की सभा की अध्यक्षता करता था। 'ऋषि पद' के प्रार्थी इसमें स्वर चित मंत्रों का ही पाठ करते थे। सभा में उन पर चर्चा होती थी। यह प्रक्रिया 'ज्ञान-सत्र' कहलाती थी। मात्र दस वर्ष की आयु में ही दीर्घतमा ने ऐसे 'ज्ञान-सत्र' में भाग लिया था। विशेष बात यह थी कि इसी सत्र में उनके सौतेले पिता बृहस्पति ने भी भाग लिया। दोनों ने ही अपनी-अपनी रचनाएं सुनाई जहा बृहस्पति की रचना उपस्थित विद्वानों को बिल्कुल प्रभावित नहीं कर पाई वहीं दीर्घतमा का लोक जिसका सारथा, एकम सदविप्राः बहुधा वदन्ति अर्थात सत्य तो एक ही है जिसे विद्वान लोग अलग-अलग तरीके से बतलाते हैं। उपस्थित विद्वान इस लोक से अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होनें माना कि यह लोक गायत्री मंत्र के बाद सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। जो महर्षि उस 'ज्ञान-सत्र' की अध्यक्षता कर रहे थे वे भी अति प्रसन्न हुए और तत्काल दीर्घतमा को' ऋषि पद' प्रदान करने की घोषणा की गई। इस घटना के कई प्रभाव अनेक रूपों से सामने आए। दीर्घतमा की प्रसिद्धि अनायास बढ़ गई। बृहस्पति का द्वेष बेतहाशा बढ़ गया। दीर्घतमा का आकर्षक व्यक्तित्व विद्वता लोगों का इस प्रकार प्रभावित करने लगे कि राजा मरूत ने अपने पौत्री का विवाह उनसे करने का प्रस्ताव भेज दिया। यह प्रस्ताव बृहस्पति के माध्यम से आया था, और दीर्घतमा ने इसको स्वीकार करने में असमर्थता दिखाई। वे पहले ही प्रद्वेशी से प्रेम करने लगे थे और उन्हें लग रहा था कि एक राजकुमारी के साथ वे कैसे निभा पाएंगे।

पर अंततः उन्हें विवाह करना पड़ा इसके बाद ही पूर्व संबंध कलह का कारण बन गए। अब उन्हें तरह-तरह के द्वेषों का भी सामना करना पड़ा। उन्हें एक बार नदी में फिकवा दिया गया। बहते-बहते वे दूर जा पहुँचे, जहाँ पर एक राजा ने उन्हें किनारे लगाया और आगे देखभाल की।

प्राचीन ग्रंथो में दीर्घतमा का जगह-जगह और अनके प्रकार से उल्लेख है। इससे स्पष्ट होता है कि अति चर्चित रहे होगें। वे अत्यंत भावुक भी थे और उन्हें अपनी नेत्र हीनता पर गहरा दुःख था, जिसका उन्होंने अपने काव्य में जगह-जगह उल्लेख किया। दीर्घतमा वैदिक ऋचा के रचनाकार एंव असाधारण प्रतिभायुक्त कवि थे।

वेदों की रचना में उनका असाधारण योगदान था। वेदों की रचना लगभग 3000 वर्षों में हुई और अनेक ऋषियों ने अनेक प्रकार से उनमें योगदान किया। जिन ऋषियों ने 100 से अधिक ऋचाओं का सृजन किया, उन्हें शतर्ची' कहा जाता है।

दीर्घतमा विश्वामित्र और .नुः श्री के बाद अगले ऋषि थे, जिन्होंने 100 से अधिक ऋचाओं का सृजन किया था। यही कारण है कि उन्हें वैदिक कवि कुल गुरू कहा जाता है। कालान्तर में अनके सूत्रों के दृष्टा दीर्घतमा सौ वर्ष की आयु भोग कर ब्रह्म न लीन हो गए।

सन्दर्भ स्त्रोत :-

1. भारतीय मिथक कोश, लेखक-डॉ उषा पुरी विद्या वाचस्पति।
2. पंजाब केसरी, यूथ केसरी पृ0 -03।
3. इन्टरनेट।

The Impact of Folk Art on Religion

Dr. Sneh Lata Badhwar

Folklore refers to the science of traditions dealing with superstitions, songs and stories, and other practices which are the property of the unlearned and are handed down through the generations of a tribe through the word of mouth. The purpose of the study of folklore such as anthropology and archaeology is to give us in depth knowledge of the past and present cultures of the human society. This is based on the fact that both the civilized as well as the savage communities had customs, beliefs and memories that are relics of an ancient and often unrecorded past. It may be vehemently stated that no superstition is without foundation and that, however, unscientific and otherwise insufficient may be the data on which superstitions are based, the superstitions themselves can be utilized in such a manner so as to cultivate greater tolerance and mutual understanding among various races so as to minimize the conflict between classes and masses.

The details of the folklore are not only found in the existing customs among the uneducated but also in the fairy tales, ballads and much else that has made into the written history and into the sophisticated literature. When history asserts that the site of a certain city was indicated by the movements of a supernaturally endowed animal, or when a literary work such as Hemlet has as a hero a noble youth disinherited by a wicked kinsman who has murdered his father and married his mother, we are dealing with themes that have their roots deep in the lore of the folk. Folk lore is also connected with the history of religion. It was through the folk tales that the man exercised his imagination.

India has a legacy of rich and varied folklore. However, little research has been carried out by the sociologists in the field of culture, complex traditions and social beliefs of the common people thus neglecting the study of folklore which is a reliable index to the background of the people. There has always been an easy mobility of the folklore through pilgrimages, melas and fairs wherein the wandering minstrels, sadhus and fakirs have passed on and shared their knowledge and experience with people of other sects. That is to say that people of the North visiting the temples of South and vice versa carry their folk tales, songs, riddles and proverbs with them and there is an inconspicuous integration. The dharamashalas .i.e. inns and the chattis (places where the pilgrims rest and inter mingle) worked as the clearing house for

Principal, Government College, Ropar

the folk tales, traditional songs and riddles. It would thus be seen that there is some what a common pattern in the folk literature of different regions. The same type of folk tales will be found in Kashmir and in Kerala with slight regional variation. These stories were passed on from generation to generation by word of mouth before they came to be reduced in writing.

What is so fascinating about the folk tales that equally enchant the old, the young and the very young? The same story is often repeated but does not lose its interest. This is due to the satisfaction that our basic curiosity finds in the folk tales. The tales through phantasies, make-beliefs and credulous acceptance helped primitive man to satisfy his curiosity about the mysteries of the world and particularly the many inexplicable phenomena of nature around him. Despite scientific advancements all around us, we still have an element of primitiveness in our minds. It may though sound absurd but a highly educated modern person also finds great delight in the fairy tales like the one about the moon being swallowed causing lunar eclipse. The advancement in science can never banish the folk tales; on the contrary the scientists are intrigued the thinking process of the man based on his culture and surroundings. We are well aware of the scientific causes for the occurrence of earthquakes, however it is very fascinating for the old, young and children to be told that the world rests on the hood of a great snake and when the snake is tired with its weight, it shakes the hood and there is an earthquake.

Folktales are also based on weather and climate and are often related with particular stages of the crops. The rainy season and the hottest month are intimately associated with the ripening of crop or the blossoming of trees or the frequency of dust storms and stories are woven around them. But there is nothing more interesting in the folktales than the explanation given pertaining to the phases of the moon, the stars and the sun. According to Mundas, an aboriginal tribe in Bihar, the Milky Way is the "Gai Hora", i.e., the path of the cows. The Sing Bonga God leads his cows along this path every day. The dusky path on the sky is due to the dust raised by the herd. The dust raised by the cows sends down the rain. Notwithstanding the scientific advancements, a story of this type will be very keenly received by the village folk and even to some extent by the educated class.

The primitive class had their own perception of the surrounding animal and plant kingdom. The animals were grouped into various categories according to their intelligence and other habits. A fox was considered as the epitome of cunningness whereas a cow was considered to be a very gentle creature. The lion and the tiger have a majestic air whereas the horse is a fast moving, elegant and an intelligent animal. The lazily but gracefully moving elephant is very sincere to his attendant but never forgets an individual who has harmed him. Monkeys are supposed to be close to man. The peacock is very happy, colorful and a gay bird whereas a crow is associated with shrewdness. The story about the race of the hare and the tortoise is well known. The tortoise is slow moving but sure footed. The hare, though extremely swift is prone to laze on the road. Likewise a large people tree is naturally associated with the abode of the sylvan god. A jungle with a thick bunch of trees and foliage is always

known to be bare from which the thieves and dacoits operate. A solitary hut in the midst of a forest has to be associated with some unscrupulous and divey elements. The aforesaid ideas have been deeply entrenched in the folk tales to satisfy the basic urge of a primitive and uncivilized mind regarding the functioning of the universe. Then there are the tales of the witches and ogres who are totally illogical but terrifying. The folktales though scientifically illogical give a good idea of the social development, thinking and the prevalent culture of a particular time.

From time immemorial human society in itself has been a huge source of folktales. The usual occurrences in the daily life are well depicted in the folk tales. The issues such as the love of parents for their children, the children's love for adventure activities, falling in love, the fear of the unknown, the malaise of greed, exploitation of the poor and yearning for riches by the common man are some of the usual themes of folktales. A fantasy which takes one to the dreamland of the super rich, the kingdoms, the princes and the princes is well illustrated in the folktales. The usual habit of a mother-in-law to rebuke and ill treat her daughter-in-law, the inability of a woman to keep secrets, the love for scandal and gossip by men are some of the basic issues of daily life and have remained so for generations. These issues make the central theme of the folktales.

Folklore is an integral part of religion, in fact it goes beyond religious or supernatural beliefs and practices, and encompasses the entire body of social tradition whose chief vehicle of transmission is oral. Marriage is a very important religious event with its ceremonies having a very deep link with the folklore. Singing of "Ghoris" during the marriage functions is one such example of the folklore in Punjab. "Ghori" is like a lyric sung during the marriage event without use of any musical instrument. When the bridegroom dressed up elegantly, is sitting on the mare, ready to leave for the bride's house for the marriage, the sisters of the bridegroom holding the reins of the mare, sing this special song called "Ghori" . This ritual has carried on for generations. This folklore has been related by the Sikh Gurus with religion as it finds a place in the Gurubani where it has been stated that this poetry has been written by Guru Ramdas in raga "Vidvans". Guru Ramdas has thus connected this poetry which is a key part of the folklore of Punjab with the name of the God. Therefore when these lyrics are sung at the time of the marriage, one automatically bows his head to the God. Guru Ramdas has written two such poems on the rhymes of these " Ghoris". The Guru thought that this is an easy way by which people can understand and enrich themselves with the name of the Almighty.

According to Baba Nanak, the worship of the God is the most beautiful thing in this world. The Guru says: Hey brother! God has created this horse like body of ours and with this beautiful horse like human body; we have to pray to the God. We have been endeavored with this beautiful human body probably because we have done something good in our previous lives. Thus with this body we can climb the horse and can achieve the ultimate God and obtain salvation from the world. By this we can achieve the virtue of God who has organized this

marriage and the Santjan have come as Barati. Oh God, I have achieved a husband in the form of God and with devotees; I have sung the religious songs in His praise.

Aspects of folklore such as folktales, religious issues linked with folklore and folk literature also find a mention in Guru Granth Sahib, though, with hardly any direct description. The folklore has been reflected at four places, twice in the Bani of Guru Ramdas and once each in the Banis of Sant Kabir and Bhagat Namdevji. One of the Banis describes the tortures inflicted on Bhagat Prahlad such as; his being confined in a room, thrown down from a cliff, his drowning in a sea and when all these actions failed to destroy him, he was made to sit on fire. Bhagat Prahlad was however rescued by the God Himself who came in the guise of Narsimha. The stories related with " rishis" and devotees were considered sacred, because a human mind which retains these stories is considered pious where the God resides permanently.

In addition to the above aspects of folklore, folk songs, Var,Kafi, Sad, Bara Maha, Chat, Allahurian, Lavan , Ruti, Khiti, Bavan Akeri etc, as also Dupade, Thipde, Ashatpadian which are all related to folk literature, find a place in Guru Granth Sahib. There are a total of 145 'chats' in Guru Granth Sahib, of which 20 are in raga Suhi. All these chats are related with the happiness of marriage. 'Allahurian' are related with death. The Lord says that there is no use crying over the dead, instead we should be taking the name of the Almighty and singing His glory. These Allahurian have been written by Baba Sundarji in rag Ramkali. Var is also totally related with folk. In earlier times, these were connected with war and were sung when the soldiers were proceeding for the battle. These vars were full of the deeds of bravery of the Gurus and impressed upon the soldiers to seek victory in the name of the God without caring for their own lives. Guru Granth Sahib contains nine vars such as: Asa Ki Var which has 21 Pauri with each Pauri having 2-2 shalokas and another Var called Gowdhi Ki Var with 33 Pauri. Guru Arjan Dev ji has also written a Var named Bhihagrokh ki Var which contains 21Pauri and 7 Shalokas.

It would be thus seen that folklore is deeply rooted in all aspects of our life. It has given us a way of life which is based on our past culture and passed on from generation to generation. The folklore has had a profound influence on our religion. It may be stated that in the current format of our life, it goes beyond religious and supernatural beliefs and encompasses the entire gamut of social traditions which have been transmitted orally from time immemorial.

References

1. Encyclopedia Britannica Vol-9. P-446
2. Encyclopedia of Indian Culture Vol-iii. P-971
3. Punjab Lok Dhara and Sabhiachar. Balbir Singh Dhmi. P-5
4. Folktakes of Himachal Pradesh. K.S. Seethalakkshmi. P-4
5. Folktales of Uttar Pradesh. K.P. Bahadur. P-5,6,7
6. Sahitya Darpan Pustak Mala-Patiala (1951). P- 136
7. Sri Guru Granth Sahib, Ghori. P- 575, 576
   Sri Guru Granth Sahib. Lava. P-773, 774
   Sri Guru Granth Sahib Asa Ki Var. P-448
   Sri Guru Granth Sahib Gauri Ki Var. P-300